मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस,
खपाटिया चकला-सूरत।

प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
मालिक, दि० जैन पुस्तकालय
गांधीचौक, कापड़ियाभवन-सूरत।

श्री०

स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी और स्मारक ग्रन्थमाला।

स्वनामधन्यस्वर्गीय जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर श्री० ब्र० शीतलप्रसादजीको सारे जैन समाजमें कौन नहीं जानता ? क्योंकि आपके स्वपरोपकारी कार्यसे आपका नाम घर घरमें प्रचलित है व चिरकाल तक भुलाया नहीं जा सकेगा। सब कोई यही कहते हैं कि श्री० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी एक ऐसे कर्मण्य ब्रह्मचारी होगये हैं जिसकी पूर्ति होना असंभव है।

श्री० ब्रह्मचारीजीका जन्म—लखनऊमें सं० १९३५ कार्तिक (सन् १८७८) में हुआ था और स्वर्गवास भी लखनऊमें ही सं० १९९८ (ता० ३० फर्वरी सन् १९४२) को हुआ था। माताका नाम था नारायणदेवी व पिताका नाम था ला० मक्खनलालजी। गृहस्थावस्थाका नाम लाला शीतलप्रसादजी था और दीक्षावस्थाका नाम भी ब्र० शीतलप्रसादजी था। आपने ३२ सालकी आयुमें एक ही माहमें अपने ही कुटुम्बमें तीन आदमियोंके स्वर्गवाससे संसारकी असारता जानकर फिर विवाह नहीं किया और बम्बई जाकर स्व० दानवीर जैन कुलभूषण सेठ माणिकचंद हीराचंदजी जे. पी. की सेवामें रहने लगे व समाजसेवा करने लगे। और ३२ वर्षकी आयुमें सोलापुर जाकर श्री १०५ ऐलक पन्नालालजीसे ब्रह्मचारी दीक्षा ली थी। आपने सन् १९०२ से ४ तक जैन गजट (हिन्दी)

चलाया था और सन् १९०९से १९२९ तक 'जैनमित्र' .... बहुत सफलतापूर्वक किया था, फिर अपने दूसरे विचारोंके कारण 'जैनमित्र' की सम्पादकी छोड़कर सनातन जैन समाज स्थापित किया और सनातन जैन' पत्र निकाला (जिससे हम सहमत नहीं थे न हैं) तौ भी मरते दम तक आपने 'जैनमित्र' की धार्मिक सेवा करना नहीं छोड़ाथा। आपके धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक लेख तो 'जैनमित्र' के प्रत्येक अंकमें चालू ही रहते थे।

आपने अपने जीवनमें लेखनीको कभी विश्राम नहीं दिया। रात्रिको दो दो बजेसे उठकर लेख व पुस्तकका मेटर लिखा करते थे व रेलकी सफरमें भी अपनी कलमको विश्राम नहीं देते थे। इससे ही डॉक्टरोंका कहना था कि अधिक लिखते रहनेसे ही हाथको कंप वायु होगया है, तौ भी आपने इसकी परवाह नहीं की थी व मरते दम तक साहित्यसेवा की थी।

आप वर्ष भरमें ४ माह तो एक स्थानपर (चातुर्मासार्थ) ठहरते थे और शेष ८ माहमें ८ दिन भी एक स्थानपर नहीं ठहरते थे अर्थात् समाजसेवा व जैनधर्म-प्रचारार्थ रात दिन भ्रमण ही किया करते थे। धर्म प्रचारार्थ ऐसा भ्रमण करनेवाला त्यागी हमें तो आज तक भी नहीं दिखाई देता।

आपको आध्यात्मिक विषयकी अतीव लगन थी और आप कहते थे कि आध्यात्मिक उन्नति ही परम सुखका कारण है। इससे आपने जो करीब १०० छोटे बड़े ग्रन्थोंकी रचना या अनुवाद करके छपवाये थे या मुफ्त बंटवाये थे वे प्रायः आध्यात्मिक विषयके हैं।

ब्रह्मचारीजी संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी, उर्दू, अंग्रेजी भाषाओंके जानकार थे व इन प्रत्येक भाषामें उपदेश व व्याख्यान दे सकते थे। अजैनोंमें जैन धर्मके प्रचारार्थ जो कार्य आप कर गये हैं वह चिरकाल तक भुलाया नहीं जा सकेगा।

विद्यादान व शास्त्रदान करनेका उपदेश आप सतत् ऐसा दिया करते थे कि आपके उपदेशसे हजारों व लाखोंका विद्यादान होता था तथा प्रत्येक वर्ष 'जैनमित्र' द्वारा शास्त्रदानके लिये आप ५००) से १०००) तक एक २ दानीसे दिलवा सके थे। इसीसे तो प्रत्येक वर्ष 'जैनमित्र' के ग्राहकोंको उपहार ग्रन्थ दिया जाता था जो आपके स्मारक फण्डसे अब भी चालू रखना है।

ब्रह्मचारीजीका विस्तृत जीवनचरित्र ग्रन्थ तो श्री० पं० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट संपादन करके मूल्यसे प्रकट करनेवाले है अतः इस ग्रन्थमें स्थानाभावसे आपका विस्तृत परिचय हम नहीं देसके हैं।

ब्र० सीतल स्मारक फंड और स्मारक ग्रंथमाला—श्री० पूज्य ब्रह्मचारीजीका स्वर्गवास होनेके १॥ माह पहले ही हमने लखनऊमें ब्रह्मचारीजीकी सम्मतिसे यह निश्चित किया था कि आपके स्मारकमें एक सीतल स्मारक फंड १००००) का खोला जायगा ताकि उसकी आयसे प्रतिवर्ष "जैनमित्र" के ग्राहकोंको एक२ ग्रंथ उपहार देसकें और सीतल स्मारक ग्रंथमाला हमेशाके लिये चालू होजावे। अतः आपका स्वर्गवास होते ही हमने यह फंड जैनमित्र द्वारा चालू किया था, जिसमें सतत् अपील करते रहनेपर भी १००००) पूरे नहीं हुए तौभी ६०००) से कुछ अधिक भरे गये हैं, उतनेसे ही अभी

संतोष करके " सीतल स्मारक ग्रन्थमाला " का कार्य चालू कर रहे हैं, लेकिन इतने फंडसे यह कार्य पूर्णरूपेण चलना असंभव है। अतः शेष रुपये येनकेन प्रकारेण पूर्ण करने ही पड़ेंगे।

लखनऊमें सीतल जैन छात्रालय ब्रह्मचारीके स्मारकमें परिषदकी ओरसे खोलनेको तथा देहलीमें 'सीतल जैन भवन' खोलनेको अलग स्मारक फंड खुले थे वे अभी तो नाम मात्रके हैं। क्योंकि उसका प्रचार कार्य इतना मंद है कि उनके पूर्ण होनेकी सम्भावना बहुत कम है। ये दोनों फण्ड खोलनेकी घोषणाओंसे तो जैनमित्रके ब्र०सीतल स्मारक फण्डके १००००) पूरे नहीं हो सके हैं अन्यथा दस क्या बीस हजार रुपये पूरे होनेमें देर नहीं लगती। हम कहां तक कह 'जैनमित्र' की अपीलसे ब्रह्मचारीजीकी सेवाके लिये जो रु० इकट्ठे हुए थे उनमेंसे बचे हुए करीब १२००) भी लखनऊसे इस फण्डको नहीं मिले हैं, तौ भी इस स्मारक ग्रन्थमालाका कार्य चालू कर ही दिया है। हां, कागजका पारावार दुष्काल व मंहगीसे इस प्रथम ग्रन्थराजमें सूद उपरांत मूल रकममेंसे भी खर्च करना पड़ा है जो अनिवार्य था।

सीतल स्मारक ग्रंथमालाका प्रथम पुष्प—श्री ब्र० सीतलप्रसादजीका बृहत् सचित्र जीवनचरित्र ही प्रकट करनेका हमारा विचार था और उसके लिये हम प्रयत्नशील थे व इसके लिये बहुत मसाला हम पं० अजितप्रसादजी सा० को लखनऊ भेज चुके थे, उसके बाद श्री पं० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट लखनऊ जिन्होंने मरते दमतक ब्रह्मचारीजीको अपने घरमें रखकर आपकी सेवा करनेमें कोई कसर नहीं

रखी थी उनका विचार हुआ कि हम ब्रह्मचारीजीका जीवनचरित्र बहुत सुन्दर व बहुत बड़ा निकालेंगे और उसका प्रचार अल्प मूल्यसे करना ठीक होगा तथा आपने 'जैनमित्र' द्वारा उस विषयकी प्रसादी भी प्रकट करना चालू कर दिया है। अतः हमने इस स्मारक ग्रन्थमालाका प्रथम ग्रंथ स्व० ब्रह्मचारीजी द्वारा ५ वर्ष तक सतत् लिखित 'स्वतंत्रता' नामक लेखोंको "स्वतंत्रताका सोपान" नामक ग्रंथके रूपमें प्रकट करना ही उचित समझा है।

ब्र० सीतल स्मारक फंड सूरतमें जो रुपये आये हैं उसकी सूची इस प्रथम ग्रंथमें देना भी हमने उचित समझा है जो इस प्रकार है—

ब्र० शीतलस्मारक फंड–सूरतकी खास रकमें।

५५१) सेठ जोखीराम बैजनाथजी सरावगी — कलकत्ता
६०१) मूलचन्द किसनदास कापड़िया — सूरत
३२५) ब्र० शीतलप्रसादजीसे कुछ रुपये सेठ माणिकचन्द पानाचन्द कम्पनीमें जमा थे उसका शेष — बम्बई
२५०) स्व० जे० एल० जेनी ट्रस्टफण्ड मा० मित्तल साहब — इन्दौर
२०७॥≈) ब्र० शीतलप्रसादजीने १०००) श्राविकाश्रमको अर्पण अर्पण किये हैं उसके सूदके ह० ललिताबाईजी — बम्बई
२००) श्री० बाबू छोटेलालजी जैन — कलकत्ता
१५१) श्री० सेठ लालचन्दजी सेठी — उज्जैन
१५१) श्री० श्रीमंत रा० ब० सेठ हीरालालजी सा० — इन्दौर
१५१) श्री० सेठ वालचन्द हीराचन्द दोशी सी. आई. ई. — बम्बई
१०१) श्रीमती विमलाबाई जीवनलाल किसनदास कापड़िया — सूरत
१०१) श्री० जयन्तीलाल छगनलाल गजीवाला — सूरत

१०१) श्री० पं० जैन महिलारत्न ललिताबाईजी श्राविकाश्रम बम्बई
१०१) सौ० कुसुमावती मोतीचन्द शाह बी. ए. ,,
१०१) श्रीमतीबाई कोकिल, श्राविकाश्रम ,,
१०१) नटवरलाल मुरतलाल शाह हा० मुरतलाल जीवलाल कोसम्बा
१०१) सेठ शोभाराम गम्भीरमल टोंग्या
हा० सेठ गुलाबचन्दजी टोंग्या इन्दौर
१०१) श्री सेठ फतेचन्दजी सेठी फर्म सेठ परसराम दुलीचन्दजी ,,
१०१) सेठ हीराचन्द गुमानजी हा० माणिकचन्द पानाचन्द कम्पनी बम्बई
१०१) सेठ रतनचन्द हीराचन्द दोशी एम० ए० ,,
१०१) सेठ गेंदालाल बडजात्या चेरीटेबल ट्रस्टकी ओरसे
हा. सेठ सूरजमलजी बडजात्या इन्दौर
१०१) श्री० श्रीमत रा० रा० सर सेठ हुकमचन्दजी साहब इन्दौर
१०१) स्व० बाबूभाई मूलचन्द कापडियाके स्मरणार्थ सूरत
१०१) श्री सेठ मन्नूलालजी साहब आगासौद
६३॥) दिगम्बर जैन पंचान धरणगांव
५१) सेठ ईश्वरलाल किसनदास कापडिया सूरत
७४॥-) ब्र० सीतलप्रसादजीके खातेके सूदके
हा. सेठ माणिकचन्द पानाचन्द कम्पनी बम्बई
५१) सेठ तलकचन्द सखाराम जौंहरी ,,
५१) ,, जयन्तीलाल लल्लुभाई परीख ,,
५१) ,, मोतीचन्द साकेरचन्द तासवाला सूरत
५१) ,, नाथूराम मुन्नालाल वैशाखिया सागर
५१) ,, सेठ भगवानदास शोभाराम बीडीवाले समैया सागर
४२॥) समस्त दि० जैन समाज जगदलपुर
३५) श्री० धोलीबाई कीकाभाई वखतचंद घीवाला सूरत
२५) सौ० लीलावती ठाकोरदास भगवानदास जौहरी बम्बई
२५) रामचरनलाल जैन इसलामनगर
२५) बेरिस्टर चम्पतरायजी सा० जैन करांची

४३।) श्राविकाश्रम बम्बईकी श्राविकाओंसे बम्बई
२१) दिगम्बर जैन पंचान दाहोद
२५) सेठ भाइचन्द रूपचन्द दोशी बम्बई
२५) „ चंदुलाल कस्तूरचन्द „
२५) „ अमरचंद चुनीलाल जरीवाला „
२५) „ हीरालाल जेचंद जौंहरी „
२५) „ भगवानदास के० ब्रदर्स „
२५) „ ठाकोरदास भगवानदास जौंहरी „
२५) „ नवनीतलाल रतनचंद झवेरी बम्बई
२५) „ केवलदास कीलाभाईनी कंपनी „
२५) „ कुंथुदास जैन सुनेरीलाल गुलाबराय बाराबंकी
२५) सेठ त्रिभुवनदास ब्रीजलाल „
२५) श्री० चन्दनबाई तलकचन्द जेलाभाई तासवाला „
२५) सेठ नेमचंद वालचंद वकील उसमानाबाद
२५) „ माणेकलाल मथुराप्रसाद बजाज सागर
२५) „ गुरुप्रसाद हीरालाल जैन इलाहाबाद
२५) „ फूलचन्दजी गोधा उज्जैन
२०) „ नेमीलाल भगवानलाल जैन बीड
११) ला० रूपचन्द जैन गार्गीय पानीपत
११) सेठ तोतुशा किसनसा चवरे मलकापुर
११) „ साकेरचन्द मगनलाल सरैया सूरत
१८) श्री दि० जैन पंचान बसो
१५) „ केशवलाल त्रिभोवनदास वडौदा
१५) „ त्रिभोवनदास रणछोडदास चौकसी बम्बई
१०) „ सोभागचन्द कालीदास डबका
१०) ला० रघुवीरसिंह जैन देहली
११) श्री० चन्द्र जैन सरधना
१५) „ रतनसिंह जैन स्टेशन मास्टर पानीपत

१५) श्री० नगीनदास नरसीदास कम्पनी — बम्बई
१०) ,, जीवनलाल चम्पालाल जैन — अंजड
११) ,, डाह्याभाई शिवलाल मैनेजर बीसपंथी कोठी — मधुवन
११) ,, गुलाबचन्द लालचन्द पटवा — बम्बई
११) चि० बाबूभाई मूलचन्द किसनदास कापडिया — सूरत
११) ,, दमयन्ती मूलचन्द किसनदास कापडिया — ,,
१०) ब्र० चिदानन्दजी जैन, उदासीनाश्रम — इन्दौर
११) ,, सोहनलाल श्यामलालजी जैन — आगरा
११) ,, हरीचन्द महावीरप्रसाद जैन — इटावा
१०) ,, रतनचन्द जैन पटोरिया — सिहोरा
१०) ,, राजकिशोर जैन — कालका
१०) मधुसूदनलालजी एस० डी० ओ० — देहली
१०) जानकीदास जैन बी० ए० — ,,
१०) सेठ बिसनदासजी जैन मित्रमण्डल — ,,
१०) ज्योतिषरत्न प० जियालाल शिखरचन्दजी जैन वैद्य — फर्रुखनगर
११) सेठ अम्बालाल वीरचन्द शाह — बम्बई
११) ,, हेमचन्द हरखचन्द चौकसी — ,,
१०) ,, राजमल गुलाबचन्द जैन बेंकर्स — भेलसा
११) ,, प्रभुदास हेमचन्द शाह — सूरत
११) ,, रतनलाल जैन कालकावाले — देहली
११) ,, माणिकलाल शिवलाल गांधी — पंढरपुर
११) स्व० मगनबेन, तासवाला छगनलाल घेलाभाईकी विधवाकी ओरसे हा. हीरालाल — सूरत
१०) कोठारी पनालाल दलीचन्द — दाहोद
१०) सूरजभान दीनदयाल जैन — नोशेरा
१०) प्रो० चक्रवर्तिजी एम० ए० — मदरास
१०) श्रीमंबाई स्व० विष्णुपन्तकी स्मृतिमें, श्राविकाश्रम — बम्बई
१०) ब्रा० जानकीदास जैन बी० ए० — नई देहली

१०) दि० जैन पंचान	बडवानी
११) परी० शिवलाल परभुदास	जहेर
१२) बलदेवजी मगनलाल जैन	सारगपुर
१०) सेठ कल्याणमलजी गोधा, पुत्रीके विवाहमें	उज्जैन
११) मास्टर मेवाराम जैन	वडौदा
१०) फेरुमल चतरसेन जैन	सरभना
११) शिखरचन्द मुरलीधर जैन	कचौरा

इनके अतिरिक्त १) तककी रकमें हैं जो स्थानाभावसे प्रकट नहीं कर सके हैं। इस फंडमें करीब ६१००) ही सिर्फ आये है जब कि हमारी अपील कमसे कम १००००) की थी और इतना हुये विना इस ग्रन्थमालाका कार्य पूरा पडना भी असभव है। इसलिये इस फंडमें १००००) किसी न किसी तरह पूरे हो जानेकी आवश्यकता हे। इसके लिये हम भ्रमण करनेवाले थे लेकिन सिर्फ बम्बईके सिवाय हम कहीं नहीं जा सके थे, कारण कि उसके बाद हमारे इकलौते पुत्र चि० बाबूभाईका स्वर्गवास हो जानेसे बाहर निकलना हमारे लिये असम्भव हो गया था। अब आशा है कि दानी श्रीमान इसपर अवश्य लक्ष्य देंगे। श्री ब्रह्मचारीजीके भक्त जिन २ श्रीमानोंने अपनी रकमे इस फंडमें नहीं भेजी है वे अवश्य भेज देवें तो यह कार्य पूर्ण हो सकेगा।

निवेदक—

मूलचंद किसनदास कापडिया, सूरत।

प्रस्तावना ।

स्वर्गीय पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकी, आध्यात्मिक ज्ञान व प्रचारार्थ आध्यात्मिक लेखनी अलग २ रूपसे सतत् चलती रहती थी और इस कारणसे ही आप "जैनमित्र" द्वारा ई० सन् १९०९ से आध्यात्मिक लेख, प्रत्येक अंकमें लिखा करते थे जो मरते दम तक चालू रहा था।

इस प्रकार जैनमित्रमें जो आध्यात्मिक लेख प्रकट होते थे वे पुस्तक रूपमें प्रकट करानेका ब्रह्मचारीजीका विचार था वह भी आपके ही प्रयाससे पूर्ण हुआ था और वे 'मित्र' के उपहारमें भी बंटे थे व अंतिम लेख स्वतंत्रता भी आपके वियोगके बाद भी प्रकट होकर जैनमित्रके ग्राहकोंको भेटमें बंट रहा है।

ऐसी अंतिम पुस्तकमें हम ठीक समझते हैं कि आपकी ऐसी पुस्तकोंका सामान्य परिचय भी दिया जावे जो इसप्रकार है—

(१) अनुभवानंद—यह लेख "जैनमित्र" ता० २१ मई १९०९से प्रारम्भ होकर १० अक्टूबर ११ तक छपा था जो पुस्तकाकार छपकर प्रकट होगया है व अभी भी मिलता है। इसमें 'अगम दुर्ग' से लगाकर 'अनुभव सुख ही सार है' यहां तक यह आध्यात्मिक लेखोंका संग्रह है। पृ० १२८ मू० ॥)

(२) स्वसमरानंद अथवा चेतन-कर्मयुद्ध—इस विषयका

लेख “जैनमित्र” वर्ष १३ अंक १ वीर संवत २४३८ से प्रारम्भ होकर वर्ष १७ अंक २० वीर सं० २४४२ तक चला था जो पुस्तकाकार प्रकट होगया है। इसमें 'क्षयोपशम लब्धि' से लगाकर 'अयोग केवलीसे सिद्ध परमात्मा' तक कुल ३८ विषयोंका संग्रह है। पृ० ८१, सहायता मिलनेसे मूल्य सिर्फ तीन आना।

(३) **निश्चयधर्मका मनन**–इस विषयका लेख 'जैनमित्र' वर्ष १८ ता० ४–११–१६ से प्रारंभ होकर वर्ष २७ अंक ५२ ता० २८–१–३६ तक चला था जो २००) सहायता मिलनेसे पुस्तकाकार प्रगट होचुका है व स्वल्प मूल्यमें मिलता है। इसी ग्रंथमें 'आत्मिक दुर्ग–आत्मिक जहाज'से लगाकर 'आत्मप्रतिष्ठा' तक कुल २५८ आध्यात्मिक विषयोंका महान संग्रह है। पृष्ठ ३९७ व लागतसे भी कम मूल्य सिर्फ १।)

(४) **आध्यात्मिक सोपान**–यह लेख “जैनमित्र” वर्ष ३० अंक ३९ वीर सं० २४५५ तक चला था जिसमें 'देशना-लब्धि'से लगाकर 'चतुर्थ शुक्लध्यान–श्री सिद्ध भगवान' तक कुल ७४ आध्यात्मिक विषयोंका संग्रह है। सहायता मिलनेसे “दिगम्बर जैन” मासिकपत्रके २४ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट बंटा था व १) मूल्यसे मिलता था जो अब अप्राप्य है। पृष्ठ ३२५ (क्या कोई दानी महाशय इसका पुनर्मुद्रण करावेंगे ?)

(५) **सहजानंदका सोपान**–स्व० ब्रह्मचारीजीने 'जैनमित्र' वर्ष ३१ अंक १ वीर सं० २४५६ से २४६२ तक भेदविज्ञान, स्वानुभव और सहजानंद ऐसे तीन विषयोंके लेख लिखे थे

जो सहायता मिलनेसे सहजानंदका सोपान नामसे प्रकट होकर 'जैनमित्र' के ४० वें वर्षके ग्राहकोंको भेटमें बंटा था व अब भी अल्प मूल्यमें मिलता है।

इसमें भेदविज्ञानमें 'अन्न दृष्टान्त' से लेकर 'आत्मभानु आराधना' तक ५० लेखोंका संग्रह है। फिर स्वानुभव नामक विषयमें 'एकांत मिथ्यात्व निषेध' से लेकर 'सच्ची दीपमालिका' तक ४९ लेखोंका संग्रह है और सहजानंद नामक विषयमें 'आत्माका स्वभाव' से लेकर 'गुप्त मोक्षमार्ग' तक ५० आध्यात्मिक लेखोंका अभूतपूर्व संग्रह है। पृ० २७४ व मू० एक रुपया।

(६) स्वतन्त्रताका सोपान—यह तो पाठकोंके सामने ही है। यह लेख ब्रह्मचारीजीने जैनमित्र वर्ष ३८ वीर सं० २४६२ से, वर्ष ४३, वीर सं० २४६८ अङ्क १९ ता० १०-२-४४ तक लिखा था। इसमें स्वतन्त्रतादेवीकी पूजासे लेकर 'कायगुप्ति विचय धर्मध्यान निर्जराभाव' तक कुल २५० आध्यात्मिक लेखोंका अपूर्व संग्रह है जिसको एक आध्यात्मिक ज्ञानभण्डार या स्व० ब्रह्मचारीजीकी अन्तिम प्रसादी ही समझना चाहिये।

"जैनमित्र" की ग्राहक संख्या इतनी बढ़ गई है कि ग्राहकोंको भेंट देनेमें ही इसकी संख्या पूर्ण होजायगी अतः अब नहीं मिल सकेगा। पृ० सं० ४२५ है। कोई दानी श्रीमान सहायता देंगे तो इसकी दूसरी आवृत्ति भविष्यमें निकल सकती है। इसप्रकार जैन समाज व ब्रह्मचारीजीके प्यारे जैनमित्रमें ब्रह्मचारीजी द्वारा लिखित आध्यात्मिक लेखोंके संग्रह-ग्रन्थोंका यह परिचय है।

यह 'स्वतंत्रताका सोपान' ग्रंथराज विनामूल्य ही जैनमित्रके ४४–४५ वें वर्षके ग्राहकोंको घर बैठे पहुंच जायगा। इसके लिये प्रत्येक ग्राहकका कर्तव्य है कि वे इस संग्रहको अब स्वाध्याय रूपसे एकवार तो क्या अनेकवार ध्यानपूर्वक पढ़ें और कुटुम्बके भाई बहिनोंको शास्त्रके रूपमें सुनावें ताकि सबको आध्यात्मिक ज्ञानका गहन विषय समझमें आसकेगा और ब्रह्मचारीजीका व हमारा इसे प्रकट करनेका परिश्रम सफल हो सकेगा।

वीर सं० २४७०
दीपावली
ता० १७–१०–४४

निवेदक—
मूलचन्द् किसनदास कापाड़िया
—प्रकाशक।

विषय-सूची।

विषय

विषय पृष्ठ

स्व० जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर
ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी महाराज।

जन्म—सं० १९३५ सन् १८७६. स्वर्गवास—सं० १९९८.

श्री सन्मति पुस्तकालय
जयपुर

श्री वीतरागाय नमः ।

स्व० ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी कृत–

स्वतंत्रताका सोपान ।

१–स्वतंत्रता देवीकी पूजा ।

धन्य है स्वतंत्रता देवी! तू जिसके घरमें वास करती है वह परम सुखी व निराकुल होजाता है। तेरी महिमा अपार है। जिस उपवनमें वृक्षोंको फूल फलादिसे हराभरा होनेके लिये, उनको अपनी स्वाभाविक उन्नति करनेके लिये, उनको अपने स्वतंत्र भावका भोग करनेके लिये कोई विघ्न बाधा नहीं है वहीं स्वतंत्रताका निवास है। जिस धर्मकी उन्नति करनेके लिये, धार्मिक सिद्धांतोंका प्रचार करनेके लिये, धार्मिक रीतिके अनुसार धर्मका लाभ उठानेके लिये, धर्ममें दीक्षित हो हरएकको अपनी२ योग्यताके अनुसार प्रगति करनेके लिये कोई रुकावट नहीं है, कोई बंधन नहीं है वहीं स्वतंत्रता देवीका राज्य है। जिस समाजको धर्मानुकूल चलकर अपने दोषोंको हटानेमें, सद्-गुणोंकी प्राप्ति करनेमें, निर्भय हो धर्मशास्त्रानुसार अपना ढांचा बनानेमें, सर्व प्रकार आर्थिक, शारीरिक, औद्योगिक, नैतिक, धार्मिक व राज्य-नैतिक उन्नति करनेमें कोई बाधा नहीं है, जहां रूढ़ि राक्षसीका व अविद्या पिशाचिनीका संचार नहीं, जहां एकता महादेवीका सहयोग है वहीं स्वतंत्रताका शुभ धाम है।

जिस देशके निवासियोंको अपनी हर प्रकारकी उन्नति करनेमें, सांप्रदायिक ज्ञान सम्पन्न होनेमें, व्यापार व उद्योग वृद्धि करनेमें, दरिद्रताके निवारणमें, स्वप्रतिष्ठाको अन्य देशोंके सामने स्थापित रखनेमें, सर्व नागरिक हकोंके भोग करनेमें, अपनी राज्यपद्धतिको समयानुसार उन्नतिकारक नियमोंके साथ परिवर्तन करनेमें कोई विघ्न बाधा नहीं है वहीं स्वतंत्रताका राज्य है।

जिस आत्मामें अपने आत्मीक गुणोंके विकाश करनेमें—उनका सच्चा स्वाद लेनेमें—उनकी स्वाभाविक अवस्थाके विकाश करनेमें कोई पर वस्तुके द्वारा विघ्न बाधा नहीं है वहीं स्वतंत्रताका सौंदर्य है। स्वतंत्रता आभूषण है, परतंत्रता बेड़ी है। स्वतंत्रता प्रकाश है, परतंत्रता अन्धकार है। स्वतंत्रता मुक्ति धाम है, परतंत्रता नरकवास है। स्वतंत्रता अमृत सागर है, परतंत्रता विषसमुद्र है। स्वतंत्रता उत्तमांग है, परतंत्रता पादतल है। स्वतंत्रता पवित्रता है, परतंत्रता मलीनता है। स्वतंत्रता स्वभाव है, परतंत्रता विभाव है। स्वतंत्रता मोक्ष धाम है, परतंत्रता संसार है। स्वतंत्रता विकाश क्षेत्र है, परतंत्रता कारावास है। स्वतंत्रता आनन्दरूप है, परतंत्रता दुःखरूप है। स्वतंत्रता निराकुल है, परतंत्रता आकुलतारूप है। स्वतंत्रता आत्मविभूति है, परतंत्रता दीनता है।

जहां परका स्वागत है, परका मोह है, परसे राग है, परसे सहयोग है, परमुखापेक्षीपना है, परनिर्भरता है, स्वशक्ति विस्मरण है, स्व विकासमें प्रमाद है, स्व साहसकी कमी है, स्व वीर्यका अप्रकाश है वहीं परतंत्रताका बंधन है।

परतंत्रतासे क्लेश है, परतंत्रतासे भव भ्रमण है। जहां परसे वैराग्य

है, परका मोह नहीं है, न परसे राग है, न परसे द्वेष है, न परका आलम्बन है, य परसे प्रयोजन है, न पराधीन सुख कामना है, न परके ऊपर निर्भरता है, किंतु जहां स्वभावहीका स्वागत है, स्वभावका ही प्रेम है. स्वभावमें ही श्रद्धा है, स्वभावमें ही ज्ञान है, स्वभावहीमें चर्या है, स्वभावका ही स्वाद है, स्वभावहीमें रमण है. स्वभावका ही आनंद है, स्वभावका ही भोग है, स्वभावके भोगमें पूर्णतया स्वतंत्रता है, कोई पर कृत बाधा नहीं है, वहीं आत्माकी स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता मेरी प्यारी अर्धांगिनी है, मैं सर्व परसे नाता तोड़ एक स्वतंत्रता देवीकी ही पूजा करके स्वात्मानंदमें रमण करूंगा और परम संतोष पाऊंगा।

२—स्वतंत्रता परम तत्व है।

स्वतंत्रता प्रत्येक जीवका निज स्वभाव है। इस स्वतंत्रताका स्वामी होकर भी यह जीव संसार अवस्थामें क्यों परतन्त्र होरहा है, इसका कारण इसीका मोह है। जैसे बन्दर चनेके लोभसे चनेसे भरे हुए घड़ेमें मुट्ठी डालता है, मुट्ठीमें चने भर करके बाहर निकालना चाहता है तब हाथ बाहर निकलता नहीं। वह अज्ञानसे समझ लेता है कि चनोंने हाथ पकड़ लिया। इस मिथ्याज्ञानसे कष्ट पाता है। यदि वह चनेका लोभ छोड़ दे, मुट्ठीको खाली कर लेवे तो वह हाथ निकालकर सुखी होजावे। इसी तरह इस संसारी जीवने अपनेसे भिन्न जो जो पर वस्तु हैं उनसे ऐसा मोह कर रखा है कि उनकी संगति व राग कभी छोड़ता नहीं। शरीरके मोहमें व शरीर सम्बंधी स्त्री, पुत्रादि व मित्रोंके मोहमें व धन सम्पत्तिके लोभमें रातदिन फंसा

रहता है। जिनसे इनकी वृद्धि होती है उनसे राग करता है, जिनसे कुछ हानिकी संभावना होती है उनसे द्वेष करता है।

इसतरह रागद्वेष मोहके वश होकर आप ही परतंत्र होरहा है। परतंत्र होकर रातदिन चिंतातुर रहता है। तृष्णाकी दाहमें जलता है, वारवार जन्म मरणके कष्ट सहता है। इन्द्रियोंके विषयोंके सुखकी तीव्र लालसासे भारी२ आपत्तियोंको भी सहता है। कर्मोंकी जंजीरोंसे जकड़ा हुआ, यह प्राणी अनेक जन्मोंमें भ्रमण करके कष्ट पाता है।

यदि यह अपने बलको सम्हाले, अपने स्वभावको देखे, अपने गुणोंकी श्रद्धा करे, अपने भीतर छिपे हुए ईश्वरत्वको, सिद्धत्वको, परमात्मत्वको पहचाने, अपने भीतर आनन्दका समुद्र है ऐसी श्रद्धा करे, अपनेको अमूर्तीक कर्म-पुद्गलोंसे व नोकर्म शरीरादिसे भिन्न अवलोकन करे, तथा यह भी जाने कि जितने विभाग भाव राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, हास्य, कामभाव आदि होते हैं, ये सब भी कर्म पुद्गलका रङ्ग है। मैं आत्मा हूं, मेरे ये अपने स्वभाव नहीं। यह भी जाने मेरी सत्ता मेरे पास है। मेरे आत्माका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे पास है। मेरे आत्माके सिवाय अन्य सर्व आत्माओंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा सर्व ही अणु व स्कंध पुद्गलोंका या धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायका, कालाणुओंका तथा आकाशका, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे आत्मामें नहीं है। मैं निराला हूं। मैं अपनी अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि सम्पत्तिका स्वयं भोक्ता हूं। इस ज्ञान तथा श्रद्धानसे विभूषित होकर जब कोई आपसे ही आपको अपनेमें अपने ही लिये अपनेसे भाव

ज्ञान लेकर अनुभव करता है, आपमें तल्लीन होता है, तब स्वतंत्रताका भाव झलक जाता है। यह अपनेको सर्व परतंत्रता रहित, सर्व परा- लम्बन रहित, सर्व आकुलताओंसे रहित जानता है, वेदता है तब यह सिद्ध भगवानके समान परमानंदका लाभ करता है। मैं सदा ही स्वतंत्र हूं, मुक्त हूं, सदा सुखी हूं। इस भावसे परिपूर्ण होकर जिस अपूर्व तृप्तिको पाता है उसका मनसे विचार नहीं हो सकता है। वचनसे उच्चार नहीं हो सकता है। कायसे प्रकाश नहीं हो सकता है। स्वतंत्रता परमतत्व है। मैं इसी तत्वको ग्रहण कर किसी अनि- र्वचनीय गुफामें बैठकर विश्राम करता हूं।

३—स्वतंत्रता देवीका पुजारी।

स्वतंत्रता वस्तुके स्वभावके अविरोध विकास या प्रकाशको कहते हैं। स्वभावका प्रकाश होसक्ता है, परन्तु विरोधक कारणोंसे नहीं होता है। उन कारणोंको मिटाना ही स्वतंत्रताका प्राप्त करना है। भारतवासी जिन विरोधक कारणोंसे यथेष्ट उन्नति नहीं कर सक्ते हैं, उनका दूर करना जैसे भारतीय स्वतंत्रताका लाभ प्राप्त करना है वैसे आत्माके विकाशके बाधक ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंको दूर करना आत्मीक स्वतंत्रताको प्राप्त करना है।

स्वतंत्रताके विना विभावदशामें प्राणीको स्वात्मनिधिका भंडार अपने पास होते हुए भी उसके यथेष्ट भोगसे वंचित रहना पड़ता है। आत्मस्वातंत्र्यके लाभका उपाय परसे समताभाव पूर्वक असहयोग है। द्वेषभावको किंचित् भी न करते हुए परम वैराग्यको रखते हुए सर्व पर

पदार्थोंकी तरफ रागद्वेष छोड़ते हुए केवल अपने ही स्वतंत्र शुद्ध स्वभावका ज्ञान श्रद्धानपूर्वक अनुभव करते हुए या उसका स्वाद लेते हुए वर्तना ही स्वतंत्रताका उपाय है। बंधका नाश आत्म पुरुषार्थसे ही होता है। एक पुरुष जंजीरोंसे जकड़ा बंधा है, यदि वह श्वासके निरोधका अभ्यास करे तो अपनेको ढीला करके बंधनोंको हटा सक्ता है। पुरुषार्थ आत्मीक शक्तिके उपयोगको कहते हैं। मैं स्वतंत्र स्वभावी हूं, मेरा कोई कभी बिगाड़ नहीं कर सक्ता है ऐसा दृढ़ श्रद्धान व ज्ञान व इसीके अनुकूल स्वस्वभावका ध्यान ही या स्वात्मानुभव ही आत्मस्वातंत्र्यका उपाय है।

सुखशांतिका सागर ही यह आत्मा है। इसके स्वभावमें कोई प्रकारकी आकुलता नहीं है। न कोई क्रोध मान माया लोभके विकार हैं, न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा या कामभावके संस्कार हैं। न यहां अज्ञान है न वीर्यका ह्रास है। यहां तो पूर्ण ईश्वरत्व है या पूर्ण परमात्मत्व है। आत्माका आत्मामें ही अहंकार, आत्माका आत्मीक गुणोंमें ही ममकार तथा पर सम्बन्धी भावोंमें अहंकार व ममकारका अभाव। यही स्वसत्ताका विलास आत्मविकासका साधन है।

भले ही शरीर बना रहे। आठों कर्मोंका उदय होता रहे। बाहरी पदार्थोंका संयोग भी रहता रहे। ज्ञानीको अपने स्वभावका ज्ञान श्रद्धान व ध्यान करना कर्तव्य है। जो सुवर्ण कीचमें पड़ा हुआ भी सुवर्णकी कांतिको नहीं मिटा सकता उसी सुवर्णका वर्णन प्रशंसा रूप होता है। गृहस्थ हो या साधु, जो सम्यग्ज्ञानी अपने शुद्धात्मभावको स्थिर रखकर शुद्धात्माके भीतर रमण करके उसी रमणताके

द्वारा सुख शांतिका अमृत रस पान करता है वही स्वतंत्रतादेवीका पुजारी होकर स्वतंत्रतादेवीको प्राप्त करके मुक्तिका साम्राज्य पालेता है।

४—स्वतंत्रता मेरी नगरी है।

एक ज्ञानी आत्मा अपनेको औदारिक तैजस तथा कार्मण शरीरके बंधनरूपी पिंजरेमें बन्द देखकर बहुत खेदखिन्न होता है। जैसे चतुर पक्षी पिंजरेमें व जालमें फंसा हुआ पंखोंको रखते हुए भी उड़ नहीं सकता, उत्तम २ उपवनोंके भीतर नाना प्रकार ताजे फल खानेका व मिष्ट वापिकाओंके जल पीनेका सुख नहीं भोग सकता। इसी तरह यह आत्मा कर्मके जालमें फंसा हुआ अपने शुद्ध व स्वाधीन स्वभावका आनंद भोग नहीं कर सकता। कर्मोंके उदयसे पराधीन होकर इसे शरीर व शरीरके सम्बंधोंमें राग द्वेष करना पड़ता है। इष्टकी प्राप्तिमें हर्ष व अनिष्टकी प्राप्तिमें द्वेष करना पड़ता है। इस राग द्वेषके कारण यह प्राणी कर्म बान्धकर नाना प्रकार सांसारिक, मानसिक व शारीरिक कष्ट पाता है। इस अवस्थासे छुटकारा पानेका उपाय एक मात्र स्वावलम्बन है। जो चैतन्य होकर अपनी अनंत-शक्तिका विश्वास लाता है वही बन्धनसे मुक्त हो सकता है। मैं द्रव्य हूं, सत् पदार्थ हूं, सामान्य और विशेष गुणोंका समुदाय हूं, गुणोंके भीतर स्वाभाविक परिणमन सहित हूं।

अतएव निरन्तर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीन स्वभावका धारी हूं, मैं चैतन्य स्वरूप हूं, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गलसे भिन्न हूं, तथा मेरा आकार अमूर्तीक है व असंख्यात प्रदेशी है, इससे कभी

कम व अधिक नहीं होता हूं। मैं अनंत ज्ञान दर्शनकी शक्ति रखता हूं। जो कुछ भी जानने देखने योग्य हो सबको देख व जान सक्ता हूं। अनंत वीर्यका धारी हूं, अनंत सहजानन्द सुखका स्वामी हूं। मेरा सर्वस्व सब मेरे पास है। भले ही व्यवहार नयसे देखते हुए कर्मोंका संयोग संबंध रहा हो तथापि मैं बिलकुल कर्मोंसे अबद्ध व अस्पृश्य हूं। मेरा कोई भी संबंध किसी भी परद्रव्यसे कदापि नहीं है।

इस तरह जो श्रद्धान करता है, जानता है व उसी स्वरूपमें तन्मय होता है वही निश्चय मोक्षमार्गरूपी छेदकको पाकर कर्मोंकी पाशको छेद डालता है। यह प्रज्ञाछेनी जिससे आत्मा परसे छूटकर आपसे आपमें रमण करता है, एक निश्चय धर्म है जहां द्रव्य स्वरूपके आश्रय ही निज तत्वमें संलग्नता है। न कभी बन्ध था, न अब है, न कभी होगा। त्रिकाल अबाधित एक स्वरूप निश्चल वीतराग अभेद स्वरूपमें ऐसा गुप्त होगा कि मन, वचन, कायके सर्व विकल्पोंका छूट जाना यही एक अनुभवगोचर भाव कर्म छेदक है। इसीको शुद्धोपयोगकी एक पर्याय कहते हैं।

मैं अब सर्व शुभ अशुभ विकल्प जालोंको त्यागकर एक निप्तुष शुद्ध चावलकी तरह अपने एक केवल शुद्ध स्वरूपको अनुभव करता हूं। यही स्वतंत्रारूपी मार्ग पूर्ण स्वतंत्रता होनेका उपाय है। जो अपने पूर्ण बलके साथ अपने स्वरूपमें ठहरता है, उससे परका संबंध स्वतः ही छूट जाता है। स्वतंत्रता मेरी ही निज नगरी है। उसीमें विश्राम करता हूं।

५—सहज सुखोंका घर।

स्वतंत्रता आत्माका स्वतंत्र हक है। स्वतंत्रता आत्माका निज स्वभाव है। स्वतंत्रतासे पूर्णपने आत्माकी शक्तियां अपना२ काम करती हैं। स्वतन्त्रता बंधनोंके त्यागसे होती है। बंधनोंको काटना उचित है। बन्धनोंमें अपनेको पटकनेवाला ही यही आत्मा है। जब यह रागद्वेष मोहसे मैला होता है यह अपनेमें कर्मबंध कर लेता है। जब यह वीतराग भावसे शुद्ध होता है तब यह कर्मबन्ध काटकर स्वतंत्र होजाता है। वीतराग भावमें रहनेका उपाय परसे असहयोग व आत्माके साथ पूर्ण सहयोग है। एकदम अपने आत्माकी सम्पत्तिके सिवाय परसम्पत्तिसे पूर्ण वैराग्यकी आवश्यकता है। तथा निज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि सम्पत्तिसे पूर्ण अनुरागकी आवश्यकता है। जो जिसका प्रेमी होता है वह उसको अवश्य प्राप्त कर लेता है।

स्वस्वभावका प्रेम करना ही सम्यग्दर्शन है। स्वस्वभावका जानना सम्यग्ज्ञान है। स्वस्वभावमें लीन होना सम्यक्चारित्र है। स्वस्वभावमें रमणकी आवश्यक्ता है। स्वस्वभावमें रमणका उपाय स्वस्वभावको ही स्वस्वभाव रूप देखना है। जब द्रव्यकी अपेक्षासे स्वपदार्थको देखा जाता है तो यही भासता है कि उस पदार्थमें पर वस्तुका संयोग न कभी था न है, न कभी होगा। वह सदा ही अबन्ध—अस्पृश्य है, एक रूप है, अभेद है, निश्चल है, पर संयोगसे रहित है। परसे शून्य व निज सम्पत्तिसे अशून्य है। मन व इन्द्रियोंसे अगोचर है। परन्तु अपने अतीन्द्रिय स्वभावसे अनुभव करने योग्य है। सहज ज्ञान दर्शनका सागर है। सहज वीर्य तथा सहज

सुखोंका घर है। इसमें ज्ञाता ज्ञेय, ध्याता ध्येय, कर्ता कर्म क्रिया, गुण गुणी, एक अनेक, नित्य अनित्य, अस्ति नास्ति, शुद्ध अशुद्ध, प्रमत्त अप्रमत्त, बन्ध मोक्ष, साधन साध्य आदि कोई विकल्प नहीं है। यह क्या है सो भी कहा नहीं जाता। विचारमें भी ठीक ठीक आता नहीं है। मन व वचन क्रम क्रमसे पदार्थसे गुणोंको जानते हैं। वह निर्वाण नाम आत्मा एक समयमें सर्व जानने योग्यको जानता है। उसमें न पुण्य है न पाप है। इस रूप ही मैं हूं। यही स्वसंवेदन ज्ञान स्वतंत्रता स्वरूप है। इसीमें जो रमण करता है वह अवश्य शीघ्र ही पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है तथा पूर्ण अखंड आत्मीक आनंदका निरंतर भोग करता है।

६–स्वतंत्रताका भक्त।

आज मैं सर्व परतंत्रता त्यागकर केवल स्वतंत्रता देवीका उपासक होता हूं। स्वतंत्रतामें शान्ति है, आनन्द है, समभाव है। स्वभावमें रमण है, संयोग वियोगका संकट नहीं है, जन्म मरणका झगड़ा नहीं है। न किसीके आक्रमणका भय है, न किसीपर आक्रमण करनेका द्वेष है। न चिंता है, न अभिमान है, न राग है न द्वेष है। न किसी स्वार्थको सिद्ध करना है, न लोभ है, न माया है। बिना किसी बाधाके अपनी आत्मीक सम्पत्तिका भोग है। इस स्वतंत्रताकी उपासना हरएकको मंगलकारी है।

जो कर्मोंके आधीन है, पुण्य पापके उदयके आधीन है, राग द्वेष मोह भावोंके आधीन है वह पराधीन है, वे ही स्वेच्छाचारसे स्व कार्य करनेको असमर्थ हैं। पराधीनताको स्वाधीन बनानेका उपाय इसी स्वतंत्रता देवीकी उपासना है।

उपासना करनेकी क्या रीति है इसपर विचार करनेसे विदित होता है कि अपने स्वतंत्र स्वभावको श्रद्धान व ज्ञानमें लेकर उसीमें रमण और पर रमणसे विरक्ति है। स्वस्वरूप बड़ा ही सुन्दर है, बड़ा ही उत्तम है, पूर्ण ज्ञान व दर्शनका समुद्र है, पूर्ण आनन्दका सागर है, परम निश्चल है, ध्रुव है व परम समभावरूप है। इसके स्वभावमें संसारका कोई भ्रमजाल नहीं है। सिद्ध भगवानके समान शुद्ध स्वभावका धारी यह आत्मा है।

ऐसा ध्यानमें लेकर सर्व परद्रव्य, परक्षेत्र, पर काल व पर भावसे सम्बन्ध तोड़ना उचित है। वार वार इस स्वतंत्र स्वभावका विचारना, इसीका प्रेमी होजाना, इसीमें आनंद मानना परतंत्रता हटानेका मंत्र है।

अथवा निश्चयसे यही विचार परतंत्रतानाशक है कि मैं जो कुछ हूं सो हूं। मेरेमें न तो परतंत्रता है, न स्वतंत्रता है, न ज्ञान है, न अज्ञान है, न भेद है, न अभेद है, न मलीनता है न निर्मलता है, न कोई द्रव्य है न गुण है न पर्याय है, न मेरा कभी जन्म है न कभी नाश है।

मैं पूर्ण निर्विकल्प हूं, अगम अलक हूं, वचन मन कायसे अगोचर हूं, परम शांत स्वरूप हूं, नाम निक्षेपादिसे रहित हूं, शब्दातीत हूं। अछेद्य अभेद्य आत्मीक दुर्गमें विराजित हूं। यों तो मेरे समान सर्व जगतकी आत्माएं हैं, परन्तु मैं अपनेमें, वे अपनेमें राज्य करते हैं। मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। मौन रहकर भीतर ही भीतर मैं एक स्वानुभवका गद्दा बिछाता हूं। उसीपर लेटकर व करवटें लेकर मैं परम सुखी होरहा हूं। चेतना ही मेरा लक्षण है, चेतना ही मेरा

भोजन है, चेतना ही मेरा वस्त्र है, चेतना ही मेरा शयनागार है, चेतना ही मेरा सर्वस्व है. चेतना ही मेरा निर्मल दर्पण है, जिससे सर्व लोकालोक झलकते हैं। मैं ज्ञान चेतनाका ही स्वाद लेता हुआ परम तृप्त हूं। मैंने कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाको सदाके लिये त्याग दिया है। मैं स्वतंत्रताका भक्त रहकर जब तक स्वतंत्र न हूं तब-तक निर्विकल्प स्वाधीन भावमें ही रहूंगा।

७-स्वतंत्रताका उपाय।

स्वतंत्रता कैसी प्यारी वस्तु है! इसका नाम लेनेपर चित्त प्रसन्न होजाता है। "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" यह कहावत बिलकुल ठीक है। यदि किसी वृक्षके चारों ओर ऐसे बंधन हों जिनसे पवन स्वतंत्रतासे न आवे तो वह पनप नहीं सक्ता, न सुन्दर पुष्प व फल पैदा कर सक्ता है। बंधन बाधक है। आत्मीय स्वतंत्रता भी पवित्र वस्तु है। तीर्थंकरोंने व अनेक महात्माओंने इस स्वतंत्रता प्राप्त करनेका यत्न किया और स्वतंत्रता प्राप्त कर ही डाली। जिस उपायसे स्वतंत्र जीवोंने स्वतंत्रता प्राप्त की है उसी उपायकी स्वीकारता हरएक स्वतंत्रताके पुजारीको करना चाहिये।

स्वतंत्र स्वभावका श्रद्धान व ज्ञान तथा उसीका आचरण ही स्वतंत्रता प्राप्तिका साधन है। जो कोई तत्वज्ञानी यह पूर्ण श्रद्धान रखता है कि मैं स्वभावसे न कभी बन्धनमें था, न बंधनमें हूं, न बन्धनमें रह सकता हूं। मेरा स्वभाव पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण दर्शनमय, पूर्ण वीर्यमय, पूर्ण आनंदमय, पूर्ण वीतराग, पूर्ण निर्विकार, पूर्ण

अमूर्तिक है। मैं स्वभावसे स्वतंत्र हूं। मुझे किसी भी पर पदार्थसे मोह नहीं करना चाहिये। राग व द्वेष नहीं करना चाहिये। पूर्ण वीतरागी होकर, पूर्ण विरक्त होकर, पूर्ण निज वस्तुकी वस्तुताको ग्रहण करना चाहिये। यही मेरा धर्म है। ऐसा विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। इस श्रद्धान व ज्ञानसे विभूषित होकर जो इसे आत्मज्ञानमें मनन करता है, आत्मज्ञानका दृढ़तासे पालक होता है वह स्वतंत्र हो जायगा, इसमें कोई सन्देह नहीं होना चाहिये। निःसंदेहता ही साधक है, स्व रूपका रमण ही स्व रूप विकासका कारण है।

अतएव सर्व परसे सहयोग छोड़कर अपने ही स्वभावसे पूर्ण सहयोग करना चाहिये। जहां बन्धनसे राग छोड़ा वहीं बंधन छूट जायगा। बंधनका होना हमारा ही अज्ञानजनित राग है। अज्ञानको त्यागकर सम्यग्ज्ञानी होकर हमको अपने आत्माके उपवनमें ही क्रीड़ा करनी चाहिये। इसीके गुणरूपी वृक्षोंको वारवार निरख कर आनन्द प्राप्त करना चाहिये। स्वतंत्रतामें स्वतंत्र हो विचरना अपने अनन्तबलका दृढ़ विश्वास रखना ही स्वतंत्रता लाभका उपाय है। आत्म स्वतंत्रता ही मुक्ति है।

८—परमानंदका स्वामी।

यह प्राणी अनादि कालसे अनन्त शक्तिधारी कर्म-पुद्गलोंके संयोगसे ऐसा घिरा हुआ है जिससे वह अपनी स्वतंत्रताको भूलकर कर्म पुद्गलके रंगमें ही रंग रहा है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत; पद्म,

शुक्लेश्याके कारण कभी अशुभ कभी शुभ भावोंमें जकड़ा हुआ पुनः पुनः कर्मपुद्गलोंका संचय कर अपने बंधको गाढ़ करता चला आया है गुलामीकी जंजीरोंसे बंधा हुआ तथा सरसों मात्र सुख व पर्वत समान दु ख उठाता हुआ गुलामीमें ही तृप्त होरहा है। अपनी स्वाधीन अनंत परमानंदकी वृत्तिको बिलकुल भूल रहा है।

एक दयावान श्री गुरु इस भ्रमपूर्ण प्राणीको देखकर दयार्द्रचित्त होजाते हैं और कहते हैं कि हे भाई! तू क्यों पुद्गलकी कैदमें पड़ा है। अपनी ईश्वर स्वरूप शक्तिका तुझे भान नहीं है। तू तो स्वभावसे परमात्मा है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख तथा अनंत वीर्यका धनी है। तू पुद्गल मूर्तीकसे विलक्षण विलकुल अमूर्तीक है। तू अपने ही स्वभावमें परिणमन करनेवाला है। इसलिये तू स्वभाव परिणतिका ही कर्ता है तथा स्वाभाविक सुखका ही भोक्ता है। तू यदि अपने द्रव्य स्वभावको सम्हाले, उसकी दृढ़ श्रद्धा लावे, उसीका प्रेमी होजावे, उसीमें रमण करनेका उत्साह प्रगट करे, तथा पुद्गलसे उदास होजावे तो सर्व प्रकारके बाहरी शरीरसे, धनसे, नगरसे, प्रासादसे, बाह्याभूषणसे निर्ममत्व होजावे, ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंसे विरक्त होजावे तथा इन कर्मोंके उदयसे जो अज्ञान व क्रोध, मान, माया, लोभादि विभाव होते हैं उनके साथ अपना नाता तोड़ दे। अपनेको सर्व प्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्मसे जुदा जाने। ऐसी सम्यक्रुचि, ऐसा सम्यग्ज्ञान व ऐसा ही सम्यक्चारित्र यही अभेद व निश्चयरत्नत्रयमई नौका है। इसपर तू आरूढ़ होजावे तो शीघ्र ही इस असार आकुलतापूर्ण भव-सागरसे पार होजावे और जैसा अपना निज स्वभाव है वह प्रगट हो

जावे। शुभ अशुभ दोनों ही भाव बंधकारक हैं। एक शुद्धोपयोग ही वीतरागभाव है जो बंधका छेदक है। इस शुद्ध भावका ही अपनेको स्वामी मानकर जो इस शुद्ध भावके भीतर रमण करता है वह कर्मोंकी परतंत्रताको काटकर स्वतंत्र होजाता है। मैं स्वतंत्र ही हूं, न कभी परतंत्र था न कभी परतंत्र हूंगा। यह विशाल दृष्टि जब आजाती है तब अपने स्वरूपमें ही चर्चा होने लगती है और इसीका अभ्यास स्वानुभवकी शक्तिको प्रकाश कर देता है। स्वानुभव ही स्वतंत्रताका उपाय है। अतएव मैं अब सर्व संकल्प विकल्प छोड़कर एक अपूर्व स्वानुभवमें ही रमण करता हुआ परमानन्दका स्वाद लेता हूं।

९–स्वतंत्रताकी जय !

स्वतंत्रताकी महिमा वचन अगोचर है, स्वतंत्रता आत्माकी स्वाभाविक सम्पत्ति है। आत्माका प्रकाश स्वतंत्रताहीमें है। सदा अनुभव पाना स्वतंत्रताहीमें हो सकता है। अनादिकालीन कर्मबंधकी पराधीनता किस तरह दूर की जावे इसका विचार करनेसे प्रगट होता है कि इस परतंत्रताका कारण इस अज्ञानी जीवका मोह भाव है। यह आप ही पर्यायमें रति कर रहा है। इसीसे पर पुद्गल इसे बंधमें डाले हुये हैं। यदि यह अपना नाता पुद्गलसे बिल्कुल हटाले, पुद्गलके द्रव्य, गुण पर्यायसे पूर्णतासे उदास हो जावे, पुद्गलके साथ अपना सहयोग छोड़ देवे और निज आत्माके स्वाभाविक द्रव्य. गुण, पर्यायोंकी तरफ झुक जावे, आपसे ही आपका गाढ़ प्रेमी होजावे, तो शीघ्र ही परतंत्रताकी बेड़ी कट जावे। जिस २ महात्माने स्वात्माश्रयको अपना

घर बनाया, स्वात्माधीन आनंदका ही भोजनपान स्वीकार किया; विषय-सुखसे पूर्ण उदासीनता प्राप्त की, जगतकी नारियोंसे वैराग्यवान हो, मुक्ति नारीकी आसक्ति उत्पन्न की, स्वात्माका ही वस्त्र पहरा, अन्य जड़ वस्तुका त्याग किया ! स्वात्माके ही संथारे पर आसन जमाया । और सब काष्ठादिके आसनोंको छोड़ दिया, उसने ही स्वतंत्रता प्राप्त करली । जबतक परसे शून्य किन्तु स्वात्मभावसे पूर्ण निर्मल क्षीरसमुद्रमें अवगाहन नहीं होता है तबतक कर्ममैलका छूटना दुर्निवार है ।

उचित यही है कि आत्माकी स्वच्छ परिणति रूपी धारामें ही स्नान किया जावे। उसीके द्वारा कर्ममल छुड़ाया जावे, उसी ही धारासे स्वात्मानुभव रूपी जलका पान किया जावे । इस जलसे ही आत्माको परमपुष्टि प्राप्त होजाती है। फिर अन्य पौद्गलिक आहारकी जरूरत नहीं रहती है। जिसने स्वात्माश्रयी चारित्रका आश्रय लिया, व उसीमें निरंतर विहार करना स्वीकार किया, रागद्वेष मोहमें चलनेसे परम विरक्ति प्राप्त की, वही संत महात्मा शीघ्र ही स्वतंत्र होजाता है और तब फिर आत्मानंदका अनुभव भोग निरन्तर करता रहता है। स्वतंत्रताकी जय हो।

१०—स्वतंत्रता देवीकी पूजा ।

एक ज्ञानी भव्य जीव सर्व संकल्प विकल्पोंको छोडकर एकांतमें बैठकर स्वतंत्रतादेवीका आराधन करता है । सर्व पदार्थोंसे राग द्वेष छोडकर समताभावका जल उपयोगमें भरता है और उस देवीका अभि-षेक करता है । परम पवित्र साम्य जलकी धारासे जलपूजा, उत्तम क्षमारूप शांतिमई चंदनसे चंदनपूजा, मनोहर अक्षय आत्मीक गुणोंके

मनन रूपी अक्षतोंसे अक्षत पूजा, ब्रह्मचर्यमई परम शोभनीक पुष्पोंसे पुष्प पूजा, परमतृप्तिकारक आत्मानुभवरूपी भोजनोंसे नैवेद्य पूजा, स्वसंवेदन ज्ञानकी जाज्वल्यमान ज्योतिसे दीपक पूजा, आत्मध्यानकी अग्निमें कर्म-होमरूपी धूप खेवनसे धूप पूजा, स्वात्मोपलब्धि रूपी फलोंसे फल पूजा करके परम संतोष मान रहा है। स्वतंत्रतादेवीके अद्भुत गुणोंकी जयमाल पढ़ता है। धन्य है स्वतंत्रता जहां कोई बंधन नहीं है, न वहां भावकर्म, क्रोध, मान, माया, लोभ है, न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा या कोई काम विकार है, न वहां कोई अज्ञान है न भ्रम है, न संशय है, न आलस्य है, न आर्तध्यान है, न रौद्रध्यान है, न कोई विषयकी चाहकी दाह है, न वहां औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण पुद्गल वर्गणाओंके बन्धन हैं। इस स्वतंत्रताकी ऐसी अपूर्व महिमा है कि पुद्गलोंका सम्मेलन होते हुए भी वे किंचित् भी विकार व आवरंण व निरोध, स्वतंत्रता देवीके स्वतंत्र कार्यमें नहीं कर सक्ते हैं। स्वतंत्रतादेवी परम ज्ञान दर्शन रूप है। इसके भीतर विना किसी क्रमसे सर्व विश्वके सर्व पदार्थ अपने अनंत गुणपर्यायोंके साथ एकदम झलक रहे हैं। यह स्वतंत्रतादेवी परम शांत स्वरूप है, यह परमानंदस्वरूप है, यह परम अमूर्तीक है, यह अनंत वीर्यको धरनेवाली है, इसका स्वभाव कमल समान प्रफुल्लित है, सूर्य समान तेजस्वी है, चंद्रमा समान आनन्दामृतको वरसानेवाला है, स्फटिक समान निर्मल है, यह परम दातार है। जो इस स्वतंत्रतादेवीका आराधन करता है, उसको यह देवी विना कोई संकल्प विकल्प उठाए हुए ही सच्चा आनन्द प्रदान करती है। उसकी अनादिकी तृष्णाकी दाह

शमन कर देती है। उसका उपयोग पराधीनतासे हटाकर स्वाधीन कर देती है। धन्य है स्वतंत्रता देवी! मैं तो रातदिन इसी देवीका उपासक बनूंगा। इसीकी चरण-रजको मस्तकपर लगाऊंगा। यह देवी आराधकको अपने समान कर लेती है। यह बड़ी उदार है। मैं भी इसी आराधनासे स्वतंत्र होजाऊंगा। इस भावनासे मैं स्वतंत्रता देवीकी भक्तिमें तन्मय होता हुआ यकायक निर्विकल्प होकर परम सुखका स्वाद पाता हुआ परम तृप्त होरहा हूं।

११–जीवन्मुक्त।

एक ज्ञानी आत्मा अपनेको जब देखता है तब कर्म पुद्गलोंसे व शरीरादिसे व रागद्वेषादि भावोंसे घिरा हुआ पाता है। इस परतंत्रतामें अपने स्वभावका योग नहीं देखकर आकुलित होता है और स्वतंत्रता पानेका उत्सुख होजाता है। स्वतंत्रता आत्माका स्वभाव है। स्वतंत्रता विना आत्माको परमानंदका सतत लाभ नहीं हो सकता है। इसके लिये क्या यत्न करना चाहिये, यह विचार आते ही यह श्री गुरुकी शिक्षाको याद करता है कि स्वतंत्रताका श्रद्धान, ज्ञान आचरण ही स्वतंत्रता लाभका उपाय है। परतंत्रताकारियोंके साथ असहयोग करना, उनसे उदास हो जाना, उनकी संगतिको बाधाकारी समझकर उनसे प्रेमका हटा लेना ही एक मात्र उपाय है।

मैं आत्मा हूं, परमात्मा हूं, ईश्वर हूं, अनन्त ज्ञानी हूं, अनन्त विज्ञानी हूं, अनन्त वीर्यवान हूं, अनन्त सुखी हूं, शुद्ध अमूर्तीक हूं, निर्लेप हूं, निरंजन हूं, सिद्ध भगवानके समान हूं, मेरा द्रव्य स्वरूप

सदासे ऐसा था, ऐसा है व ऐसा रहेगा। यही दृढ़ कार्य स्वतंत्रता-प्राप्तिका साधन है। मैं इस गाढ़ श्रद्धाके साथ अपने ही शुद्धात्माके स्वभावरूपी आसनपर बैठता हूं। आत्माको पर भावोंसे संकोच करके उसीका पद्मासन बनाता हूं। इस पद्मासनमें सिद्ध होकर शुद्ध सरल भावरूपी ऋजुताको धारण कर स्वात्मस्वरूपके ही सन्मुख अपनी ज्ञान-चक्षुओंको रखता हूं। एक मात्र अपने ही शुद्ध स्वभावको देखता हूं। उसी शुद्ध स्वभावके समुद्रमें अवगाहन करता हूं। उस शुद्धात्मानुभव रूप जलके पानसे ऐसा आत्मीक बल बढ़ा लेता हूं कि मेरे उस बलके सामने सर्व ही परतंत्रताकारक पदार्थ या भाव कंपित होकर भाग जाने लगते हैं। जैसे जैसे मैं अतिशय दृढ़ताके साथ स्वरूपावगाहन करके स्वानुभवरूप परमामृत पान करता हूं, मेरा आत्मबल अधिक अधिक बढ़ता जाता है। एक समय आता है तब मैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय व मोहनीय चारों घातीय कर्मोंका क्षय करके परमात्मा अर्हंत जीवन्मुक्त होजाता हूं, अनंतवीर्यको प्रगट कर लेता हूं। फिर तो कोई भी विभाव सताते नहीं। मैं स्वभावका उपभोग करता हुआ परम सुखी रहता हूं। मेरा प्रभाव अनंत कालतक बना रहता है। मैं सदाके लिये स्वतंत्र होजाता हूं। स्वतंत्र निज स्वभावका ही आराधन, उसीका ध्यान, उसीका स्वाद ग्रहण वह साधन है जिससे निश्चयपूर्वक यह संसारी सर्व परतंत्रमय उपाधियोंसे छूटकर निरुपाधि मोक्षपदका स्वामी होजाता है। और तब अनन्तकालके लिये परमानंदका स्वाद लेता हुआ परम तृप्त रहता है।

१२–स्वतंत्रता सर्वस्व ।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताका प्रेमी होकर स्वतंत्रताके ही आवासमें रहता है । स्वतंत्रताके ही जलमें स्नान करता है । स्वतंत्रताके ही वस्त्र पहनता है । स्वतंत्रता देवीकी ही स्वतंत्रताकी पुष्पमालासे पूजन करता है । स्वतंत्रताका आहारपान करता है । स्वतंत्रताके मदमें पूरित होकर स्वतंत्रताकी शय्यापर स्वतंत्रताकी चादर ओढ़कर शयन करता है । स्वतंत्रताकी अशर्फियोंको उपार्जन करता है । स्वतंत्रताकी मनोहर वाटिकामें विहार करता है । स्वतंत्रताकी परम प्रिय महिलासे प्रेम रखता हुआ उसीमें आसक्त रहता है । स्वतंत्रता नारीके उपभोगसे स्वतंत्रता पुत्रीको उत्पन्न करता है । उसको ही पालन पोषण कर परम सुख अनुभव करता है । ऐसा स्वतंत्रता प्रेमी गृहस्थ एकाकी होनेपर भी कुटुम्बके सुखको अनुभव करता है । कभी साधु होकर स्वतंत्रतामें रमण करता है । कभी पुन. गृहस्थ हो स्वतंत्रतामें कल्लोल करता है । स्वतंत्रताके साथ अद्भुत क्रीडा करता हुआ किसी भी भाव या परद्रव्यके आधीन नहीं रहता है । न इंद्रियोंके विषयभोगोंकी पराधीनता है, न क्रोध मान माया लोभके अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलनके सोलह भेदोंमेंसे किसीमें पराधीनता है, न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, व किसी काम-विकारकी पराधीनता है, न मनसे विचारनेकी, न वचनसे कहनेकी, न कायसे क्रिया करनेकी पराधीनता है, न गमनकी, न आगमनकी, न उठनेकी, न बैठनेकी, न जपकी न तपकी, न व्रतकी, न उपवासकी, न ध्यानकी, न समाधिकी, न दानकी न पदाधिकारकी, किसी भी कर्म चेतनामय या कर्मफल चेतनामय भावकी

पराधीनता नहीं है। यह ज्ञानी एक ज्ञान चेतनामय स्वतंत्रताके ही रसमें रसिक हो निरन्तर आनन्दामृतका पान करता रहता है।

ऐसा स्वतंत्र व्यक्ति ही मोक्षमार्गी है। यही जैनी है। यही सम्यग्दृष्टी है। यही श्रावक है, यही साधु है, यही उपशम श्रेणीवान है, यही क्षपकश्रेणिधारी है. यही सयोगकेवली है, यही अयोगकेवली है, यही सिद्ध भगवान है।

धन्य है स्वतंत्रता देवी, तेरी भक्ति आत्माको सदा अजर अमर रखती है। तू ही सर्व सुखकी प्रदाता है। सर्व तृष्णामई दाहको शमन करानेवाली है। सर्व काल्पनिक सुखदुःखकी वासनाको हटानेवाली है। निर्विकल्प अतीन्द्रिय सुख-सागरमें स्नान करानेवाली है। धन्य है तू, मैं तेरी ही उपासना करता हुआ सदा स्वतंत्र रहूंगा।

१३–अतीन्द्रिय अनन्त।

एक ज्ञानी, सूर्यके समान प्रकाशित होकर सूर्य समान स्वाधीनतासे विहार करता है। अपनी ज्ञान ज्योतिसे विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको यथार्थ रूपसे जैसा उनके द्रव्य गुण पर्यायका स्वरूप है, वैसा जानता है। जैसे सूर्यसे शुभ व अशुभ, सुन्दर व असुन्दर, महान् व लघु पदार्थोंको, धनिक व निर्धनोंको, विद्वान व मूर्खोंको, धर्मकृत्य करने-वालोंको, व अधर्म कृत्य करनेवालोंको अपने प्रकाशसे झलकाता हुआ भी किसीसे रागद्वेष नहीं करता है, बिलकुल निर्विकार रहता है वैसे ही यह ज्ञानी आत्मा सर्वके स्वरूपको श्रुतज्ञानके बलसे यथार्थ जानते हुए किसीसे किंचित् भी रागद्वेष नहीं करता है। अपने स्वभावमें प्रकाश करता हुआ पराधीनताके संकटोंसे छूटा रहता है।

वास्तवमें जहां वस्तुके परिणमनमें बाधा उपस्थित हो, स्वच्छंद परिणमन न हो, वहां पराधीनता होती है । पराधीनता किसी भी द्रव्यके विकाशमें विरोधक है । स्वाधीन स्वभावमें रमण करनेवाला सदा ही सन्तोषी है व सुखी है । पुद्गल सापेक्ष दृष्टिसे देखते हुए संसारी प्राणी बन्धनमें हैं, पराधीन हैं । स्वभावके शुद्ध परिणमनसे रहित दिखते हैं । परन्तु जब इनहीं जीवोंको पुद्गल बन्ध रहित एक शुद्ध निश्चयकी दृष्टिसे देखा जाता है तब सर्व ही आत्माएं स्वाधीन, अपने शुद्ध स्वभावमें ही परिणमन करती हुई दिखती हैं । सर्व ही परम सुखी, परम शुद्ध, परमात्मावत् ज्ञानचेतना भोगी दिखलाई पड़ती है।

संसारी पराधीन प्राणीको स्वाधीन होनेका उपाय अपनी स्वतंत्रताका पूर्ण निश्चय तथा ज्ञान है। जो इस सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर लेता है व इसीका गाढ़ प्रेम होजाता है, वह वारवार इसी स्वतंत्र स्वभावका मनन, चिंतवन तथा ध्यान करता है। जिसके अभ्याससे स्वात्मानुभवी अग्नि जला पाता है। उस अग्निकी ज्वालासे पराधीनताके कारण कर्म जलने लगते हैं । आत्माकी भूमिका कर्मोंकी रजसे स्वच्छ होती जाती है। वैराग्यकी पवन उन रजोंको उड़ा देती है। इस तरह भी स्वानुभूतिका अभ्यास ही वह साधन है, जिससे परतंत्रताका नाश होता है और स्वतंत्रताका उत्पाद होता है।

मैं इस समय स्वतंत्रता तथा परतंत्रता दोनोंहीके विकल्पोंको त्याग करता हूं तथा एक ऐसी गुफामें विश्राम करता हूं जहां कोई विचार, कोई वितर्क, कोई ज्ञानके विकल्प नहीं हैं। उस निर्विकल्प समाधिरूपी गुफामें बैठकर अपनी स्वतंत्रताका आप भोक्ता होकर जिस अतींद्रिय आनन्दको पाता हूं वह मात्र स्वानुभवगम्य है।

१४–स्वतंत्रता–समुद्र ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्प जो संसारवर्द्धक हैं उनसे उपयोगको हटाकर स्वतंत्रताप्रेरक विचारोंकी तरफ बढ़ता है। उसके सामने एक महा समुद्र आजाता है जिसकी शोभा देखनेके लिये उमंगवान होजाता है। यह सागर अथाह ज्ञान–जलसे परिपूर्ण है। इसकी निर्मलतामें सर्व अनन्त ज्ञेय एकसाथ झलकते हैं। अनन्त द्रव्य अपनी अनन्त त्रिकालवर्ती, संभवित पर्यायोंके समूह हैं, गुण पर्यायवान द्रव्य हैं। ज्ञानसे इसका अमिट सम्बन्ध है। ज्ञान विना ज्ञेय नहीं, ज्ञेय विना ज्ञान नहीं। इस समुद्रके दर्शनसे सर्व विश्व दिख जाता है तब किसी अन्य ज्ञेयके दर्शनकी चिन्ता नहीं रहती है। यह समुद्र परम शीतल है। इसमें किंचित् भी गर्मी क्रोधकी नहीं है। कोई भी ताप मनका नहीं है। कोई भी लोभ या तृष्णाकी दाह नहीं है। वीतरागताकी शीतलता परमशांति प्रदायक है। इस समुद्रमें परमानंदमई रत्न भरे हैं, जिन रत्नोंका लाभ बहुत संतोषप्रद है। इस समुद्रकी कोई उपमा नहीं होसक्ती है। यह अद्भुत समुद्रमें मैं ही हूं, मेरेसे भिन्न नहीं हैं, मैं इसी स्वसमुद्रमें नित्य स्नान करता हूं, इसका शांत सुखप्रद ज्ञानरूपी जल पान करता हूं, यह परमामृत है, जो पीता है वह सदा अमर रहता है।

स्वतंत्रतामें बाधक जितना विकार है–जितना अन्तराय है वह सब समुद्रमें मज्जनसे धोया जाता है, स्वतंत्र स्वाभाविक आत्मध्वनिका प्रकाश झलक जाता है।

स्वतंत्रता ही हरएक आत्माका स्वभाव है। पुद्गल कर्म बाधक है।

उनका वियोग सुखकर है। बाधक शत्रुका संयोग एक क्षण भी हितकर नहीं है। इसी श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं, इसी ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं, इसी भावमें रमण करनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं, यही स्वतंत्र होनेका अमोघ उपाय है।

स्वतंत्रताकी हवाका आश्वासन करनेवालोंको परतंत्रताकी गंध सुहाती है। वह स्वतंत्रताकी सुगंधमें मगन होकर परमसुखी रहता है।

मैं स्वतंत्रताका दर्शन करता हुआ अपनेको सर्व विश्वका ईश्वर समझता हूं। न मुझसे कोई बड़ा है जिसकी शरण ग्रहण करूं। न कोई मुझसे छोटा है जिसे मैं शरणमें रक्खूं। मुझे तो सर्व ही ज्ञानी आत्माऐं एक समान दीखती हैं। किससे राग करूं, किससे द्वेष करूं, किसकी सेवा करूं, किससे सेवा लूं। सर्व ही परम स्वतंत्र होकर अपने अपने ज्ञानानन्द स्वभावमें मगन हैं। समभाव ही एक दृश्य है जिसमें निर्विकारता है। समभाव ही धर्म है। उसीका धारक मैं धर्मी हूं। मैं अपने धर्ममें ही चलकर अपने धर्मात्मामई पदको सार्थक कर रहा हूं। परमानन्दका विलास ले रहा हूं।

१५–अपूर्व ज्ञानशक्तिधारी।

वंधन बाधक है, स्वतंत्रताका निरोधक है, अतएव वंधनसे मुक्त होना आवश्यक है। स्वतंत्रता आत्माका धर्म है, स्वतंत्रता प्राप्तिका उपाय भी आत्माका धर्म है। स्वतंत्रता आत्माका निजी स्वभाव है, स्वतंत्रता ही सच्ची सुखशांतिका धारावाही स्रोत है।

स्वतंत्रताका लाभ स्वतंत्रता मेरे भीतर ही है। भीतर ही खोज

करनेसे प्राप्त होगी । इस तरहके श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरणसे ही होती है तब परतंत्रताका बहिष्कार होता है ।

आत्माका जो कुछ द्रव्य—स्वभाव है उसे पूर्णपने जानकर उसपर दृढ़ श्रद्धावान होनेकी आवश्यक्ता है। आत्मा आत्मा है अनात्मा नहीं है, आत्मा सत् पदार्थ है, स्वयं सिद्ध है, अनादि अनंत है, अमूर्तीक है तथा साकार है, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य वीतरागता, सम्यग्दर्शन आदि विशेष मुख्य गुणोंका सागर है। यह अरूप आत्माओंके सदृश होनेपर भी उससे भिन्न है। आत्माका स्वभाव परमात्माका स्वभाव एक है। मैं ही परमात्मा हूं, यही स्वानुभव स्वतंत्रताके पानेका वीज है।

स्वतंत्रताके वांछकोंको उचित है कि सर्व व्यवहारसे परांगमुख होजावे। और एक अन्तर्मुहूर्तके लिये भी केवल एक अपने ही आत्मांको स्वरूपकी भावनामें संलग्न होजावे। शुद्ध स्वरूपोऽहं इस छः अक्षरी मंत्रकी भावनाके द्वारा अपने स्वरूपकी भावना करे। मन, बचन, कायसे होनेवाली अनेक अवस्थाओंके विचारोंसे पूर्ण उदासीनता वर्ती जावे। मैं मन नहीं, वचन नहीं, काय नहीं, मैं पुण्य नहीं, पाप नहीं, मैं गुण व गुणीके भेदोंसे भी दूर हूं। मैं अभेद एक अखण्ड द्रव्य हूं। मैं न कर्मोंसे बन्धा हूं न स्पर्शित हूं। मैं अनादिसे अनन्त कालतक एकरूप ही रहनेवाला हूं। परिणमन होते हुए भी अपने ध्रुवभावको बनाये रखता हूं। मैं सदा निश्चल हूं, अपने प्रदेशोंमें स्थिर हूं, गुण पर्यायका समुदाय होनेपर भी मैं एक अमिट अखण्ड अभेद द्रव्य हूं। मेरा संयोग किसीसे नहीं है। मैं असंग हूं, मेरेमें ज्ञानकी अपूर्व शक्ति है, जो एक काल सर्व विश्वको अपनेमें

रख सक्ती है । ज्ञान ज्ञातव्यको जाननेके लिये अपूर्व शक्ति रखता है। जैसे एक प्रदेशपर अनन्त परमाणुके सूक्ष्म स्कंध समा सक्ते हैं तौभी अपनी अपनी सत्तासे भिन्न है वैसे ही एक ज्ञानमई आत्माके एक प्रदेशमें सर्व ज्ञेय-जानने योग्य विषय समा सक्ते हैं । यह वात प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है । एक विद्वान वैद्य अपने ज्ञानमें हजारों औषधियोंका एकसाथ ज्ञान रखता है, एक वकील सैकड़ों कानूनोंका एकसाथ ज्ञान रखता है, एक विज्ञान ज्ञाता एकसाथ हजारों विज्ञानके प्रयोगोंको जानता है । मन द्वारा विचार व वचन द्वारा प्रकाश क्रमसे होता है । मैं ऐसी ही अद्भुत अपूर्व ज्ञानशक्तिको रखनेवाला हूं । इसतरह जो कोई केवल एक आत्माको आत्मा रूप ही आत्माके द्वारा भाता है-उसीके रसका रसिक होजाता है वह स्वतंत्रताके भावसे स्वतंत्र सुखका अनुभव करता हुआ परम संतोषी वना रहता है ।

१६-अवक्तव्य स्वतंत्रता ।

स्वतंत्रता कहां है ? अपने ही पास है । जैसे किसीके हाथमें सुवर्णमुद्रिका हो और वह विस्मृत होजावे व उसे यह समझकर कि वह गिर गई है, दूर दूर ढूंढ़ता फिरे व स्मरण आते ही अपने हाथमें ही मुद्रिकाको देखकर प्रसन्न हो जावे, इसी तरह स्वतंत्रता अपने ही आत्मामें है। हम अनादिकालसे उसे भूले हुए हैं। श्रीगुरुके प्रसादसे खबर होगई है कि आत्मिक स्वतंत्रता अपने ही पास है। परतंत्रताके कारणोंसे, असहयोग करनेहीसे वह स्वयं प्रकाशमान होने लगती है।

पर द्रव्यसे रागद्वेष, मोह करना ही परतंत्रताकी शृंखलाएं हैं।

इन रागद्वेष मोहको दूर करके वीतराग स्वभावमें कल्लोल करनेकी आवश्यकता है। जैनसिद्धान्त प्रतिपादित निश्चयनयकी दृष्टिको अब खोलना चाहिये। व्यवहारकी अशुद्ध दृष्टि बंद करनी चाहिये।

शुद्ध दृष्टिसे देखनेसे यह जगत क्रिया रहित, शब्द रहित, परिणमन रहित, एक समान, द्रव्य स्वरूप बिलकुल सम दिखलाई पड़ता है। जितने पुद्गल हैं वे सब परमाणु रूप स्वभावमें दिखते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश भी अपने अपने स्वभावमें प्रगट होते हैं। तथा सर्व जीव भी एकाकार शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, अमूर्तिक निर्विकार, परमानन्दमय व परम वीतराग दिखलाई पड़ते हैं।

इस दृष्टिको बारबार अभ्यासमें लानेसे अपना स्वभाव सदा स्वतंत्र एकरूप परम परमात्मारूप दिखता है। समभावका प्रकाश छा जाता है। जैसे सरोवर निर्मल हो, स्थिर हो तब उसके भीतर पड़े हुए पदार्थ ठीक २ झलकते हैं, वैसे निर्मल व स्थिर आत्माके उपयोगमें आप व पर सर्व ज्ञेय या जाननेयोग्य पदार्थ ठीक २ झलकते हैं।

निश्चय दृष्टिके धारावाही देखते हुए मैं एक ऐसे स्थलपर पहुंच जाता हूं जहां दृष्टा व दृश्यका भेद मिट जाता है, ज्ञाता ज्ञेयका विकल्प दूर होजाता है, स्वानुभवकी दशा प्रगट होजाती है, निजानंदमें विश्रांति होती है, परमामृतका पान होता है, साक्षात् स्वतंत्रताका उपभोग हो जाता है। इस स्वानुभवमें परम अद्वैतभाव आजाता है, द्वैत अद्वैतका भी विकल्प मिट जाता है। जब उपयोग किसी पदार्थके स्वाद ग्रहण करनेमें तन्मय होता है तब उसकी स्वसंवेदन शक्ति यही काम करती है। जहां आपसे ही आपका ही वेदन हो वहां भी उपयोगकी थिरता

होती है। मैं इसी स्वानुभव द्वारा अवक्तव्य स्वतंत्रताका आनंद लेता हुआ परम तृप्त होरहा हूं।

१७–परमानन्द विलासी।

स्वतंत्रता हरएक आत्माका स्वभाव है। इसे कहींसे प्राप्त नहीं करना है। जो ज्ञानी हैं वे सदा स्वतंत्र हैं। हमें पर्यायार्थिक दृष्टि या व्यवहारनयका सर्व प्रपंचजाल बुद्धिसे दूर करना होगा। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्षका विकल्प मिटाना होगा। रागद्वेष मोहके कारणोंको दूर फेंकना होगा। आकुलताके कारणोंको परे रखना होगा।

परमार्थ दृष्टि जयवन्त हो। इस दृष्टिके द्वारा देखनेसे परम कल्याण है। सर्व विश्वके पदार्थ इस दृष्टिसे अपने२ स्वभावमें दिखलाई पड़ते हैं। सर्व द्रव्य अपने२ मूल स्वभावमें रहते हुए अपनी परम सुन्दरताका प्रकाश कर रहे हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल तथा पुद्गल इन पांच अजीव द्रव्योंकी सत्ताका निषेध नहीं किया जा सक्ता। इनके रहते हुए भी परमार्थ दृष्टि देखती है कि सर्व जीव भिन्न भिन्न सत्ता रखते हुए भी समान हैं, सर्व ही असंख्यात प्रदेश धारी हैं, सर्व ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि अपने सर्व गुणोंसे पूर्ण हैं, सर्व ही परम समभावमें तल्लीन हैं, सर्व ही स्वतंत्र हैं। विना किसी बाधक कर्मके प्रभावको पाए हुए सर्व ही अपने स्वभावोंमें उसी कल्लोल करते हुए आनंदित हैं जैसे क्षीरसमुद्र अपनी शुद्ध

कल्लोलोंको रखते हुए निर्मल व निर्विकार रहता हुआ परम शोभाको विस्तारता है। सर्व आत्माएं परम सुखी हैं। मैं भी परम सुखी हूं। मेरे साथ भी किसी पर वस्तुका सम्बंध नहीं है। अपनेको परमात्मा स्वरूप अनुभव करते हुए ही स्वतंत्रताका भान होता है। परतन्त्रताकी वासना भी नहीं रहती है।

जहां स्वरूपमें ही वास है, स्वरूपमें ही स्थिति है वहां किसी पर द्रव्यकी, पर गुणकी, पर पर्यायकी शक्ति नहीं है जो कोई प्रकार विकार उत्पन्न कर सके। जिसने मन वचन कायको गोपकर गुप्तिका दृढ़ किला बना लिया है व जो इस किलेके भीतर परम संवरके साथ उपस्थित है, वहां क्रोध, मान, माया, लोभादिके आस्रव प्रवेश नहीं पासकते हैं। एक परमाणु भी उसके आत्मप्रदेशोंमें नहीं ठहर सकता है।

वास्तवमें परम सुखके अर्थीको बाहरी पदार्थोंका आलम्बन छोडकर निरालम्बनमई निज आत्माके ही भीतर विश्राम करना होगा, वहीं रमण करना होगा। स्वस्वरूपमें तन्मय होना ही स्वतंत्र होना है। इस आत्मीक बलके होते ही परतंत्रताके कारण सर्व द्रव्य व भाव पलायन कर जाते हैं। अतएव मैं सर्व अन्य कार्योंसे उदासीन होकर एक अपने आत्मीक अनुभवरूपी कार्यमें संलग्न होता हुआ परमानन्दका विलास पाकर परम हर्षका अनुभव कर रहा हूं।

१८–स्वतंत्रतादेवीके चरणोंमें।

स्वतंत्रता कहां है? जो कोई खोजने निकलता है उसे यह स्वतंत्रता अपने ही पास दिखती है। स्वतंत्रता अपने ही आत्माका

स्वभाव है। तौभी रागद्वेष मोहादि भावोंके द्वारा प्रचलित अनेक संकल्प विकल्पोंके घोर आवरणोंके भीतर यह प्रच्छादित हो रही है । इसको इसी जीवनमें अनुभव प्राप्त करनेके लिये व परतंत्रताके कारणोंको विध्वंश करनेके लिये यह आवश्यक है कि ऐसे एकान्त स्थानकी शरण ली जावे जहांपर पांचों इन्द्रियोंको लुभानेवाले साधन न हों, न जहां कोलाहल हो । जहां मन ऐसी स्थितिमें हो कि उसको विश्रांति लेनेके लिये कोई बाहरी आकर्षण न हो। वह घूम फिरकर अपने ही आत्माके तरफ आ सके, जैसे समुद्रके भीतर उड़नेवाले पक्षीको सिवाय एक जहाजके कोई और आलम्बन नहीं मिलता है, जहां वह विश्रांति भजे ।

सर्व बाहरी आकर्षणोंसे रहित होकर भीतरके शत्रुओंको पराजय करना चाहिये। बलत्कार अपने उपयोगको सर्व भूत, भावी, वर्तमान मन, वचन, कायकी क्रियाओंसे, उनके द्वारा बंध होनेवाले कर्मोंसे, कर्मोंके नानाप्रकारके बाहरी व भीतरी फलोंसे हटाना चाहिये । इसके सिवाय सर्व अन्य पर द्रव्योंसे भी उन्मुख होकर एक अपने आत्माके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें अनुरक्त होना चाहिये । मैं ही ध्याता, मैं ही ध्येय, मैं ही ध्यान, इस तीन प्रकारके भावोंके एकीकरण भावमें अद्वैत भावमें अपने उपयोगको संयोजित करना चाहिये। जहां आत्मा आत्मामें ठहरा, स्वानुभवका प्रकाश हुआ, वहीं स्वतंत्रताका साक्षात दर्शन होजाता है। इस दर्शनको ही देवदर्शन कहते हैं, गुरु समागम कहते हैं, धर्मसेवा कहते हैं, स्वाध्याय कहते हैं, मोक्षरूप रुचि कहते मोक्षका ज्ञान कहते हैं व मोक्षका चारित्र कहते हैं ।

स्वानुभवको पाना ही स्वतंत्रताके पानेका मार्ग है। स्वतंत्रताके अनुभवसे ही सच्चा आनन्द है, जो आनन्द इन्द्रियोंकी पराधीनतासे रहित है, जो आनन्द आत्माका स्वभाव है। इस आनन्दको ही ध्यानकी अग्निका तेज कहते हैं। इसीके द्वारा कर्ममल भस्म होता है और आत्मा प्रकाशता चला जाता है। मैं अब सर्व अन्य कामोंसे विमुख होकर एक अपने ही काममें लगता हूं। निश्चिन्त होकर एकांतसेवी हो परम निरंजन आत्मारूपी देवका आराधन करके स्वतंत्रता देवीके चरणोंमें पहुंच जाता हूं और उसीके चरणोंमें सर झुकाकर भक्तिमें आसक्त होता हुआ परम संतोषपूर्ण आनंद ले लेता हूं।

१९–स्वानुभव वचन-अगोचर है।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताका प्रेमी होकर यह विचार करता है कि स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो। स्वतंत्रता ही सुखका अमूल्य साधन है। परतंत्रता दुःखका प्रवाह बहानेवाली है। अनादि कालसे इस संसारी जीवके साथ पुण्य व पापकर्मोंका सम्बन्ध है। इनमें घातीय कर्मोंके आवरणसे आत्माकी स्वतंत्रता छिपी हुई है। जैसे सूर्यके ऊपर मेघोंका पटल आजावे तो उसका प्रकाश छिप जाता है वैसे आत्माका प्रकाश छिपा हुआ है। तथापि यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जावे तो मेघोंके भीतर जैसाका तैसा प्रकाश कर रहा है। उसकी गति व स्वभाव प्रकाशमें कोई बाधा नहीं है। इसी तरह यदि आत्माको सूक्ष्म निश्चय दृष्टिसे देखा जावे तो वह स्वतंत्र ही है। स्वभाव ही में है। वह अपने पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य व वीतराग भावमें कल्लोल कर

रहा है। अपने आत्माको व जगतकी सर्व आत्माओंको एक समान शुद्ध देखना, जानना, रागद्वेषको निर्मूल कर देना है, साम्यभावका प्रकाश कर देना है।

साम्यभाव ही वह उपाय है जिससे कार्यकी परतंत्रता कटती है व आत्म-स्वतंत्रता निकट आती है।

समभावमें ही सम्यक्त है, समभावमें ही ज्ञान है, समभाव हीमें चारित्र है, समभाव हीमें तप है, समभाव हीमें मोक्षमार्ग है, समभाव परम मंगलकारी उपाय है।

निश्चयनयके द्वारा देखनेसे समभावोंका विचार आता है। इसतरह समभावके वातावरणको पाकर मैं निश्चयनयके विचारको भी बन्द करता हूं और सर्व नयोंके पक्षोंसे अतीत होकर एक अपने ही आत्मीक द्रव्यमें आपसे ही तन्मय होता हूं। आपको ही देखता हूं, आपको ही जानता हूं, आपको ही आचरण करता हूं, आपमें ही रमण करता हूं। इस धारावाही ज्ञानके द्वारा मैं स्वानुभवको जगा लेता हूं। स्वानुभवको पाना ही आत्म स्वातंत्र्यका उपभोग है, जहां परमानन्दका स्वाद आता है।

स्वानुभव-वेदीके भीतर सर्व विचारधाराका वहाव रुक जाता है। वह तो इसतरह आपसे आपमें घुल जाता है जैसे लवणकी डली पानीमें घुल कर एक हो जाती है। यही विकल्प रहित निराकुल दशा है। यही सिद्धगतिको जानेका सोपान है।

मैं अब संसारके पतनके मार्गसे उठकर सिद्ध सोपान पर आरूढ़ होता हूं। स्वानुभवकी ही चौथे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान

तक ग्यारह सीढ़ियां हैं। जो प्रथम सीढ़ीपर पग रखता है और निश्चलतासे जमाकर रहता है वह आगे २ की सीढ़ीपर पग रखता हुआ बढ़ता हुआ चला जाता है। और एक दिन स्वानुभवकी पूर्णताको पाकर सिद्धगतिमें पहुंचकर अनन्तकालके लिये विश्राम करता है। मैंने आज स्वानुभवको पाकर जो आनंद प्राप्त किया है वह वचन अगोचर है।

२०—स्वतंत्रता मोक्षका मार्ग है।

स्वतंत्रतादेवीकी पूजा करना परमपवित्र कर्तव्य है। स्वतंत्रतादेवीका वास हरएक आत्माके प्रदेशोंमें है। इस स्वतंत्रताकी पूजा करना परमानंदका कारण है। स्वतंत्रताके सहवासमें आत्मीक शक्तियोंका विकाश होता है। परतंत्र जीवन नरक समान है।

अनादिकालसे पुद्गलकी अनन्त शक्तिने आत्माकी शक्तिको कीलित कर रक्खा है। इस कारण यह आत्मा पुद्गलके फंदमें पड़ा हुआ रात दिन इंद्रिय विषयोंके लिये आकुलित रहता है। मोहनीय कर्मके कारण मोही होता हुआ अहंकार व ममकारमें फंसा रहता है। अपने स्वरूपको भूले हुए ही परतंत्रताकी वेड़ीमें जकड़ा हुआ है।

यदि वह अपने द्रव्य स्वरूपको पहचाने, अपनी अनन्त शक्तिको जाने, अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय स्वभावकी श्रद्धा लावे, अपनेको सिद्ध परमात्मासे किसी तरह कम न समझे, अपनेको परमैश्वर्यधारी वीर आत्मा माने और परतंत्रताके कारण इन आठ कर्मोंसे उदासीनता लावे, इन कर्मोंके बन्धनोंको काटनेयोग्य समझे, दृढ़ सम्यक्ती होकर

स्वानुभवकी अग्नि जलावे, तो कर्मोंके वंशोंको भस्म करता हुआ चला जावे ।

स्वानुभव–भेदविज्ञानके प्रतापसे स्वयं उमड़ कर आता है। स्वानुभव अपने स्वरूपके वेदनको कहते हैं। जब यह उपयोग सर्व परसे उदास होकर अपने ही स्वरूपमें आसक्त होकर आपसे आपमें रमण करता है तब ही स्वानुभवका उदय हो जाता है।

स्वानुभव प्राप्त करना स्वतंत्रता देवीकी पूजा है, स्वतंत्रताके किलेमें वास करना है। स्वतंत्रताकी निर्मल सुगंधका लेना है। स्वतंत्रताके निर्मल रसको पान करना है।

स्वानुभवके प्रतापसे सर्व परतंत्रताके कारण कर्मोका दोष होता है और यह आत्मा सदाके लिये पूर्ण स्वतंत्र होजाता है।

इसी उपायसे अनंत आत्माओंने स्वतंत्रता लाभ की है। जो परके मोही रहकर भी परके बंधनसे छूटना चाहते हैं वे परतंत्रताकी बेड़ीमें जकड़े रहकर ही स्वतंत्र होना चाहते हैं, सो कभी हो नहीं सक्ता।

परतंत्रताके कारणोंके साथ पूर्ण असहयोग करना और स्वतंत्रताके साथ पूर्ण प्रेम करना ही स्वतंत्रता प्राप्तिका साधन है।

मैं अब सर्व परतंत्रकारी भावोंसे वैराग्यवान होकर अपने ही स्वतंत्र ज्ञानानन्दमय स्वभावमें विश्रांति लेता हूं और अपने ही शुद्ध भावको अपने ही भीतर रमाता हूं। यही उपाय सदा परमानंदका दाता व मोक्षका मार्ग है।

२१–मेरा सच्चा प्रभु ।

एक ज्ञानी महात्मा एकान्तमें बैठकर अपनी स्वतंत्रताका स्मरण कररहा है । परतंत्रताके कारणोंको दूर करनेका विचार कर रहा है ।

इसको भासता है कि यह परतंत्रता उसीकी ही बनाई हुई वस्तु है । उसीने ही जगतके परपदार्थोंसे मोह किया, रागद्वेष किया । तब ही पुण्य व पाप कर्मोंका बंधन होगया । उन बंधनोंसे जकड़ कर उसके आत्माका स्वभाव आच्छादित होता रहा । उसका विकास रुक्ता रहा। वह कर्मजनित भावोंमें आपापना मानता रहा । जो अपना नहीं है उसको अपनाता रहा । इस अज्ञानमय अहंकार तथा ममकारके कारण यह अपने स्वभावको बिलकुल भूलता रहा । तब परपुद्गलका स्वागत करता रहा । तब परपुद्गलका सहयोग सदा ही मिलता रहा । कभी भी आपको आप जाना नहीं । आपका श्रद्धान किया नहीं । आपसे आपका स्वाद लिया नहीं । इसीसे परतंत्रताकी बेड़ीमें जकड़ा हुआ देव, मानव, तिर्यञ्च तथा नरकगतिमें पड़कर कर्मोंका भोग करता हुआ आकुलित रहा, कभी भी निराकुल अध्यात्मिक आनंदका स्वाद पाया नहीं । अपूर्व व अनुपम सम्पत्ति अपने ही आत्मामें भरी है उसका कभी खयाल नहीं किया। सुख शांतिके लिये रात दिन लालायित रहा। यह कभी नहीं जाना कि वह अपने ही भीतर है। जैसे कोई जन अपनी मुट्ठीमें सुवर्ण दबा होनेपर भी भूल जावे और उसे यह समझकर कि कहीं गिर गया है तीन लोकमें ढूंढ़ता फिरे तब भी उसे मिल नहीं सकता यही दशा इस मुझ परतंत्र आत्माकी हुई है। अपनी सुखशांति अपने ही पास है तौ भी मैं बिलकुल भूला हुआ रहता चला आया ।

श्री जिनेन्द्रके चरणकमल प्रतापसे श्रीगुरुकी वाणीका लाभ हुआ। श्रीगुरुने पता बता दिया है, मुझे मेरा भण्डार सुझा दिया है, मुझे सुख शांतिके लाभका उपाय जंचा दिया है। मेरी आंखें खुल गई हैं। अनादिकालसे जो ज्ञानकी आंख बंद थीं वह श्रीगुरुके उपदेशरूपी अंजनके प्रतापसे उघड़ गई हैं। जो जगत रागद्वेष मोहवर्द्धक दीखता था वही जगत द्रव्यार्थिकनयसे देखते हुए समरूप दिखाई पड़ रहा है।

मुझे अब पर पुद्गलसे रागद्वेष मोह दूर करना है। वीतराग भावोंमें कल्लोल करना है। अपने ही आत्माके ज्ञानानंदमय स्वभावमें श्रद्धान रखना है। अपनी ही अमूर्तीक तेजस्वी सूरतकी झांकी करनी है। वही मेरा सच्चा प्रभु है, वही मेरा सच्चा मित्र है, वही मेरा सच्चा पथप्रदर्शक है। वही ध्येय है, मैं ध्याता हूं। वही ज्ञेय है मैं ज्ञाता हूं। वही पूज्य है मैं पूजक हूं। वही दृश्य है मैं दृष्टा हूं। वही आराध्य है मैं आराधक हूं। इतने दरजे तक पहुंचकर आपमें तो बिलकुल आपमें ही एकतानतासे विश्राम करता हूं। ध्येय ध्याता पूज्य पूजककी तरंगोंसे मुक्त होता हूं। समुद्रकी भांति निश्चल होकर पूर्ण स्वतंत्रताका स्वाद लेता हुआ अद्भुत आनंद प्राप्त करता हूं। वह आनंद मन वच कायसे अगोचर है। केवल अनुभवगम्य है।

२२—स्वानुभव ।

एक ज्ञानी आत्मा निश्चिन्त होकर स्वतंत्रताका मनन करता है तब यह जानता है कि हरएक आत्मामें एक सामान्य अगुरुलघु गुण है जिसके कारण हरएक आत्मद्रव्य, जिन अपने अनंतगुण व अनंत

पर्यायोंका स्वामी है, उन अनंतगुण व पर्यायोंका सदा स्वामी बना रहता है। एक भी गुण उसमें अधिक जुड़ता नहीं, एक भी गुण उसमेंसे निकल जाता नहीं, जगतमें किसीकी सामर्थ्य नहीं है जो द्रव्यकी इस स्वाभाविक स्वतंत्रताको हरण कर सके। इसीलिये हरएक आत्मा अपने द्रव्यमई स्वभावसे परम स्वतंत्र है, किसीके आधीन नहीं है जो द्रव्यकी इस स्वाभाविक स्वतंत्रताको हरण कर सके। इसीलिये आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र, आनंद आदि गुणोंके भीतर कल्लोल कर रहा है, परमानंदका अनुभव कर रहा है।

जहां कोई भी बाधक कारण नहीं होता है वहीं पूर्ण स्वतंत्रताका साम्राज्य रहता है।

जो किसी भी प्रकारकी परकी शृंखलामें बद्ध हो जाता है वह पराधीनताका महान कष्ट सहन करता है। संसारी जीव कर्मोंकी शृंखलासे बद्ध होते हुए व अपनी शक्तियोंका विकास न पाते हुए रागद्वेष मोहके विकारोंसे विकृत होरहे हैं इसलिये कर्मबन्धकी संतति चलती रहती है। कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाका अनुभव आता रहता है। कभी भी ज्ञानचेतनाका अनुभव नहीं आता।

अन्तरात्मा सम्यक्ती जीव इस पराधीनताके भीतर रहते हुए भी शुद्ध निश्चयनयके प्रतापसे अपने स्वरूपको परसे भिन्न अनुभव कर लेता है। वह ज्ञानी जानता है कि भिन्न २ द्रव्योंके सम्बन्ध होनेपर भी तथा परस्पर एक दूसरेमें विभावता उत्पन्न करनेपर भी एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है। वह द्रव्य अपनी द्रव्य शक्तिसे सदा ही स्वतंत्र व पूर्ण बना रहता है। इस द्रव्य शक्तिका श्रद्धान

ज्ञान तथा अनुभव करना ही वह उपाय है, जिससे परतंत्र व्यक्ति कर्मोंके बन्धनसे धीरे २ छूटकर स्वतंत्रताका प्रकाश कर लेता है।

स्वानुभव ही स्वतंत्रता पानेका मार्ग है। स्वानुभव ही वह उपाय है जिससे आत्मानंदका स्वाद आता है। स्वानुभवके ही प्रतापसे इस कल्पकालके ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकरोंने अपनी अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की है। मैं भी इस भवबंधनमें जकड़ा हुआ होकर उससे छूटनेके लिये स्वानुभवकी शरण लेता हूं। मुझे निश्चय है कि स्वानुभवके प्रतापसे ही मैं अपनी स्वतंत्रताको पाकर परमानंदित रहता हुआ सदा ही मुक्त व स्वतंत्र रहूंगा।

२३–आत्मानुभूतियां।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर एकान्तमें बैठकर अपने आत्माकी स्वतंत्रता पर विचार करता है। वह मन जो सर्व प्रकारका तर्क वितर्क करता है जिसके द्वारा आत्मा व अनात्माका भेद ज्ञान मनन किया जाता है, कभी दृढ़ संकल्प करता है कभी संकल्पको शिथिल करदेता है वह मन मैं नहीं हूं। मैं मनसे परे एक अनुभवगम्य द्रव्य हूं। मेरी भूमिकाको कोई भी पर द्रव्य आत्मा हो या अनात्मा, परमाणु हो या स्कंध, द्रव्यकर्म हो भावकर्म हो या नोकर्म हो स्पर्शित नहीं कर सक्ता है। मैं सबसे निराला हूं। अनुपम बेमिसाल हूं। मैं सदा ही स्वतंत्र हूं। स्वतंत्रतासे ही अपने अनंत गुणोंमें परिणमन करता रहता हूं। इस मेरी स्वतंत्रताको कोई हरण नहीं कर सक्ता। कोई कम या अधिक नहीं कर सक्ता है। इस स्वतंत्रताके

वासको जो यह मानता है और जो इसी निज स्वरूपका दर्शन करता है वही स्वतंत्र होजाता है।

जो जैसी भावना भावै वह वैसा होजावे। स्वतंत्र स्वरूपकी भावना स्वतंत्र करनेवाली है। व्यवहार नयके द्वारा जितना भी संसारका नाटक दीख रहा है उस सबको असत्य व मायाजाल जानकर व्यवहारकी ओरसे मुखको मोड लेना चाहिये। स्वप्नमें भी व्यवहार पर लक्ष्य न देना चाहिये।

मात्र एक निश्चय नयका ही आश्रय करना चाहिये। निश्चयनय परम शरण है, परम उपकारी है, परम मंगल स्वरूप है। शुद्धात्माको प्रत्यक्ष दिखलानेवाली है। राग द्वेष मोहकी जडको काटनेवाली है। परमानन्दका स्वाद दिखलानेवाली है। कर्मोंके बन्धको काटनेवाली है। आपको आपसा ही बतानेवाली है। पर आत्माओंको भी आपसा झलकानेवाली है। सर्व विश्वमें शांतरसका प्रवाह बहानेवाली है। आनन्दामृतका समुद्र झलकानेवाली है। स्वतंत्रताका साक्षात् दर्शन करानेवाली है। मैं इसलिये निश्चयनयका आश्रय लेता हूं।

अपनेको एकाकी परमानन्द स्वरूप अनुभव करता हूं। जब स्वानुभवमें जम जाता हूं, तब निश्चयनयके सहारेको भी छोड़ देता हूं। जब छतपर पहुंच गए तब जीनेकी सीढ़ियोंका क्या काम?

जब अपना प्रभु अपनेको मिल गया तब निश्चयनयका विचार या व्यवहारनयका विचार दोनों भी अकार्यकारी हैं। मेरा स्वरूप तो नय, प्रमाण, विक्षेपादि विकल्पोंसे शून्य है। तथापि अनंत स्वाभाविक गुणोंका स्वामी होनेसे अशून्य है। मैं अपने ही अलौ-

किक अमूर्तिक गृहमें विश्रांति लेता हूं और परम रुचिसे अपनी आत्मानुभूति तियाका दर्शन करके परम संतोषी होजाता हूं ।

२४–मानव धर्म ।

एक ज्ञानी आत्मा परतंत्रताके फंदेमें पड़ा हुआ विचारता है कि इस फंदेसे कैसे छुट्टी पाऊं। तुर्त उसका विवेक ज्ञान उसे यह बुद्धि देता है कि परतंत्रताको देखना ही परतंत्रताका स्वागत करना है। परतंत्रताका नाश तब ही होगा जब परतंत्रताके ऊपर दृष्टिपात न करके केवल स्वतंत्रतापर दृष्टि रखकर स्वतंत्रताका ही मनन किया जायगा। परतंत्रतासे उदासी तथा स्वतंत्रतासे मित्रता ही परसे असहयोग व स्वयंसे सहयोग ही स्वतंत्रताका साधन है। मैं केवल एक आत्मा द्रव्य हूं। अनात्माका मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मामें आत्मापनेका अस्तित्व है। आत्मापनेका नास्तित्व है। आत्मा आत्मा ही है, अन्य कुछ नहीं है। न इसमें कोई विकार था, न है, न हो सकता है। न इसमें मिथ्यात्व था न है न होसकता है। न इसमें अज्ञान था न है न हो सकता है। न इसमें असंयम था न है न हो सकता है। न इसमें कषाय भाव था न है न हो सकता है। न इसमें चंचलता थी न है न हो सकती है। यह तो परम शुद्ध द्रव्य है। अपने ही सामान्य तथा विशेष गुणोंका अटूट व अमिट भण्डार है। परम ज्ञानी है, परम वीर्यवान है, परम सम्यक्ती है, परम वीतराग है, परमानंदमई है, परम आत्मीक रसभोगी है, परम कृतकृत्य है। न कर्ता है न भोक्ता है। न वहां उत्पाद है न वहां नाश है। वह तो टंकोत्कीर्ण स्वसमाधिमय स्वस्वरूपावलंबी है। कोई भी सांसारिक व वैभाविक

परिणमनका वह स्थान नहीं है। सर्व प्रकारकी कल्पनाओंसे अतीत है। मनमें जिसका स्वरूप विचारा नहीं जासक्ता, वचन जिसे प्रगट नहीं कर सक्ते। कायकी चेष्टासे भी वह जाननेमें नहीं आता। ऐसा कोई अपूर्व आत्मा मैं हूं। मैं पूर्ण स्वतंत्र हूं। केवल स्वानुभवगम्य हूं। परसे अव्यक्त हूं। आपसे आपको व्यक्त हूं। ऐसे स्वतंत्र स्वरूप पर लक्ष्य रखना, परतंत्रतासे पूर्ण उपेक्षित होजाना, यही स्वतंत्र होनेका अमोघ मंत्र है। इस अमोघ मंत्रके प्रयोगमें कष्ट नहीं, आकुलता नहीं, परिश्रम नहीं, परावलम्बन नहीं, परसे कोई याचना नहीं।

अपने ही आत्माके निर्मल प्रदेशरूपी घरमें विश्राम करना स्वतंत्रताका उपभोग करना है। अनन्तान्त सिद्ध स्वतंत्रता भोगी हैं। अनेक अरहंत स्वतंत्रता भोगी हैं। सर्व ही आचार्य, उपाध्याय, व साधु स्वतंत्रता भोगी हैं। सर्व ही श्रावक स्वतंत्रता भोगी हैं। सर्व ही सम्यग्दृष्टी स्वतंत्रता भोगी हैं। स्वतंत्रता ही जिनधर्म है। जो स्वतंत्र है वही जैनी है, जो स्वतंत्र है वही सम्यग्दृष्टी है, जो स्वतंत्र है वही आर्य है, जो स्वतंत्र है वही महाजन है, जो स्वतंत्र है वही क्षत्रिय है, जो स्वतंत्र है वही ब्राह्मण है, जो स्वतंत्र है वही मानव है। स्वतंत्रता ही मानवका धर्म है। मैं इस धर्मको धारण कर उत्तम अतीन्द्रिय सुखका भोग कर रहा हूं।

२५—आत्मा पर आरोप!

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारकी चर्चाओंसे उदासीन होकर एकांतमें जाता है और थिरतापूर्वक आत्म—स्वातंत्र्यका स्वरूप विचार करता है।

आत्माका स्वतंत्र स्वभाव सर्व विचारोंसे रहित है, निर्मल स्फटिकके समान है, पवित्र कालके समान है, स्वच्छ वस्त्रके समान है, कुन्दन सुवर्णके समान है, शुद्ध चावलके समान है। सूर्यके समान स्वपर प्रकाशक है। चन्द्रमाके समान शांत आत्मानन्द अमृतका वर्षानेवाला है। कमलके समान सदा प्रफुल्लित है। उस आत्माके शुद्ध स्वभावमें कोई भी बाधक कारण नहीं है। किसी भी कर्मके परमाणुकी शक्ति नहीं है, जो उसके स्वरूपमें प्रवेश कर सके व कोई विकार उत्पन्न कर सके।

आत्माका स्वभाव परम स्वतंत्र है। उसमें परतंत्रताकी कल्पना करना आत्माके स्वभावकी निंदा करना है। संसार आत्माके है यह कहना आत्माका बड़ा भारी अपवाद है।

आत्मा रागी है, द्वेषी है, क्रोधी है, मानी है, मायावी है, लोभी है, भयवान है, जुगुप्सावान है, रतिरूप है, अरतिरूप है, शंकारूप है, कामी है, इच्छावान है, अज्ञानी है, अल्पवीर्यवान है, नारकी है, देव है, पशु है, मनुष्य है, एकेंद्रिय है, द्वेन्द्रिय है, तेइन्द्रिय है, चतुरिंद्रिय है, पंचेन्द्रिय है, बालक है, वृद्ध है, युवान है, बन्धमें है, बन्धको काट रहा है, बन्धको काट चुका है, आत्मा आस्रववान है, आत्मा मिथ्यात्वी है, आत्मा अविरत है, आत्मा कषायवान है, आत्मा चंचल है, आत्मा संवर कर रहा है, आत्मा धर्मध्यान साध रहा है, आत्मा शुक्लध्यान कर रहा है, आत्मा तापसी है, आत्मा उपवास करता है; आत्मा ऊनोदर करता है, आत्मा रसत्यागी है, आत्मा प्रायश्चित्त लेता है, आत्मा विनयवान है, आत्मा वैय्यावृत्य करता है, आत्मा कायोत्सर्गमें है; इत्यादि सर्व ही

आरोप आत्माके स्वतंत्र स्वभावमें बाधा उत्पन्न करनेवाले हैं। कर्मोंकी संगतिसे जो जो अवस्था विशेष होती है उनको आत्माकी कहना व्यवहार है, उपचार है—यथार्थ नहीं, भूतार्थ नहीं।

जो भव्यात्मा सर्व व्यवहारकी मलीन दृष्टिको दूर करके केवल निश्चयकी शुद्ध दृष्टिको रखता हुआ देखता है उसे हरएक आत्मा परम स्वतंत्र झलकता है। यही स्वतंत्र झलकाव, स्वात्मानुभवका कारण है। स्वात्मानुभव ही साधकके लिये साध्य प्राप्तिका उपाय है। अंतरंगमें सर्व तरहसे निश्चिन्त होकर एक अपने ही स्वतंत्र आत्म-स्वभावका मनन करता हुआ आत्मानन्दका स्वाद लेता हुआ परम तृप्त होरहा हूं।

२६—आत्मा और कर्म।

एक ज्ञानी आत्मा परम संतोषके साथ अपने भीतर स्वतंत्रताका स्मरण करके परम आनन्दित होजाता है। स्वतंत्रता अपने ही आत्माका एक गुण है। वह कभी गुणी आत्मासे अलग नहीं होसक्ता है।

स्वतंत्रताका ध्यान ही स्वतंत्र होनेका उपाय है। आत्माके साथ कर्मोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म सब जड़ हैं। आत्मा चैतन्य धातुमय मूर्तिधारी है। कर्म क्षणभंगुर है। आत्मा स्वभावसे अविनाशी है। कर्म विभाव भावोंके उत्पादक हैं। आत्मा स्वयं शुद्ध स्वभावधारी है। कर्म सांसारिक दुःखसुखके मूल बीज हैं। आत्मा स्वयं आनंद-स्वरूप है। इस तरह जो आत्माको आत्मारूप जानकर आत्माको अपनाता है वह सदा ही आनंदमें कल्लोल करता है। कर्म पुद्गल परमाणुओंके समूहरूप है, अनेक रूप है। आत्मा कर्म पटल रहित

बिलकुल शुद्ध सूर्य समान प्रकाशमान है। कर्मोंका स्वभाव मेरे आत्माके स्वभावसे सर्वथा भिन्न है।

यद्यपि अनादिकालसे कर्मोंके तीव्र उदयने ही आत्माकी शक्तियोंको कील रक्खा है तौभी कर्मोंका कोई सम्बन्ध इस आत्मासे नहीं है—मैं निराला हूं। त्रिकालमें भी आत्माका कोई सम्बन्ध इन कर्मोंके साथ नहीं है। कर्मरहित आत्माहीको सिद्ध भगवान कहते हैं। तो क्या मैं वास्तवमें शुद्ध हूं? निःसन्देह मैं परम शुद्ध हूं।

इस सम्यक् प्रतीतिको लिये हुए जो कोई साधक आत्माकी सिद्धिके लिये कटिबद्ध होजाता है वह केवल एक निज आत्माका ही मनन करता है। इसी वस्तुके विचारसे यह भव्य जीव अपने भीतर मोक्षमार्गका झलकाव पालेता है। सर्व विश्व निराला है, मैं निराला हूं, मैं यद्यपि विश्वही मैं हूं तथापि निर्लेप हूं। इस अपनी स्वानुभूतिके प्रतापसे स्वानुभूतिमय मोक्षका विश्वास कर लेना ही मुमुक्षु जीवका कर्तव्य है।

ज्ञानी एक अपने ही आत्म द्रव्यको पुद्गलके समूहमेंसे उसी तरह खींच लेता है जिस तरह न्यारिया रज समूहसे सुवर्णको खींच लेता है। मधुमक्षिकाएं पुष्पोंसे मधुरसको भी इसी तरह खींच लेती हैं कि पुष्पोंको कुछ बाधा नहीं होती है। अपने आत्माके यथार्थ स्वभावके दर्शन करना ही परम हितकर है।

स्वतंत्रताके अशक्त बुद्धिधारी महात्मागण जिसतरह होसके उसतरह केवल अपने एक आत्मारामके ही दर्शन करते हैं, परसे विमुख आत्माके भीतर ही सन्मुखता रखते हैं, वे स्वतंत्रताके बाधक

कर्मोका क्षय करते चले जाते हैं। एक दिन पूर्ण स्वतंत्र हो अनंत-कालके लिये कृतकृत्य होजाते हैं।

ऐ स्वतंत्रता! तेरी सदा जय हो। जो तुझे प्रतिष्ठापूर्वक बिठाता है वह अवश्य परतंत्रतासे छूटकर शीघ्र ही स्वतंत्र होजाता है।

२७-शुद्ध दृष्टि।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित होकर एकान्तसेवी हो अपने ही स्वतंत्र स्वभावका मनन करता है, तब उसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभावमय पाता है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल परभावोंसे शून्य देखता है तब वहां परतन्त्रताका कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता है। जब निज आत्मद्रव्यके साथ पर द्रव्यका संयोग कल्पा जाता है तब ही द्रष्टाकी दृष्टिमें परतन्त्रताका विकार देखनेमें आता है। यह दृष्टि सदा परतंत्र रखनेवाली है। द्रव्य शुद्ध दृष्टिके द्वारा निज द्रव्यका अवलोकन ही वह उपाय है जिसके द्वारा यह आत्मा पूर्ण स्वतंत्रभोगी होता है। जहां स्वद्रव्यका दर्शन है वहीं मोक्षमार्ग है। वहीं आत्मीक स्वभावकी श्रद्धारूप सम्यक्त है, वहीं आत्माका यथार्थ ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान है, वहीं आत्मामें रमणरूप सम्यक्चारित्र है, वहीं निश्चय रत्नत्रयकी एकता है।

जिस दृष्टिमें न बंध है, न मोक्ष है, न आस्रव है, न संवर है, न संसार है, न असंसार है, न भ्रमण है, न अभ्रमण है, न प्रमत्तदशा है, न अप्रमत्तदशा है, न मिथ्यात्व है, न सम्यक्त है, न अज्ञान है, न ज्ञान है, न कषाय है, न अकषाय है, न अव्रत है, न व्रत है, न

योग है, न अयोग है, न सुख है, न दुःख है, न राग है, न वैराग्य है, न द्वेष है, न अद्वेष है, न मोह है, न निर्मोह है, न पूज्य है, न पूजक है, न ध्येय है, न ध्याता है, न ज्ञेय हैं, न ज्ञाता है, न शुद्ध है, न अशुद्ध है, न एक है, न अनेक है, न ध्रुव है, न अध्रुव है, न अस्ति है, न नास्ति है, न वक्तव्य है, न अव्यक्तव्य है, न मनुष्य है न पशु है, न देव है, न नारक है, न स्त्री है, न नपुंसक है, न पुरुष है, न ग्रामीण है, न नागरिक है, न बालक है, न युवा है, न वृद्ध है, न जन्म है, न मरण है, न कर्ता है, न भोक्ता है, न किसीका संयोग है, न वियोग है, उस शुद्ध दृष्टिकी जय हो जिसके प्रतापसे हरस्थानमें व हर पदमें स्वतंत्रताके ही दर्शन होते हैं, जिस दृष्टिसे सर्व तरफ शुद्ध ज्ञानरूपी आत्मा ही नजर आती है। इस दृष्टिके बलसे सर्व विश्व एक शुद्ध आत्मारूपी ब्रह्मभावको प्राप्त होजाता है, भले ही पुद्गलादि द्रव्य रहो। यह दृष्टि उस परकी तरफ उपेक्षित रहती है। केवल एक स्वशुद्ध द्रव्यकी ओर व उसी तरह पर शुद्ध द्रव्यकी ओर सन्मुख रहती है। तब परम शांतिमय अध्यात्मसागर बन जाता है। यह ज्ञानी स्वतंत्रतापूर्वक इसीके सागरमें मगन रहता हुआ जो अतीन्द्रिय आनंदका भोग करता है वह वचन अगोचर है। मात्र एक अनुभवन करनेके योग्य है।

२८—मोहनी नशा।

एक ज्ञानी आत्मा एकांतसेवी होकर स्वतंत्रताकी तरफ जब झुकता है तब उसको अपने पास घर किये हुए परतंत्रताकी फांसीको देखकर बहुत बड़ा खेद होता है। वह विचारता है कि कहां मैं

स्वरूप अनंत शक्तिधारी, परमानंदमय, अनंत बली, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी, परम अमूर्तीक, परम वीतराग, परम कृतकृत्य व संतोषी और कहां यह दशा जो मैं अज्ञानमें व क्रोध, मान, माया, लोभ, कषायमें व सांसारिक दुःख व सुखमें व नानाप्रकारके मनके विचारोंमें उलझा हुआ शरीरके ही ममत्वमें पड़ा हूं और रातदिन इंद्रियोंकी वासनाको तृप्त करनेके प्रयत्नमें उलझा हूं। खेद है कि मैं मोहनीय कर्मोंके नशोंको पीकर बेहोश होरहा हूं। अपनी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यकी परम महती संपत्ति भूलकर दीन हीन इंद्रिय सुखकी कामनामें क्षोभित हो रहा हूं। मेरी अवस्था दयाके योग्य है। मैंने ही अपनी अविद्यासे मिथ्या परिणतिसे अपनेको संसार दशाधारी मानकर उसकी संसारमुक्त स्वाभाविक दशाका स्मरण ही छोड़ दिया है।

अब मैं क्या करूं? कैसे मैं कार्मण शरीरकी पराधीनताको मिटाऊं? यह कार्मण शरीर ही अन्य शरीरोंका व सांसारिक अवस्थाओंका मूल कारण है। वास्तवमें मेरी ही आसक्तिने मेरे पास कर्मोंका बंधन बना रक्खा है। इस कर्मबंधके दूर करनेका यही उपाय है कि इस कर्मबंधमें उदासीन होजाऊं, उनका स्वागत करना छोड़ दूं। जब कभी पुण्यकर्मके उदयसे साताकारी वस्तुएं मिलें तब भी मैं उदासीन रहूं व जब कभी असाता वेदनीयके उदयसे असाताकारी वस्तुएं मिले तब भी मैं उदासीन रहूं। और संतोषसे दुःखोंको झेल लूं। यह समझूं कि ये सब दुःख मेरे ही कर्मोंका फल है, मेरा ही लाया हुआ है।

इस तरह कर्मोंके साथ जो अबतक प्रीति थी उसे मैं छोड़ दूं व उनको एकत्र करनेवाले शुभ व अशुभ भावोंसे भी मैं राग छोडूं।

व शुभ अशुभ कार्योंसे भी वैराग्यवान होजाऊं । एक अपने आत्माके स्वभावका रुचिवान होजाऊं, प्रेमी होजाऊं, उसीमें आसक्ति जमाऊं व रातदिन उसीका ही मनन करूं, उसीके साथ पाठ करूं, उसीकी संगतिमें शांतिको प्राप्त करूं, परमानंदका लाभ करूं । मुझे विश्वास है कि स्वतंत्रताका पुजारी अवश्य स्वतंत्र होजाता है ।

मैं अब सर्व परसे नाता तोड़, एक अपने ही शुद्ध स्वभावसे हित जोड़ इसी स्वभावके भीतर भरे हुए आनन्दसागरमें ही लीन करूंगा और उसी आनन्दामृतका ही भोजन करके अमर हो जाऊंगा ।

२९–परतंत्रताका स्वांग ।

एक ज्ञानी आत्मा अपने भीतर परतंत्रताके रंगोंको देखकर विचार करता है कि वे सब रंग मुझसे भिन्न पुद्गल द्रव्यका विकार है। मैं श्वेत वस्त्रके समान स्वच्छ हूं, परम शुद्ध हूं, अविनाशी सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हूं, परमानन्दरूप हूं, परम निर्विकार हूं । मुझे ही परमात्मा, ईश्वर, परमब्रह्म, सिद्ध, निरंजन, परमदेव, देवाधिदेव, महादेव, परम विशुद्ध, परम शंकर, परम शून्य, शुद्ध द्रव्य कहते हैं । मेरा स्वभाव सदा ही स्वतंत्र है । मेरेमें परका संयोग है। परकृत विकार है। कर्मका मैल है । यह भाव भी आना शोभता नहीं है।

मैं केवल एक अकेला आपके ही एकत्व स्वभावमें कल्लोल करनेवाला हूं । मेरी अशुद्ध दृष्टिने मुझे संसारी दिखाया है । राग-द्वेषका व ज्ञानावरणादि कर्मका कर्ता, सुख दुःखका व कर्मफलका भोक्ता झलकाया है । न मैं संसारी हूं, न मुझे संसारीसे सिद्ध होना है । मेरी मलीन दृष्टिने ही परतंत्रताका स्वांग बनाया है ।

इस अशुद्ध दृष्टिको धिक्कार हो। इस हीसे सर्व प्रकारकी आकुलता, क्लेश व क्षोभ होता है। मैं शुद्ध दृष्टिसे ही देखूँगा। उस दृष्टिमें कभी विकार नहीं, रागद्वेष नहीं, किन्तु परम समभावका परम शांत समुद्र दिख जाता है। उसमें मज्जन करनेसे सदा ही परमानंदका स्वाद आता है।

शुद्ध दृष्टि झलकाती है कि यह लोक छः मूल द्रव्योंका समुदाय है। सर्व द्रव्य अपनी मूल सत्तामें व शुद्ध स्वभावमें विराजमान हैं। तब सर्व ही द्रव्य एक दूसरेसे भिन्न २ परम निर्विकार दिख पडते हैं। जैसे—सदा ही निर्विकार व शुद्ध रहनेवाले धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश द्रव्य, अपनी २ एक अखंड सत्ताको रखते हुए दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही असंख्यात कालाणु रत्नोंकी राशिके समान पृथक् २ निर्विकार झलकते हैं।

इसी तरह अनंतानंत पुद्गल द्रव्यके परमाणु अपने मूल स्वभावमें प्रकाशित होते हैं। इन सर्व पांच द्रव्योंको व अपनेको जाननेवाला चेतनामई द्रव्य आत्मा है। अनंतानंत आत्माएं भी अपने मूल स्वभावसे परम शुद्ध झलकते हैं। आप भी शुद्ध, दृष्टा भी शुद्ध, देखनेयोग्य पदार्थ भी शुद्ध, विकारका कोई कारण ही नहीं है। इस शुद्ध दृष्टिसे देखते हुए समभाव रूपी अमूल्य चारित्रका प्रकाश होता है। इसी चारित्रकी चर्याको स्वात्मप्रकाश कहते हैं। जो इस प्रकाशमें चमकते हैं वे ही परम सुखी, परम संतोषी व परम पुरुष महात्मा हैं।

३०—सच्चा सम्यग्दृष्टि ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विषयोंसे व कषायोंसे मुँह मोड, सर्व पौद्गलिक विकारोंसे उदासीन हो सर्व परद्रव्य, परभाव, परक्षेत्र, परकालसे नाता तोड़ एक अपने ही निजद्रव्य, निजभाव, निजक्षेत्र, निजकालपर आरूढ होजाता है और तब देखता है कि वह पूर्णतया स्वतंत्र है। उसमें कोई भी परतंत्रता नहीं है। वह सूर्य समान स्वपर प्रकाशक होकर प्रकाशवान है। कमल समान परमशीलता व सुन्दरतासे प्रफुल्लित हैं। क्षीर समुद्र समान परम गंभीर है व रत्नत्रयोंसे परिपूर्ण है व शांतामृत आत्मानुभवी जलसे भरा—रागद्वेषादि कल्लोलोंसे रहित है। चन्द्रमा समान परम शीतल है। पवनके समान असंग है। पृथ्वीके समान क्षमावान है। अग्निके समान कर्म-ईंधनका दाहक है। वही परमेश्वर है, परमब्रह्म है, परमात्मा है, परम अमूर्तीक है, परम शुद्ध है, अकर्ता है, अभोक्ता है, जन्म जरा मरणसे रहित है, शोकादि दुःखोंसे शून्य है, इन्द्रियोंकी तृष्णासे बाहर है, मनकी चिन्तासे पर है, ज्ञानावरणादि कर्मोंके संयोगसे शून्य है। रागद्वेषादि असंख्यात लोकप्रमाण कषाय भावोंसे रहित है। दर्शन व्रत सामायिकादि ग्यारह श्रावककी प्रतिमाओंसे बाहर है। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ, स्नातक इन पांच प्रकार साधु वर्गोंसे परे है। एकेन्द्रिय १४ जीव समासोंसे दूर है। मिथ्यात्व आदि १४ गुणस्थानोंसे उत्तीर्ण है। गति इन्द्रिय आदि १४ मार्गणोंके भेदोंसे भिन्न है। वह एक है, निस्पृह है, केवल है, सिद्ध है, शुद्ध है, निर्विकार है।

इस तरह आपको वचनातीत, मनातीत देखते हुए वह ज्ञानी

एक ऐसी दशामें पहुँच जाता है जिसे स्वानुभव कहते हैं। यहीं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता प्राप्त होती है, यहीं परमानन्दका स्वाद अनुभवमें आता है, यहीं जैनधर्मका साक्षात् दर्शन होता है, यहीं मोक्षकी भी झांकी मिल जाती है। जो इस स्वाधीनताको प्राप्त करता है वही परम स्वतंत्र भोगी रहकर जीवनको सफल करता है। गृही हो वा साधु हो, वही संत है, महात्मा है, वही सच्चा जिनभक्त सम्यग्दृष्टी है।

३१—स्वात्मानन्दकी प्राप्ति।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिंताओंको दूर रखकर अशरण भावना भाता है। विचारता है कि मेरे जीवका शरण दूसरा कोई नहीं है। किसी अन्यमें शक्ति नहीं है जो आत्माको स्वतंत्रता प्रदान कर सके, जो आत्माको ज्ञानभण्डार देसके, जो आत्माको अनन्त बल प्रदान कर सके, जो आत्माको नित्य आनन्दका लाभ कर सके, जो आत्माको भव—भ्रमणसे मुक्त कर सके, जो आत्माको जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, वियोगके कष्टोंसे मुक्त कर सके। न कोई आत्मा किसी भी आत्माको कुछ दे सकता है न पुद्गलसे आत्माको कोई गुण प्राप्त हो सकता है। वास्तवमें आपका शरण आप ही है, आपका रक्षक आप ही है, आप ही दातार है, आप ही पात्र है, आप ही गुरु है, आप ही शिष्य है, आप ही नेता है, आप ही आज्ञाकारी है, आपसे ही आपको परम लाभ हो सकता है। इसलिये ज्ञानी आत्मा सर्व पर पदार्थोंकी शरणको त्यागकर एक निजत्वकी ही शरण ग्रहण करते हैं।

निज द्रव्यको अपना द्रव्य, निज गुणको अपना गुण, निज पर्यायको अपनी पर्याय समझते हैं। निज सत्वको अपना सत्व जानते हैं। अनादि कालसे इस मोही जीवने परका शरणं ग्रहण किया, परकी चाकरी करी, परकी आशा करी, परन्तु इस परालम्बसे कभी भी परतंत्रताका लाभ नहीं हुआ।

जो स्वतंत्रता चाहता है उसे अपने आत्मीक बलपर भरोसा करके खड़ा होजाना चाहिये। परका किंचित् भी आलम्बन न रखना चाहिये। अपने ही आत्माके असंख्यात प्रदेशरूपी भूमिपर खड़े होना चाहिये, अपनी ही सत्तापर अपना वास-स्थान बनाना चाहिये, चारों तरफ शुद्ध भावके दृढ़ कपाट लगा देना चाहिये, जिससे एक परमाणु मात्रके भी आनेको अवकाश न मिले। त्रिगुप्तिमय दुर्गमें बैठ जाना चाहिये, अपने ही सत्तारूपी घरमें विवेकके द्वारा आत्मानुभूतिकी अग्नि जलानी चाहिये, उसी आगपर आत्मबलके वासनमें ध्यानके चावलोंको पकाकर मनोहर भात बनाना चाहिये। वैराग्यके मिष्ट रसमें स्नान कर उस सुन्दर भातको खाकर आत्मानन्दका लाभ करना चाहिये। इस परम गरिष्ट भोजनको खाकर योगनिद्रा लेनी चाहिये। अप्रमादकी शैयापर शयन करना चाहिये। योगनिद्राके भीतर आत्मीक विभूतिके मनोहर स्वप्न देखने चाहिये। कभी निद्रासे जगकर स्वाध्यायके स्वच्छ जलसे स्नान कर ताजा होना चाहिये। इस भातके खानेसे विहार नहीं होता है। फिर भी उसी तरहसे मिष्ट भात बनाकर खाना चाहिये, आत्मानन्द पाना चाहिये व योगनिद्रामें शयन करना चाहिये। इसतरह जो पूर्णरूपसे स्वावलंबी हो जाता है, अपनी पुष्टिके लिये भी परकी आशा

नहीं करता है, वह भी शनैः २ बल बढ़ाकर अधिक कारणोंको मेट कर स्वतंत्र होजाता है तब सदाके लिये स्वात्मानन्दामृतका पान किया करता है और परम तृप्त रहता है।

३२–शुद्ध दृष्टि।

स्वतन्त्रता क्या चली गई है? क्या मैं वास्तवमें परतन्त्र हूं? नहीं नहीं, यह मेरा मिथ्या श्रद्धान है। यह मेरा मिथ्या ज्ञान है कि मेरी स्वतन्त्रता चली गई है या मैं वास्तवमें परतन्त्र हो गया हूं। जबतक मेरा यह भ्रम स्थित है तब ही तक मैं परतन्त्रसा हो रहा हूं। जिस समय मैं इस भ्रमको निकाल दूंगा और इस प्रतीतिपर आरूढ़ हो जाऊँगा कि मैं स्वतंत्र हूं, परतंत्र नहीं हूं, मैं स्वभावसे सिद्ध समान शुद्ध हूं, मुक्त हूं, स्वाधीन हूं, परमानंदी हूं, अनन्तज्ञान दर्शनधारी हूं, अनन्त वीर्यवान हूं, निर्विकार हूं, निश्चल हूं, परम वीतरागी हूं, इस प्रतीतिके आते ही मैं अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रताको अनुभव करने लग जाऊँगा। स्वतंत्रता आत्माका निज स्वभाव है। स्वभावका कभी अभाव नहीं होता है। स्वभावका स्वभावीके साथ तादात्म्य सम्बंध रहता है। यह कभी मिट नहीं सकता है। शुद्ध पदार्थको देखनेकी दृष्टि शुद्ध कहलाती है। पर्यायको अशुद्ध देखनेकी दृष्टि अशुद्ध कहलाती है।

पानी मैला है ऐसा भान अशुद्ध दृष्टिसे होता है। जब उसी पानीको शुद्ध दृष्टिसे देखा जाता है तब वह पानी पानीरूप शुद्ध व निर्मल दिखलाई पड़ता है। इसी तरह कर्ममल सहित संसारी जीव

अशुद्ध दृष्टिसे अशुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। यदि उन्हींको शुद्ध दृष्टिसे देखा जावे तो वे सब शुद्ध ही दिखलाई पड़ेंगे ।

ज्ञानिको उचित है कि वह शुद्ध दृष्टि रखे, द्रव्य दृष्टि रखे, शुद्ध नयकी तरफ झुकाव रखे और इस दृष्टिसे जगतको देखनेका अभ्यास करे। तब उसको सर्व ही द्रव्य अपने २ स्वस्वभावमें परम मनोहर निज परिणतिमें मगन दिखलाई पड़ेंगे। सर्व ही आत्माएं भेदभाव रहित एकसमान शुद्ध झलक जायंगी। इस शुद्ध झलकावमें नीच ऊँच, शत्रु मित्र, स्वामी सेवक, पिता पुत्र, पतित व अपतित, शुद्ध व अशुद्ध, बद्ध व मुक्तका कोई भेद नहीं रह जाता है। सब जीवोंमें समताभाव जागृत हो जाता है। साम्यभाव रूपी चारित्रकी शोभा छा जाती है। रागद्वेष मोहकी कालिमा नहीं रहती है।

स्वतन्त्रताका अनुभव करनेसे हरएक आत्मज्ञानी व्यक्ति अपनेको स्वतन्त्र व परम सुखी देख सकता है। यही अनुभव सम्यक्त है, यही सम्यग्ज्ञान है व यही सम्यक्चारित्र है, यही मोक्षमार्ग है।

जो स्वतन्त्रताके प्रेमी हैं व भक्त हैं वे शीघ्र ही पर संयोगसे छूटकर साक्षात् स्वतन्त्र हो सकते हैं। यह कथन भी मात्र व्यवहार है। हम न कभी परतन्त्र थे न परतंत्र हैं न कभी परतन्त्र होंगे, यही श्रद्धान व ज्ञान व यही चर्चा अभेद रत्नत्रय स्वरूप परम मंगलदाई है, परमानन्द देनेवाली है। न मुझमें बन्ध है न मुक्ति है। मैं इस कल्पनासे रहित एक निर्विकल्प स्वानुभवगम्य पदार्थ हूं। यही भाव स्वतन्त्रताको दर्शानेवाला है और परम तृप्तिको अर्पण करानेवाला है। जो इस भावके क्षीरसमुद्रमें स्नान करते हैं वे सदा पवित्र व स्वतंत्र हैं।

३३–स्वतंत्रताकी महिमा।

प्यारी स्वतंत्रता ! तेरा दर्शन कहां हो व कैसे हो ऐसा भाव मनमें जब आता है तब ही विवेकज्ञान यह बता देता है कि स्वतंत्रता अपने ही आत्माके पास है। स्वतंत्रता आत्माका स्वभाव है। जब काय स्थिर कीजावे, वचनका प्रयोग बन्द कर दिया जावे, मनका चिन्तवन रोक लिया जावे तब जो कुछ भीतर अनुभवमें आयगा वही स्वतंत्रताका दर्शन है। आत्माका संयोग न तो रागद्वेषादि भावकर्मोंसे है न ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंसे है न शरीरादि नोकर्मोंसे है। जैसे पानीसे मिट्टी भिन्न है, जलसे कमल भिन्न है, अग्निसे पानी भिन्न है, सिवालसे सरोवर भिन्न है, खारेपनसे पानी भिन्न है, सुवर्णसे रजत भिन्न है, भूसीसे तेल भिन्न है, दूधसे जल भिन्न है, वस्त्रसे शरीर भिन्न है, दर्पणसे झलकनेवाला पदार्थ भिन्न है, चांदनीसे भूमि भिन्न है, खड्गसे म्यान भिन्न है, इसी तरह सर्व ही रागादि विकारोंसे व पौद्गलिक पर्यायोंसे व आकाश; काल, धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय द्रव्योंसे व सर्व अन्य आत्माओंसे अपना आत्मा भिन्न है।

इस भेदविज्ञानके बारबार अभ्यास करनेसे स्वात्मरुचि बढ़ती जाती है, पर रुचि हटती जाती है। सम्यग्दर्शनकी ज्योति जब प्रगट होजाती है तब आत्मानुभव जग जाता है। स्वस्वरूपका अनुपम स्वाद आजाता है। अतीन्द्रिय आनंदका लाभ होजाता है। स्वसंवेदन ज्ञान होजाता है। स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होजाता है। मोक्षप्राप्तिका उदय होजाता है। जहां स्वतंत्रताका अनुभव है वहीं मोक्षमार्ग है। वहीं साक्षात् मोक्ष है।

सर्व सिद्ध भगवान प्यारी स्वतंत्रताका आलिंगन करते हुए शोभायमान हैं। विदेहमें वीस वर्तमान तीर्थंकर परतंत्रताके उद्यानमें रमण कर रहे हैं। सम्यग्दृष्टी अविरति देशविरति श्रावक, प्रमत्त व अप्रमत्त, संयमी व अपूर्वकरणादि गुणस्थान धारी उपशम व क्षपक-श्रेणी आरूढ यति स्वतंत्रताके प्रेममें मगन रहते हैं, पराधीनताका अंश मात्र भी नहीं चाहते हैं।

स्वतंत्रताकी महिमा अगाध है। जो देश स्वतंत्र है वह सुखी है। जो जाति रूढ़िके बन्धनोंसे मुक्त होकर स्वतंत्रता भोगती है वह सुखी है। जो व्यक्ति भेदविज्ञानकी कलाको सीखकर स्वतंत्रताको अपने भीतर जागृत करके उसे ही प्रियतमा बनाकर निरंतर उसे ही आलिंगन करता है, वह स्वात्मरस पान करता हुआ परमानंदमें मगन रहता है।

३४–स्वतंत्रता अटूट ज्ञान भंडार है।

एक ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि मैं क्यों राग द्वेष, मोहमें फंसा हूं। क्यों अज्ञान मेरे भीतर अपना राज्य कर रहा है। क्यों मेरे साथ कार्मण, तैजस व औदारिक शरीर हैं। क्यों मैं विक्षिप्त, शोकित, भयभीत व सांसारिक सुख मिलनेपर संतुष्ट व दुःख मिलनेपर दुखित होजाता हूं। क्यों मैं किसीको मित्र व किसीको शत्रुकी बुद्धिसे देखता हूं। इस सबका कारण मेरे ही भीतर यह भ्रांति है कि मैं अशुद्ध हूं, कर्मोंके बंधमें हूं, परतंत्र हूं। इस भ्रांतिने, इस मिथ्यात्वने मुझे परतंत्र बना रक्खा है। आज मैं इस भ्रांतिको छोड़ता हूं। निश्चय-

नयकी दृष्टिसे अपने आपको देखता हूं तब मैं अपनेको पूर्ण रूपसे स्वतंत्र पाता हूं।

मेरा कोई भी सम्बन्ध किन्हीं शरीरोंसे नहीं है, किन्हीं रागादि अशुद्ध भावोंसे नहीं है, किन्हीं जगतकी चेतन व चेतन वस्तुओंसे नहीं है। मैं पूर्ण शुद्ध, ज्ञान दर्शन स्वरूपी, अमूर्तीक, वीतराग, परमानंदमय एक आत्मद्रव्य हूं। मैं अपने सर्व गुणोंका अब स्वामी हूं। मैं अपनी सर्व शुद्ध स्वाभाविक परिणतियोंका आप ही अधिकारी हूं, मैं सर्व परसे नाता नहीं रखता हूं। मेरा सहयोग केवल मेरेसे ही है। जब मैं इस स्वतंत्र स्वभावका मनन करके स्वभावमें ही तन्मय होता हूं तब वहां स्वतंत्रता रूपी परम प्रियतमाका दर्शन पाकर परमानंदित होजाता हूं, परम तृप्त होजाता हूं। सिद्धके समान अपनेको अनुभव करता हूं। यहीं सार तत्व है। यहीं मोक्षमार्ग है, यहीं कर्म ईंधन दग्धकारक अग्नि है, यहीं अमृतमई स्वादके धारी शुद्धोपयोगरूपी फलोंके उपजनेका स्थान है, यहीं अपना घर है, यहीं अपना क्रीड़ा वन है। यहीं परम संवर है। यहीं परम निर्जराका भाव है, यहीं सच्ची उत्तम क्षमा है। यहीं सच्चा मार्दव धर्म है, यहीं अद्भुत सरलता है, यहीं सत्य धर्म है, यहीं परम शुचिता है, यहीं परम उपेक्षा संयम है। यहीं आकिंचन्य भाव है, यहीं उत्तम ब्रह्मचर्य है। यहीं धर्म है, यहीं परम समाधिभाव है, यहीं निराकुलता है, यहीं सम्यग्ज्ञान है, यहीं स्वचारित्र है, यहीं स्वात्मरमण है, यहीं ज्ञानचेतना है, यहीं गुप्त अटूट ज्ञानभण्डार है। स्वतंत्रतामें ही परम सुख है।

होनेवाले नाना प्रकारके भूत, भावी व वर्तमानके विचारोंसे उदासीनता रखकर केवल निजात्म रुचिवान होकर निजात्माके ही भीतर रमण करना आत्मस्वतंत्रताका उपाय है। आप ही साधन है, आप ही साध्य है। आत्मदर्शन ही स्वतंत्रता है। अपूर्ण दर्शन मार्ग है। पूर्ण दर्शन निर्दिष्ट स्थान है।

स्वतंत्रताके कथनमें, स्वतंत्रताके विचारमें, स्वतंत्रताके अनुभवमें आनन्द ही आनन्द है। किसी प्रकारका खेद व कष्ट नहीं है। निराकुलताका साम्राज्य है। आकुलताके कारण राग, द्वेष, मोह विभाव हैं। उनकी उत्पत्ति व्यवहार दृष्टिके द्वारा जगतको देखनेसे होती है। निश्चय दृष्टिके द्वारा जगतको देखते हुए सर्व पुद्गलादि अजीव अपने स्वरूपमें व सर्व जीव अपने शुद्ध एकसदृश स्वरूपमें दिखलाई पडते हैं, तब परम समताका उदय हो जाता है। साम्यभावके होते हुए कहां राग, द्वेष, मोहका स्थान रह सकता है? धन्य है साम्यभाव जिसके प्रतापसे स्वतंत्रताका दर्शन होता है। मैं अब निश्चयनयकी शरण लेकर समभावसे जगतको देखनेका अभ्यास करता हूं। यही स्वतंत्रताका सतत उपभोग प्राप्त करनेका साधन है। मैं स्वतंत्र हूं ऐसा ही अनुभव स्वतंत्रताका उपाय है।

३६–स्वतंत्रता सर्वांग व्यापक है।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकारी भावोंसे दूर रहकर स्वतन्त्रताकी खोज करता है। जैसे किसीकी मुट्ठीमें सुवर्णकी मुद्रिका हो, भूलकर वह कहीं गिर पड़ी है, ऐसा भ्रममें पड़कर सर्व जगतको ढूंढे तो उसे

सुवर्ण मुद्रिकाका लाभ नहीं होगा। जब वह अपनी ही मुट्ठीमें देखेगा तब उसे सुवर्ण मुद्रिकाका लाभ होजायगा। वैसे ही जो कोई स्वतंत्रताको, जो अपने ही आत्माके पास है, भूलकर उसे तीन लोकमें ढूंढ़ेगा उसे स्वतन्त्रताका लाभ नहीं होगा। जब वह अपने ही भीतर देखेगा तो उसे स्वतन्त्रता मिल जायगी।

स्वत्रन्त्रता आत्माके भीतर सर्वांग व्यापक है। हमारा उपयोग जिस समय पर पदार्थोंके रागद्वेषसे छूट जायगा और आपसे ही आपमें, अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें विश्राम करेगा तब ही स्वतंत्रताका लाभ हो जायगा।

स्वतन्त्रताका दर्शन, ज्ञान व लाभ होना ही आत्माका परम हित है। जिन किन्हीं संसारी जीवोंने अपनी भूली हुई स्वतन्त्रताको पाया है, उन्होंने अपने ही पास पाया है। स्वतन्त्रताका लाभ होते ही वे बंधनमुक्त हो गए हैं। संसार परतंत्रताका नाटक है। जब तक यह जीव अपने मूल स्वभावको भूले हुए है और कर्मके द्वारा उत्पन्न होनेवाली अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग अवस्थाओंको अपनी मान लेता है व उनके फंदमें पड़ा हुआ मन, वचन, कायसे वर्तन करता है, तब तक परतंत्रताके कारण बन्धनमें पड़ा हुआ दिनरात आकुलित होता है। इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोगका सन्तोष सहता है। अहंकार व ममकारके फंदेमें पड़ा हुआ संसारकी चार ही गतियोंमें भ्रमण करता रहता है। संसार, शरीर, भोगोंमें मोही होता हुआ वारवार शरीर धारण करता है। तृष्णासे आकुल व्याकुल होता है। तृष्णाको कभी शमन न कर पाते हुए में जलता हुआ प्राण त्यागता है, भवभवमें दुःखित ही होता है।

परतंत्र जीवन बड़ा ही संकटाकीर्ण होता है। अपनी ही भूलसे ही यह जीव संसारमें दुःखी है।

जैसे बन्दर चनोंके घड़ेमें मुट्ठी डालकर चनोंको मुट्ठीमें भरकर घड़ेके छोटे मुखसे मुट्ठीको न निकाल सकनेके कारण यह भ्रमभाव पैदा कर लेता है कि घड़ेने उसे पकड़ लिया, यह बहुत आकुलित होता है, अपने अज्ञानसे आप क्लेश पाता है। यदि मुट्ठीसे चने छोड़ दे तो शीघ्र हाथको निकाल कर सुखी हो जावे।

इसी तरह यह अज्ञानी जीव इस भ्रममें है कि कर्मोंने उसे पागल कर दिया है। स्त्री पुत्रोंने अपने बन्धनमें फंसा लिया है। बस, यही भ्रम संसारके दुःखोंका कारण है। यदि यह इस भ्रमको छोड़ दे, अपने आत्माको सर्वसे भिन्न जाने व किसीसे राग, द्वेष, मोह न करे तो यह भ्रमसे रहित हो तुर्त स्वतंत्रताको प्राप्त कर ले। भ्रमरहित प्राणीको स्वतंत्रताका पद पदपर दर्शन होता है। यह स्वतंत्रताके द्वारा आत्मीक रसका स्वाद पाकर परम सुखी रहता है।

३७–स्वात्म रमणरूप सागरका स्नान।

एक ज्ञानी आत्मा एकांतमें बैठकर स्वतंत्रताका स्मरण करता है। क्योंकि वह कर्मबन्धकी परतन्त्रतामें महान दुःखी व आकुलित है। वास्तवमें कर्मोंकी पराधीनता असहनीय है। सर्व ही कल्याणं चाहते हैं, परन्तु नहीं होता। सर्व ही निरोगता चाहते हैं पर नहीं होती। सर्व ही जरामें ग्रसित होना नहीं चाहते हैं परन्तु जरा आ ही जाती है। सर्व ही मरण नहीं चाहते हैं परन्तु मरण आ ही जाता है।

कोई भी इष्ट सचेतन व अचेतन पदार्थोंका वियोग नहीं चाहता है, परन्तु वियोग हो ही जाता है। कर्मोकी पराधीनताके कारण यह आत्मा परमानन्दी स्वभावको धरते हुए भी उस सच्चे सुखको नहीं चाहता है। केवल झूठे इन्द्रियजनित सुखोंमें लिप्त हैं, जिन सुखोंके सेवनसे तृप्ति नहीं होती। उल्टी तृष्णाका आताप अधिक अधिक बढ़ता जाता है। पराधीनताके ही कारण यह शरीरके साथी स्त्री, पुत्र, मित्रादिसे स्नेह कर लेता है। स्वार्थभाव यह होता है कि इनसे मुझे सुख होगा। जब वे अनुकूल नहीं चाहते हैं तब यह महान कष्ट अनुभव करता है। त्रिलोकमें महान् पदार्थ होकर भी वे सर्वज्ञ समान आत्म--सम्पत्तिका धनी होकर भी यह जगतकी दीन हीन अवस्थाओंमें मारा २ फिरता है व इन्द्रिय सुखका लोलुप होता हुआ घोर वेदना सहता है। उस परतंत्रताका अन्त कैसे हो, इसी प्रश्नपर एक विचार-शीलको विचारना चाहिये। वास्तवमें यह भ्रमभावमें पड़ गया है। अपने मूल स्वभावको भूल गया है। इसको व्यवहारकी अशुद्ध दृष्टि बंद करनी चाहिये। और निश्चयकी शुद्ध दृष्टिको खोलकर देखना चाहिये।

तब इसको कहीं भी परतंत्रताका दर्शन न होगा। हर जगह हरएक आत्मामें स्वतंत्रताका साम्राज्य दृष्टिगोचर पड़ेगा। तब अपना आत्मा भी शुद्ध परमात्मवत् स्वभावमें कल्लोल करता हुआ दिखलाई पड़ेगा और सर्व जगतकी आत्माएं भी शुद्ध परमात्मावत स्वभावमें आरूढ़ दिखलाई पड़ेंगी। पूज्य पूजक, स्वामी सेवक, ध्याता ध्येय, आचार्य शिष्य, पिता पुत्र, माता पुत्री, पति पत्नी, ऊँच नीच, स्त्री पुरुष, पशु पक्षी, कीट कीटाणु, वृक्ष, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमई

प्राणी, नारकी, देव, तिर्यंच, मानव चार गतिके भेद, क्रोधी, क्षमावान, मानी, विनयवान, मायावी, सरल, लोभी, सन्तोषी, बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा, श्रावक, साधु, बालक, युवा, वृद्ध, संसारी, सिद्ध आदि सर्व भेदोंका दर्शन बंद होजायगा। सर्व ही जीव परम शुद्ध दिखलाई पड़ेंगे। एक अपूर्व समभावका सागर बन जायगा। ऐसे स्वात्मरणरूप सागरमें जो स्नान करेगा व धर्मका निर्मल जलपान करेगा वह सदा ही अपनेको स्वतंत्र अनुभव करेगा। उसके गलेमें स्वतन्त्रता सदा हाथ डाले हुए बैठी रहेगी। वह पराधीनताके क्लेशसे बचकर पूर्ण स्वाधीन स्वभावका स्वाद पाता हुआ परमानंदित रहेगा।

३८-स्वतंत्रता प्राप्तिका उपाय।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्चजालोंसे रहित होकर एकांतमें बैठता है और यह विचारता है कि स्वतंत्रता कैसी मनोहर वस्तु है, परतंत्रता कैसी भयानक वस्तु है। जिस बन्धनमें रहकर अपनी शक्तियोंका विकास न किया जासके वह बन्धन परतंत्रताका कारण है।

स्वतंत्रतासे ही आज अमेरिका, जापान, इंग्लैंड देश यथेच्छ उन्नति कर रहे हैं। जहां प्रजाके अनुकूल प्रजाका शासन हो वहीं स्वतंत्रना-पूर्वक प्रजा अपनी शक्तियोंको व्यक्त कर सकती है।

लौकिक परतंत्रता जिस तरह लौकिक उन्नतिमें बाधक है वैसे कर्मबन्धकी परतंत्रता आत्मिक उन्नतिमें बाधक है। आत्म-स्वतंत्रता पानेका साधन कर्मोंपर विजय प्राप्त करना है व उनको अपने आत्माकी सत्तासे बाहर कर देना है।

यह कार्य बड़ा ही कठिन दिखता है। क्योंकि अनादिकालसे कर्मोंने अपनी सत्ता जमा रक्खी है। तथा आत्माने उनका भ्रममें पड़कर स्वागत ही किया है। बन्धनमें ही हर्ष माना है। कर्मशत्रुओंका फंसानेवाली जाल पांच इंद्रियोंके विषयोंका जाल है। उनके फन्देमें फंसा हुआ संसारी प्राणी रागद्वेष, मोहकी कलुषतासे कलुषित होकर रहता है। इस कलुषताको देखकर कर्मशत्रु बेधड़क प्रवेश कर जाते हैं और अपना बन्धन गाढ़ करते जाते हैं।

इस विषयकी तृष्णासे जबतक रक्षित न हुआ जायगा तबतक इन कर्मोंसे बचनेका उपाय नहीं बन सकता है। आत्म—सुखका प्रेम होना ही विषयसुखके प्रेमकी जड़ खोना है। आत्मसुखका प्रेम तब ही होगा जब कोई व्यक्ति अपनेको पराधीन व दुःखी समझकर इस परतंत्रतासे छूटनेका दृढ भाव प्राप्त करके आत्मीक सुखकी खोजमें लग जायगा।

आत्मीक सुख आत्मामें है। आत्माका ही स्वभाव है। अतएव श्री गुरुके धर्मोपदेशसे तथा जैन शास्त्रोंके पठन-पाठनसे व युक्ति द्वारा मननसे तथा एकान्तमें भावना करनेसे आत्माकी प्रतीति आना संभव है। आत्मा स्वभावसे स्वतंत्र है, सिद्धके समान शुद्ध है, ऐसा समझकर जो नित्य भावना भावेगा उसको किसी दिन सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जायगा। तब आत्माकी व आत्माके सच्चे सुखकी श्रद्धा हो जायगी। उसी क्षण विषयसुखकी श्रद्धा दूर हो जायगी। बस, इन्द्रिय विषयोंके जालसे बचनेकी कला हाथ लग जायगी और यह चतुर हो जायगा। बस यही स्वतंत्रता पानेका प्रारंभिक उपाय है। इसीमें परमानंदका भी लाभ है।

३९–पूर्ण स्वतंत्रता कैसे ?

स्वतंत्रता क्या ही प्यारी वस्तु है। इसका जहां राज्य है वहां सदा सुख है। इसका जहां बहिष्कार है वहां परम दुःख है। अनादि-कालसे इस संसारी जीवने स्वतंत्रताका बहिष्कार कर रक्खा है। मोह-कर्मके वशीभूत होकर अपनापन त्याग कर दिया है। मोह जैसे नचाता है वैसा यह नाच रहा है। महान् बाधाओंको सहता हुआ जन्म मरण कररहा है। स्वतंत्रताका भूलकर भी स्मरण नहीं करता है। परतंत्रताके यज्ञमें स्वतंत्रताकी बलि करदी जारही है। कोई विष्णुकुमारके समान परोपकारी वीर हो तो वह इस स्वतंत्रताकी रक्षा करें।

वीर आत्माको साहसी होना चाहिये। मोहके फन्देसे जग बचकर अपनी विक्रिया ऋद्धिसे अपना परिवर्तन करना चाहिये। मिथ्यात्वीसे सम्यक्ती बन जाना चाहिये। मोह मेरा हितू नहीं है, किंतु शत्रु है, यह बात निश्चय कर लेनी चाहिये। मोहसे विराग होना ही मोहके फन्देसे छूटनेका उपाय है।

जिस वीर आत्माओंको अपने स्वभावका श्रद्धान तथा ज्ञान होता है वे समझ लेते हैं कि स्वतंत्रता मेरे ही पास है। जहां बंधनको बंधन समझा गया व बन्धनसे असहयोग किया गया व स्वशक्तिका सहयोग किया गया, वहां ही स्वशक्ति स्फुरायमान होती जाती है, बाधक कारणोंका नाश होता जाता है, स्वभावका प्रकाश होता जाता है।

मैं स्वतंत्र हूं। यही भावना स्वतंत्रताको मिला देती है। जैसा भावे वैसा हो जावे।

जिन जिन महात्माओंको पूर्वकालमें अपने स्वभावका दृढ़विश्वास

हो गया व उन्होंने उस स्वभावको कल्लोल करनेका दृढ संकल्प कर लिया वे ही परतंत्रताको विध्वंश करते चले गए और एक दिन पूर्ण स्वतंत्र हो गये ।

हम स्वतंत्र हैं, हमारा नाता सम्बन्ध किसी भी पर वस्तुसे नहीं है, यही मनन या यही अनुभव एकाग्र हो स्वतंत्र होनेका बीज है ।

स्वाधीन अनन्त सुख अपने ही पास है। मोह व अज्ञानकी परतंत्रता इस सुखके भोगसे विमुख कर रही है। सांसारिक क्षणिक सुखके जालसे निवृत्ति होनेके लिये व सदा धारावाही रूपसे निजानंदका भोग करनेके लिये मैं स्वतंत्रताकी प्राप्तिमें कटिबद्ध होगया हूं, शुद्ध भावनामें लीन रहता हूं। परसे वैराग्यभाव धरकर परम वीतराग भावसे स्वस्वरूपका मनन करता हूं, इसीसे आत्मबलको बढ़ाता हूं। और मोहके आक्रमणोंको विजय करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता हूं। यही मेरा पुरुषार्थ मुझे एक दिन पूर्ण स्वतंत्र कर देगा। मैं स्वयं परमात्मा रूप होकर अनंत सुखको स्वयं अनंतकालके लिये विलसूंगा। स्वतंत्रताकी रक्षा करना परम वात्सल्य धर्म है।

४०–आत्मा स्वभावसे स्वतंत्र ।

एक ज्ञानी जीव सर्व प्रकारके सांसारिक विचारोंको छोड़कर एक आत्मा सम्बन्धी विचारकी तरफ लग जाता है। मैं कौन हूं इस प्रश्नका उत्तर विचारता है तब उसको ऐसा ज्ञात होता है कि कर्म पुद्गलके संयोगसे जगतमें मेरे आत्माके अनेक नाम हो चुके हैं। जैसे वस्त्रके साथ अनेक प्रकारके रंगोंका संयोग होता है तो वस्त्रके

अनेक रङ्ग समान ही नाम पड़ जाते हैं। परन्तु वस्त्रमात्रको देखनेवाला अनेक वस्त्रोंको एक सा ही वस्त्ररूप देखता है उसी तरह मेरे आत्माओंके नारकी, देव, पशु, मनुष्य, बाल, वृद्ध, युवान, रोगी, निरोगी, क्रोधी, मानी, मायावान, लोभी, कामी, भयभीत, कायर, वीर, दुर्बल, सबल आदि नाम पुद्गलके संयोगसे पड़े हैं। यदि मात्र अपने व परके आत्माओंको आत्मा रूपसे देखा जावे तो सब ही आत्माएं परम शुद्ध ज्ञानानन्दमय वीतरागी हैं। इस दृष्टिको द्रव्य-दृष्टि कहते हैं। कितना आनन्द होता है जब उस दृष्टिसे सब आत्माओंको देखा जावे। राग द्वेषका कारण मित्र शत्रुका कोई भेद रहता ही नहीं। सर्व ही एकसे हों तब सिवाय समभावके और भाव हो ही नहीं सकता है। इसी समभावमें रमण करनेसे कर्मबंधकी पराधीनता धीरे २ दूर हो ही जाती है और अपना ही शुद्ध स्वतंत्र पद अपने निकट आता जाता है।

अपने आत्माको स्वतंत्र स्वभाव रूप प्रदान करना, जानना व अनुभव करना ही वह उपायं है जिससे स्वतंत्रताका पूर्ण लाभ होता है।

पर सन्मुख होना ही परतंत्रता है। स्वसन्मुख होना ही स्वतंत्रता है। अपनी शक्तियोंका पूर्ण विकास रखना ही स्वतंत्रता है।

धन्य हैं सर्व सिद्ध भगवान जो पूर्ण स्वतंत्र हैं, जिनको कोई पुद्गल कभी कोई विकार नहीं कर सकता है। शुद्ध आकाशके समान सिद्ध भगवान हैं। आकाशको कोई भी विकृत नहीं कर सकता है वैसे ही शुद्धात्माको कोई विकृत नहीं कर सकता है। मैं शुद्धात्मा हूं, स्वभावसे स्वतंत्र हूं यही भावना परम हितकारी है व मंगलदाई है।

४१-परमानन्द रस ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे निवृत्त होकर एकान्तमें बैठकर स्वतंत्रताका स्मरण करता है। स्वतंत्रता अपनेसे दूर नहीं है, पास ही है, परन्तु उसको मोहनीय कर्मने दबा दिया है। जिससे मादक पदार्थके आक्रमणके समान यह मोही जीव अपनी स्वतंत्रताको भूले हुए है। अनादिसे मोहके नशेमें चूर है। इससे इसे बिलकुल भी श्रद्धान व ज्ञान नहीं है कि वह असलमें परम स्वतंत्र है, सिद्ध भगवानके समान है, अविनाशी है, ज्ञानका सागर है, परमानंदका घर है, सर्व शारीरिक, मानसिक व आकस्मिक बाधाओंसे रहित है, परम अमूर्तिक है, निरंजन है, स्वगुणमें रमनेवाला, स्वानुभूतिका स्वामी, पर-भावका न कर्ता है, न परभावका भोक्ता है। ऐसा अपनापना स्वतंत्र स्वभाव है, परन्तु अपनेको यह अज्ञानसे चार गतिमय अशुद्ध विकारी व दु:खरूप मान रहा है।

इसकी यह मिथ्यादृष्टि मिटे व सम्यग्दृष्टिका प्रकाश हो, इसका उपाय श्री गुरुका चरण सेवन है। श्री गुरुके प्रसादसे अज्ञान तिमिर मिटता है, उनका उपदेशरूपी अंजन जब सेवन किया जाता है तब विकार मिट जाता है और अनादिकी वेद-ज्ञानचक्षु प्रगट होजाती है।

तब ज्ञानचक्षु जगतको द्रव्य दृष्टिसे शुद्ध देखती है। पृथक् २ छः द्रव्योंका दर्शन करती है। पर्याय दृष्टि नाना भेद भी बताती है। ज्ञानीकी दृष्टि होना अपेक्षाओंसे वस्तुके शुद्ध व अशुद्ध स्वभावको जानकर स्वतंत्रताके लिये केवल शुद्ध स्वरूपकी भावना करनेसे भी दृढ़ता होती जाती है। भावना भावोंको उच्च बना देती है।

स्वतंत्रताका श्रद्धान ज्ञान व ध्यान ही स्वतंत्रता पानेका उपाय है। स्वतंत्रताकी भक्ति ही परम भक्ति है। स्वतंत्रताका गान ही परम मंगल गान है। स्वतंत्रताका तत्व ही परम पवित्र वापिका है जहां कल्लोल करना परम शांतिप्रद है।

जो उच्च जीवनके प्रेमी हो उनको उचित है कि स्वतंत्रताका भाव सहित साधन करें व परमानंद रसको, जो अपने ही पास है पीकर परम सन्तोषको प्राप्त होवें।

४२-कर्मोंकी पराधीनता।

एक ज्ञानी आत्मा एकांतमें बैठकर स्वतंत्रताका स्मरण करता है तब उसे इसका दर्शन हरएक विश्वके द्रव्यमें होता है। विश्व छः द्रव्योंका समुदाय है।

आकाश एक अखण्ड है, धर्मास्तिकाय एक है, अधर्मास्तिकाय एक है, ये तीन द्रव्य एक २ अखण्ड अपने गुण व पर्यायोंमें स्वतंत्रतासे परिणमन करते रहते हैं। कालाणु असंख्यात हैं। सब भिन्न २ पूर्ण स्वतंत्र हैं। अपने स्वभावसे परम स्वाधीनतासे परिणमन करते रहते हैं। पुद्गलके परमाणु अनंतानंत हैं। ये भी अपनी अबंध अवस्थामें रहते हुए अपने मूल स्वभावमें स्वतंत्रतासे कल्लोल कर रहे हैं। जीव भी अनंतानंत हैं। ये सब जीव अपनी २ सत्ताको भिन्न २ रखते हैं। सर्व ही अपने स्वभावमें हैं, पूर्ण स्वतंत्र हैं, सर्व ही परम शुद्ध हैं, निरंजन हैं, निर्विकार हैं, ज्ञानदर्शनमई हैं, परमशांत हैं, परमानंदमय हैं, किसीका किसीके साथ न राग है, न द्वेष है, न मोह है। सर्व ही परम वीतराग हैं।

इस तरह जब द्रव्य दृष्टिसे सर्व विश्वके पदार्थोंको अपने मूल स्वभावमें देखा जाता है तब सर्व ही परम स्वतंत्र हैं, मैं पूर्ण स्वतंत्र हूं, ऐसा झलकता है ।

इस शुद्धनयकी दृष्टिसे देखते हुए स्वतंत्रता प्राप्तिका कोई उपाय नहीं करना है ।

दूसरी अशुद्ध दृष्टि या अशुद्ध पर्याय दृष्टि या असद्भूत व्यवहार दृष्टि है। इस दृष्टिके द्वारा देखते हुए मैं अपनेको आठ कर्मोंके फंदमें जकड़ा हुआ पाता हूं। न तो अनंतज्ञान है, न अनंतदर्शन है, न अनंतवीर्य है, न अनंत सुख है—रागद्वेषके विकार हैं, इच्छाओंके तीव्र रोग हैं। सुख चाहते हुए भी सुख नहीं मिलता है, दुःखको न चाहते हुए भी दुःख आके घेर लेता है, मरण न चाहते हुए भी मरण आजाता है ।

इष्टवियोग न चाहते हुए भी इष्टका वियोग होजाता है । अनिष्ट संयोग न चाहते हुए भी अनिष्टका संयोग होजाता है । घोर दीनहीन अवस्था होरही है। बड़ी ही भारी कर्मोंकी पराधीनता है।

इस पराधीनताको मिटानेका उपाय यही है कि हम अपने मूल द्रव्यको पहचानें कि यह स्वभावसे स्वतंत्र है और एकाग्र होकर बलपूर्वक मोहको दूरकर वैराग्यवान हो अपने ही शुद्ध स्वभावका मनन करें—ध्यान करें ।

स्वानुभवमई होकर स्वतंत्रताका ही आनंद लेवें । यही हमारा स्वानुभवरूपी चारित्र कर्मोंको दग्ध कर देगा और हम बहुत शीघ्र अपने निजस्वभावमें पूर्ण स्वतंत्र होजायंगे। स्वतंत्रता मेरेमें है । यही श्रद्धान स्वतंत्र होनेका उपाय है ।

—

४२–अविद्या और तृष्णा।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व पर द्रव्योंसे उन्मुख होकर एकांतसेवी होता है और शांतभावसे विचार करता है कि मैं निराकुल क्यों नहीं हूं। क्यों मुझे रातदिन विषय व कषायोंकी आकुलता सताती है। क्यों मैं अपने शुद्ध वीतराग ज्ञान दर्शन स्वभावमें विश्राम नहीं करता हूं। सिद्धोंके समान तो मैं भी हूं। उनकी जाति व मेरी जाति एक है। जितने सामान्य तथा विशेष गुण सिद्धोंमें हैं उतने ही सामान्य व विशेप गुण मेरी आत्मामें भी हैं। केवल सत्ताकी अपेक्षा भिन्नता है। सिद्ध सदा परमानंदका उपभोग करते हैं, परम निश्चल हैं। एक क्षण भी स्वानुभूति रमणसे विरत नहीं होते। न उनके आत्मीक प्रदेश हिलते हैं, न उनमें कोई प्रकारकी कषाय है। मैं ऐसा क्यों नहीं?

वास्तवमें मैंने परसे प्रीति की है, परको अपनाया है, इसीसे कर्म पुद्गलोंने मेरे साथ सम्बन्ध कर रक्खा है। जो जिसका स्वागत करता है वह उसके साथ जाता है। मैं पुद्गलकी प्रतिष्ठा करता रहा हूं, इसीसे मैं पुद्गलके विकारमें रंजित हूं। मेरी पराधीनताका कारण मेरा ही अज्ञान व मोह है।

जैसे मूरख पक्षी दर्पणमें अपनी छाई देखकर दूसरा पक्षी बैठा है ऐसा भ्रमसे मानकर चोंचे मारकर दुःखी होता है वैसा मैं भ्रमसे संसारके क्षणिक सुखको सुख मानकर क्लेशित हुआ हूं।

अविद्या और तृष्णाने मुझे पराधीन कर दिया है। क्या मैं इन दोनों मलोंका त्याग नहीं कर सकता हूं, यदि मैं अपने शुद्ध स्वरूपकी सच्ची गाढ़ प्रतीति प्राप्त करूं और पुद्गलसे सर्व प्रकार उदास

होजाऊँ । मेरेमें ही मेरा स्वभाव है । मैं स्वभावसे स्वतंत्र हूं । मैं स्वभावसे परमात्मा ईश्वर परब्रह्म हूं, ऐसी वार वार भावना भाऊँ । कर्मोदयसे होनेवाले शुभ व अशुभ दोनों ही प्रकारके भावोंका स्वागत न करूँ, उनके उदयको समभावसे अवलोकन करूँ व सर्व जगतके साथ समभाव रखनेको मैं निश्चयनयका चश्मा लगा लूं । सर्व आत्माओंको सिद्धके समान शुद्ध देखा करूं, बस यही मेरा भाव, यही मेरी भावना, यही मेरी प्रतीति, यही मेरा आत्म श्रम मुझे एक दिन परकी संगतिसे सर्वथा छुड़ाकर पूर्ण स्वतन्त्र कर देगा । अविद्या व तृष्णाका सदाके लिये वियोग होजायगा । स्वतन्त्रताकी भावना करनी ही स्वतन्त्रताकी प्राप्तिका साधन है ।

४४–यथार्थ तप ।

स्वतंत्रता परमप्यारी वस्तु है। जहां उत्तम क्षमा है वहां क्रोधको जीतते हुए स्वतंत्रता है । जहां मार्दव धर्म है वहां मानको जीतकर स्वतंत्रताका लाभ है । जहां मरणको जीतकर परम सरलता है वहीं स्वतंत्रताका लाभ है। जहां लोभको जीतकर परम पवित्रता है वहां ही स्वतंत्रता है, जहां पांच इन्द्रियोंके विषयोंका विजय है वहीं स्वतंत्रता है। जहां कुशील भावसे बचकर ब्रह्मचर्यमें लीनता है वहीं स्वतंत्रता है जहां ममत्वको विजय कर निर्ममत्व भावका प्रकाश है वहीं स्वतंत्रता है। जहां इच्छाओंको निरोध करके परम तप है वहीं ही स्वतंत्रता है। जहां ज्ञानका स्वतंत्र प्रकाश है, अज्ञानका विनाश है वहीं अन्धकार–विजयी स्वतंत्रभावका प्रकाश है ।

जहां सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप स्वानुभवकर झलकाव है वहीं स्वतंत्रता है। जहां निर्विकल्प समाधि है परन्तु शून्य भाव रहित है वहीं स्वतंत्रता है। जहां ऐसा उपवास है कि आत्माका उपयोग सर्व इन्द्रिय व मनके विकल्पोंसे रहित होकर एक आत्माहीके भीतर उपवास करता है वहीं स्वतंत्रता है।

जहां शरीरको हलका रखकर उपयोगको निज आत्मामें रमाया जाता है वहीं अवमोदर्य नामका तप है, वहीं स्वतंत्रताका झलकाव है। जहां सर्व षट् रसोंका त्याग करके एक आत्मीक रसका पान है वहीं रस परित्याग नामका तप है वहीं स्वतंत्रता है।

जहां संयमकी प्रतिज्ञा लेकर एक शुद्ध उपयोगके घरमें ही आत्मीक आनंदकी भिक्षा लेनेके लिये गमन है वहीं वृत्तिपरिसंख्यान तप नामकी स्वतंत्रता है? जहां सर्व पर द्रव्य, परगुण, परभावोंसे भिन्न होकर स्वात्म परिणतिमें ही शय्या व आसन है वहीं विविक्तशय्यासन नामका तप है वहीं स्वतंत्रता है। जहां कायके क्लेशसे विमुख होकर एक निज आत्माके आनंदमें कल्लोल है वहीं कायक्लेश तप नामकी स्वतंत्रता है।

जहां सर्व वैभाविक भावरूपी दोषोंसे शुद्धि पाकर स्वभावरूपी गंगाजलमें स्नान है वहीं प्रायश्चित्त रूपसे प्राप्त स्वतंत्रता है। जहां आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही देव है, आत्मा ही शास्त्र है, आत्मा ही गुरु है, ऐसा जानकर केवल एक आत्माका ही विनय है वहीं स्वतंत्रता है। जहां निज आत्मा देवकी पूर्ण आराधनाके साथ सेवा है वहीं वैयावृत्त तप है व वहीं स्वतंत्रता है। जहां परका स्वरूप आराधन

छोड़कर केवल एक स्वगुणोंका अध्ययन है वहां ही स्वाध्याय तपसे प्राप्त स्वतंत्रता है। जहां परसे विशेष ममता हटाकर आपका निश्चल ध्यान है वहीं व्युत्सर्ग तप है व वहीं स्वतंत्रताका प्रकाश है। जहां ध्याता, ध्यान, ध्येयका विकल्प हटाकर एक आपका ही निश्चल व परम शांत ध्यान है वहीं यथार्थ ध्यान है, वहीं यथार्थ तप हैं व वहीं स्वतंत्रता है। मैं स्वतंत्र होनेके लिये एक स्वतंत्रताका ही यत्न करता हूं यही मेरा उद्यम है।

४५–स्वतंत्र पद।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे रहित होकर एकांतमें बैठकर विचारता है कि स्वतन्त्रता कहां है व कैसे प्राप्त होसकती है। उसको थोड़ासा ही विचारनेसे यह झलक जाता है कि उसीने ही अपनी भूलसे परतन्त्रता मान रक्खी है। स्वतन्त्रता तो उसका निज स्वभाव है। जैसे भ्रमसे कोई खंभेको पुरुष मानके भयसे भागे वैसे यह अपनेको ही अपनी मान्यतासे परतन्त्र मानकर दुःखी होरहा है। भ्रमका पर्दा हटा है। मिथ्यात्वकी कालिमा मिटाये तो इसे यही अनुभव हो कि यह पूर्णपने स्वतन्त्र है और अपने आप ही आपका स्वामी है। यह पूर्ण ज्ञानी है, पूर्ण शांत है, पूर्ण आनन्दमय है, पूर्ण वीतरागी है। परमात्मामें और इसमें कोई जातिका अन्तर नहीं है। परका स्वागत करनेसे ही परका संयोग होता है। परके संयोगसे ही उसी तरह अपनी स्वतंत्रता छिप जाती है, जैसे ग्रहण पड़नेपर राहुके विमानद्वारा चंद्रके विमान पर परछाई पड़ जाती है।

स्वतंत्रताके आनन्दके भोगके लिये यह आवश्यक है कि हम व्यवहार या पर्याय दृष्टिको गौण कर दें और निश्चय दृष्टिको मुख्य कर दें। जगतमें सर्व भेद प्रभेद व्यवहार दृष्टिसे दीखते हैं। निश्चय दृष्टिसे अभेदरूप सर्व द्रव्य अपने स्वभावमें कल्लोल कर रहे हैं। अचेतन द्रव्योंमें ज्ञान नहीं है तब उनमें कोई विकारका या दोपका संभव नहीं है। ज्ञानमें विकार होना ही दोष है। एक आत्म द्रव्य ही ज्ञानवान है, इसमें पुद्गल कर्मका संयोग विकारका कारण है।

जब पुद्गल संयोगसे रहित सर्व आत्माओंको देखा जाता है तब उन सबमें निर्विकारता, स्वभाव-संपन्नता दिखलाई पड़ती है। सर्व ही एक समान शुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह सबको शुद्ध देखके रागद्वेषका मैल हटा देना चाहिये। फिर आपको ही वैसा शुद्ध देखना चाहिये। यही दर्शन सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है व सम्यक्चारित्र है। यही स्वन्त्रताका वास है। स्वतन्त्रताका अनुभव ही स्वानुभव है, समाधि है। यही शांतिसागरमें स्नान है, यही नन्दनवनकी सैर है, यही सुमेरु पर्वतपर आरोहण है, यही सिद्धालयका निवास है, यही त्रिगुप्तमई पर्वतकी गुफामें विश्राम है, यही स्वानुभूतिमई गंगामें स्नान है, यही निर्विकार निराकुल सुख शय्यापर शयन है, यही आत्मामें ज्ञान परिणतिका व्यापार है, यही परम शांत आनंदमई रसका पान है, यही कर्म-शत्रुओंके प्रवेशके अयोग्य निरास्रव भावरूपी दुर्गमें निवास है, यही शिवसुन्दरीसे वरनेके लिये मंगलमय रत्नत्रय स्वरूप विमानका आरोहण है। यही निरंजन आत्मीक उपवनका निवास है। यही भवसागरसे पार होनेके लिये आत्म-समाधिमई महान यानपर आरूढ़ होकर मोक्षद्वीपमें

प्रयाण है, यही शिवतियाके आसक्त उन्मत्त मानवका शिवतियाके मोहमें पागल हो, शिवतियाके पास गमन है, यही स्वतंत्रताका मार्ग है व यही स्वतन्त्र पद है।

४६–सुविचारसे स्वतंत्रता ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकथाओंसे मुंह मोडकर इस सुकथामें उपयोगको लगाए है कि मैं क्या हूं, मेरा स्वभाव क्या हैं, मेरे भीतर क्रोधादि कषाय क्यों हैं। मेरे साथ बाहरी पदार्थोंका संबन्ध क्यों हैं। क्यों शरीरका जन्म व मरण होता है। क्यों प्राणीको इच्छानुसार सुखकी प्राप्ति नहीं होती है? इन प्रश्नोंका विचार करते हुए बुद्धि कहती हैं कि हे आत्मन्! तूने जड़के साथ गाढ़ प्रीति कर रखी है, उसीने तुझे जड़-मुख बना दिया है कि रातदिन शरीरके सुखमें मग्न है। शरीरके भीतर जो आत्माराम है उसके हितकी ओर ध्यान ही नहीं है। क्षणिक सुखको सुख मान लिया है। पर द्रव्योंपर मोहित हो रहा है। हे आत्मन्! यदि तू अपना ही सच्चा सुख अनुभव करना चाहता है तो अपने स्वभावको पहचान और पुद्गलसे मोह करना त्याग। परकी पराधीनताने ही तुझे दुःखी बना दिया है। यदि तू भावमात्रसे, श्रद्धाभावसे पुद्गलका नाता तोड़ डाले और अपने आपको सम्हाले तो शीघ्र ही तेरी पराधीनता छूट जावे–तू स्वाधीन होजावे।

कुसंगति महा बाधक है, कुसंगतिसे उच्च प्राणी नीच होजाता है। कहां तू परमेश्वर, परमात्मा, त्रिकालज्ञ, त्रिलोकज्ञ, परमवीतरागी, निर्विकारी, परमानन्दी, अमूर्तिक, अनंतवीर्यवान, शिववासवासी

संसारसे विरागी और वैरागी और कहां यह तेरी दीनहीन अवस्था? निगोदवासी रहकर लब्ध्य पर्याप्त दशामें एक श्वासमें अठारह वार तूने जन्म मरण किया है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पतिमें जन्म धारकर शक्तिकी निर्बलतासे व अज्ञानसे बहुत कष्ट भोगा है। लट, पिपीलिका, भ्रमर आदिमें जन्म लेकर बहुत असह्य दुःख पाया है। पञ्चेद्रिय पशु पक्षी, मत्स्य होकर तीव्र वेदनाएं भोगी हैं। मानव होकर जन्म मरण रोग शोकादिका महान कष्ट पाया है। तृष्णाकी दाहमें जलकर जन्म गंवाया है। देवगतिमें कदाचित् प्राप्त हुआ तो इंद्रिय भोगोंमें लिप्त हो कभी अपने आपको पहचाना नहीं। नारकियोंका दुःख सहन व दुख दानसे ही समय नहीं मिलता है जो कुछ आत्महितमें चित्त लगावे। परकी संगतिमें चारों गतियोंमें वार वार जन्म लेकर संकट पाए हैं। हे आत्मन्! अब तो आपको आप जान, परको पर जान। अपनी गूढ सम्पत्तिको सम्हाल, जो अनुपम परम मंगलकारी है।

स्वस्वरूपका भोग ही स्वतंत्रताका भोग है। अब तू अपने आपकी महिमाका गुण गानकर अपने आपके वारवार दर्शन कर, अपने स्वरूपका ज्ञानकर, उसी स्वरूपमें रहनेका यत्न कर। सर्व व्यवहारको हेय जानकर छोड़ दे। शुभ व अशुभ दोनों ही व्यवहार तेरे स्वाभाविक शुद्ध व्यवहारसे विपरीत हैं।

मन वचन कायके प्रपंचसे भावको जुदा करके केवल आत्मीक भावोंसे सन्मुख होकर अपनेसे अपनेको देख, तब तू एक अद्भुत रूपको देखेगा व एक अद्भुत रसको चाखेगा, अद्भुत सागरमें कल्लोल

करेगा, परमानन्दका भोग पावेगा, कर्म-मल हटा देगा। परमात्माके शुद्धासनपर विराजमान हो जावेगा। जगमें रहते हुए भी परमात्मा-पदका भोग भोगेगा। सर्व प्रकारसे सुख शांतिका आदर्श होजायगा। सर्व पर छूट जायगा, स्वतंत्रता तेरेमें आ जायगी।

४७-ज्ञानामृतका पान।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालसे निवृत्त होकर यह विचारता है कि स्वतंत्रताका लाभ कैसे हो। अनादिकालसे जिसके विना पराधीन होकर इस जीवने महान कष्ट भोगे हैं वह अपूर्व शक्ति कैसे प्राप्त हो। जीवका वास्तविक प्राण स्वतंत्रता है, स्वतंत्रतासे अपने सर्व गुणोंको स्वाधीन होकर भोग सकता है। परतन्त्रताकी जंजीरें शक्तिको व्यक्त नहीं होने देती हैं। यह आत्मा स्वभावसे नित्य आनन्दमई व परम वीतराग है। परन्तु कर्मबन्धकी परतंत्रतासे सदा आकुलित व अशांत हो रहा है। मूल स्वभाव विपरीत परिणमन कर रहा है। आप तो परम शुद्ध परमात्मा ज्ञाता दृष्टा है। परन्तु अपनेको दीनहीन, रागी द्वेषी मान रहा है। अपने मूल ब्रह्म स्वरूपको भूल रहा है। इस भूलसे ही कर्मके जालोंमें घिरा हुआ है। कर्मोंके उदयसे महान कष्टोंको पाता है।

जो कोई आत्महितैषी है उसको इस मानव जन्मको सफल करनेके लिये स्वस्वरूपकी पहचान भले प्रकार करना चाहिये। सोहं मंत्रके मननसे, वारवार अभ्याससे निजको शुद्धात्मा ही मानना चाहिये। जगतके प्रपंच जालको बाधक समझकर उससे वैराग्यभाव लाना चाहिये। जलमें कमलके समान इस भव समुद्रमें रहना चाहिये। व्यवहारका सर्व

झंझट मन वचन कायकी तरफ पटक देना चाहिये। जब मन वचन काय मैं नहीं तब सर्व इनका कर्तव्य भी मैं नहीं। उनकी क्रियासे होनेवाला बंध भी मैं नहीं, उन कर्मोंका उदय व फल भी मैं नहीं। कर्मके फलका दृश्य जो यह चार गतिरूप जगतका नाटक है सो भी मैं नहीं। इस नाटकका कर्ता मैं नहीं, भोक्ता मैं नहीं, मैं केवल ज्ञाताद्रष्टा हूं। निश्चयसे एक तटस्थ हूं, निराला हूं।

अब मैं अपने वीतराग विज्ञानमय स्वभावमें परिणमन करता हूं। वहीं विश्राम करता हूं। वहीं तृप्ति मानता हूं। अनादिकालसे विषय भोगोंकी तरफ रत रहा। कभी भी तृप्ति नहीं पाई। अब इस असार इंद्रिय विषयोंसे नाता तोड़ता हूं। अतीन्द्रिय आनंदका सतत प्रवाह जिस स्रोतसे बहता है, उस आनंदसागर आत्माका ही प्रेमी बन गया हूं। उसीका रसिक होगया हूं। अपने स्वतंत्र स्वभावकी ठीकर पहचान होगई है। अब कभी भी भूलमें पड़नेका नहीं हूं। अब कभी मोहकी मदिराको नहीं पीऊंगा। चेतनसे अचेत नहीं हूंगा। ज्ञानामृतका पान करूँगा व परम तृप्तिको भजूंगा।

मैंने स्वतंत्रताका पता पालिया है। आपकी ही भूमिकामें उसका निवास है। वहीं उसे अपना आसन जमाकर तिष्ठना है। वहीं निरंतर वास करना है। वहांसे कभी अन्यत्र नहीं जाना है। अब मैं शीघ्र ही परतंत्रताके बंधन काट दूंगा और सदाके लिये परम स्वतंत्र होजाऊंगा।

४८—दीपावलि व ज्ञानज्योति।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके विचारोंको बन्द करके आज

श्री महावीर भगवानका स्वरूप विचार कर रहा है। भगवानकी आत्मामें पूर्ण स्वतंत्रता है। परतंत्रताका कारण कोई कर्ममैलका संयोग नहीं है। अननंतगुण व स्वभावधारी यह आत्मा है। वे पूर्णपने विकसित होगए हैं। अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, परम वीतरागता, परम सम्यक्त सब गुण कमलके समान प्रफुल्लित होगए हैं। उनको पूर्ण स्वराज्य प्राप्त है। क्या मैं ऐसा नहीं हो सकता हूं। श्री महावीर भगवानका उपदेश है कि जो अपनी आत्म—स्वतंत्रताका विश्वास लाकर उसीका ध्यान करता है वह स्वतंत्र होजाता है। मैं महावीर भगवानके समान शुद्ध स्वभावोंका धारी हूं, अभेद हूं, अजर अमर हूं, ज्ञातादृष्टा, वीतराग, परमानंदमई हूं। ऐसा श्रद्धान, ऐसा ज्ञान, ऐसा चारित्र वह अभेद निश्चय रत्नत्रयमई स्वानुभवरूप मोक्षमार्ग है। इसके सिवाय और कोई स्वतन्त्र होनेका मार्ग नहीं है। परसे असहयोग स्वसे सहयोग स्वतन्त्र उपाय है। संसारकी किसी वासनासे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। मैं सबसे अलिप्त हूं। यही भावना अविकारी है। इसी मार्गसे ही स्वतंत्रताका लाभ होता है।

मैं इसीलिये इस ज्ञान ज्योतिको अपने भीतर जगाता हूं, दीपावलीका उत्सव करता हूं। जिसने दीपावली अन्तरंगमें मनाई वही केवलज्ञानी हो गया।

मेरा नाता किसी भी पर पदार्थसे नहीं है इस एकत्वको ध्याना ही हितकारी है। वास्तवमें स्वतंत्रता जैसे परमानंदमई है वैसे स्वतंत्रका मार्ग आनंदमई है। आनन्दसे ही आनन्दकी वृद्धि होती है।

श्री महावीर भगवानको वारवार नमस्कार करता हूं, जिनके

प्रतापसे स्वतंत्रता पानेका मार्ग प्राप्त होगया है। जो बन्धनसे छुड़ाये उसके समान उपकारी और कौन है?

मैं श्री महावीर भगवानके आश्रयसे उनके गुणोंके मननरूप श्रेणीसे अपने ही शांत आत्माके भीतर प्रवेश करता हूं और निरंतर आत्मानंदका सार पाता हुआ कर्मकलंक रहित स्वाधीन होनेके लिये आगे बढ़ता चला जाता हूं।

४९–विषय-लालसा।

एक ज्ञानी आत्मा सूक्ष्मदृष्टिसे विचारता है कि आत्मा है तो तीन जगतका प्रभु निरञ्जन निर्विकार, शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग, परन्तु संसारमें कर्मोंकी बड़ी भारी पराधीनता है जिससे इसकी स्वाधीन शक्तियां सब प्रच्छन्न होरही हैं। उन कर्मोंमें सर्वमें प्रबल वैरी मिथ्यात्व कर्म है, इसने बुद्धिपर ऐसा अन्धेरा छा रक्खा है, जिससे यह अपनेको बिलकुल भूल गया है। कर्मोंके उदयसे जो आत्माकी अंतरङ्ग व बहिरङ्ग अवस्था होरही है उसे ही यह मिथ्यादृष्टी जीव अपनी मान रहा है। मैं क्रोधी, मैं मानी, मैं मायावी, मैं लोभी, मैं राजा, मैं साहूकार, मैं किसान, मैं जमींदार, मैं सेवक, मैं बढ़ई, मैं सुनार, मैं धोबी, मैं लुहार, मैं गोरा, मैं सावला, मैं बालक, मैं युवान, मैं वृद्ध, मैं धनी, मैं सुन्दर, मैं बलवान, मैं यति, मैं श्रावक, मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्री, मैं वैश्य, मैं शूद्र, मेरा घर, मेरा वस्त्र, मेरा आभूषण, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरी पुत्री, मेरी माता, मेरा पिता, मेरा राज्य, मेरा ग्राम, मेरी भूमि, मेरा कुटुम्ब, मेरा धन, इत्यादि नाना

प्रकार अहंकार ममकार भावमें फंसा है। इस मिथ्यात्वके कारण आत्मीक सच्चे सुखका इसे पता नहीं है। पांचों इन्द्रियोंके भोगको ही सुखका कारण मान रहा है।

रातदिन स्त्री भोगकी लालसा, मिष्टान्न खानेकी चिन्ता, सुगंधि सूंघनेकी कामना, मनोहर रूप देखनेकी लालसा, सुन्दर सुरीले गान सुननेकी अभिलाषा वन रही है।

मनमें भी इनके विषयोंके पानेका, रक्षणका ही विचार है। इष्ट वियोगकी व अनिष्ट संयोगकी चिन्ता है। मन भी रातदिन विषयसुखकी तृष्णामें आकुल व्याकुल रहता है। ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव परम स्वार्थी होकर स्वार्थ—साधनके हेतु हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांचों पापोंमें फंसा रहता है। विषय व कषायोंके शत्रुओंके बीचमें पटकनेवाला यह मिथ्यात्व शत्रु है। कब इसका अन्धकार मिटे व सम्यक्तका प्रकाश प्रगट हो यही भावना है।

५०—एकान्त मिथ्यात्व ।

मिथ्यात्व परम शत्रु है। जीवको अपनी प्रतीति नहीं होने देता है। इस मिथ्यात्वके प्रगट अनेक भेद हो सकते हैं। उनमें एक भेद एकांत मिथ्यात्व है। जगतमें सर्व ही पदार्थ अनेकांत स्वरूप हैं। अनेक अन्त या धर्म स्वभावको रखनेवाले हैं। उनको एक ही अन्त या स्वभाववाला मान लेना, और स्वभावोंको नहीं मानना एकांत मिथ्यात्व है। जैसे हरएक पदार्थ अपने मूल स्वभावको नाश न करनेकी अपेक्षा नित्य व अविनाशी है तथा उसी समय क्षण क्षण परिणमनशील

होनेकी अपेक्षा अनित्य या क्षणभंगुर है, दोनोंको न मानना मिथ्यात्व है। एकको मानना एकको न मानना मिथ्यात्व है। हरएक पदार्थ अपने गुण पर्यायोंका अखण्ड एक समूह है इससे एक है तथापि प्रत्येक गुण या पर्याय सर्वांग द्रव्यमें व्यापक है इससे अनेक रूप भी है। वस्तु एक रूप भी है अनेक रूप भी है। इन दोनों बातोंमेंसे एकको ही मानना एकांत मिथ्यात्व है।

यह आत्मा जो संसार अवस्थामें शरीरमें है निश्चयदृष्टिसे देखा जावे तो यह शुद्ध, अविनाशी, अमूर्तिक, स्वभावका ही कर्ता, स्वभावका ही भोक्ता, परमानन्दमय वीतराग, ज्ञाता दृष्टा सिद्ध भगवानके समान है। परन्तु व्यवहारदृष्टिसे जब देखा जाता है तब यह कर्म बंध सहित अशुद्ध, रागीद्वेषी, पाप पुण्यका कर्ता व सुख दु:खका भोक्ता व संसारमें भ्रमणकर्ता देखा जाता है। इसलिये यह संसारी जीव निश्चयसे शुद्ध है, व्यवहारसे अशुद्ध है ऐसा मानना और एक ही बातको मानना एकांत मिथ्यात्व है। इस तरह एकांत मिथ्यात्वके भावोंको निकाल कर अनेकांतको स्थान देकर फिर स्वतंत्र होनेके लिये निश्चयनयकी प्रधानता लेकर शुद्ध स्वभावकी भावना करके निज अमृतको पान करनेका व स्वतंत्रताके मननका उद्यम करना हितकर है।

५१–विपरीत मिथ्यात्व।

स्वतंत्रताका खोजी स्वतंत्रताबाधक शत्रुओंको खोज रहा है, जिससे उनका बहिष्कार किया जाय। सबसे महान् शत्रु मिथ्यात्व है, उसीका एक भेद विपरीत मिथ्यात्व है।

जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसी मान लेना विपरीत मिथ्यात्व है। आत्मा स्वभावसे शुद्ध परमात्मा है। उसको जड़से उत्पन्न मानना व ब्रह्मका अंश मानना व अल्पज्ञ मानना। परमात्मा निर्विकार ज्ञाता दृष्टा है, कृतकृत्य है, उसको जगतका कर्ता शासक फलदाता मानना। धर्म अहिंसामय है तौभी हिंसा करनेमें धर्म मानना, देव वीतराग सर्वज्ञ होता है ऐसा होनेपर भी रागी द्वेषी व अल्पज्ञको देव मानना, गुरु परिग्रह व आरम्भ रहित, आत्मज्ञानी, परम शांत व तपस्वी होते हैं तौभी परिग्रही, आरंभी, विषयासक्तको गुरु मानना। मोक्षका साधक वीतरागमय एक शुद्ध उपयोग है, जो स्वात्मानुभव रूप है, ऐसा होने पर भी पूजा, पाठ, जप, तप, दान, शुभ आचारको, शुभ उपयोगको मोक्षका साधन मान लेना।

आत्मा स्वभावसे रागद्वेषका कर्ता नहीं व कर्मबंधका कर्ता नहीं व कर्मफलका भोक्ता नहीं तौ भी आत्माको रागद्वेषका कर्ता व पुण्य पाप कर्मका बन्धन व फल भोक्ता मानना। इत्यादि अनेक प्रकारका यह विपरीत मिथ्यात्व है। मैं सम्यक्त्वकी भावना करके कि मैं सिद्ध सम शुद्ध हूं, परमानंदी हूं, इस मिथ्यात्वका विनाश करके स्वात्मानुभव पर पहुंच रहा हूं।

५२–संशय मिथ्यात्व।

स्वतंत्रताप्रिय महात्मा स्वतंत्रबाधक शत्रुओंका विचार कर रहा है। पांच प्रकार मिथ्यात्वमें संशय मिथ्यात्व भी प्रवल शत्रु है। जो किसी तत्त्वका निर्णय नहीं कर पाते हैं वे डांवाडोल चित्त रहते हुए

संशयके हिंडोलेमें हिलते हुए किसी भी तत्त्वपर अपनी श्रद्धाको नहीं जमा पाते हुए जन्म वृथा खो देते हैं।

आत्मा है या नहीं, परलोक है या नहीं, पाप पुण्य है या नहीं, कर्मबंध होता है या नहीं, सर्व ही नास्तिक हैं या आस्तिक हैं, परमात्मा है या नहीं, परमात्मा जगतका कर्ता है या नहीं, परमात्मा फलदाता है या नहीं, आत्मा स्वभावसे परमात्मा रूप है या नहीं, आत्मा अमूर्तीक है या पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चार धातुओंसे उत्पन्न मूर्तीक है। चार धातु स्वतंत्र हैं या इनका मूल परमाणु है, जगतके पदार्थ नित्य हैं या अनित्य हैं, जगत अनादि है या सादि है, निर्विकल्प समाधिसे मोक्ष होता है या शुभ कार्योंसे भी हो जाता है, भक्तिमात्र तारिणी है या नहीं, मूर्ति पूजा हितकारी है या व्यर्थ है, गुरुसेवा व शास्त्रसेवा कर्तव्य है या कोरा समयका दुरुपयोग है, धर्म है या केवल बनावटी ढोंग है, ब्रह्ममय जगत है या नहीं, द्रव्य एक है या अनेक है, भावमात्र जगत है या दुःखरूप जगत है।

ज्ञान ज्ञेयसे पृथक् है या एक है, सच्चा अतीन्द्रिय सुख कुछ है या नहीं, इत्यादि धार्मिक तत्त्वोंमें निर्णयको न पाकर संशय मिथ्यात्वी केवलज्ञानके विकल्पोंमें ही उलझा हुआ जीवनको खो देता है। सच्चे सुखामृतके समुद्रको अपने आत्माके भीतर रखता हुआ भी वह बिचारा कभी उसमें स्नान नहीं कर पाता है, न उसके एक बूंदका स्वाद पाता है। स्वतंत्रताप्रिय इस मिथ्यात्वको सम्यक्तके प्रभावसे हटाकर निजात्माको परमात्मा व आनंदसागर समझकर उसीकी सेवामें व उसीके अनुभवमें गुप्त होकर परम सुख भोगता है।

५३–अज्ञान मिथ्यात्व ।

स्वतंत्रताखोजी स्वतंत्रताबाधक शत्रुओंकी खोज करके उनको अपने क्षेत्रसे बाहर करनेका प्रयत्न कर रहा है। मिथ्यात्वके समान आत्माका कोई प्रबल बैरी नहीं है। अज्ञान मिथ्यात्वने तो सारे संसारी जीवोंको बावला बना डाला है। एकेन्द्रिय प्राणीसे लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक सब प्राणी अज्ञानसे पर्यायबुद्धि हो रहे हैं। शरीरको व शरीरकी स्थितिको ही आप जानरहे हैं। सैनी पंचेंद्रियोंमें भी पशु, पक्षी, मत्स्यादि व मानवादि जिनको किसी धर्मका भी उपदेशका अवसर नहीं मिला है वे सब अज्ञानसे पर्यायबुद्धि होरहे हैं। जिनको धर्मका समागम है वे अज्ञान पूर्ण धर्मके उपदेशको सुनकर भी आत्माकी सच्ची प्रतीतिसे विमुख हैं। कतिपय मानवोंको सत्य धर्मके जानने व श्रद्धान करनेका अवसर भी है। परन्तु वे जाननेका उद्यम नहीं करते हैं। देखादेखी कुलकी आम्नायसे कुछ धर्मके बाहरी नियम पालते हैं। वे भी मिथ्यात्वसे ग्रसित हैं।

कुछोंका विश्वास है कि जो जानेगा उसे पाप पुण्य लगेगा। हम न जानेंगे तो हमें कुछ नहीं लगेगा। ये सब अज्ञान मिथ्यात्वसे दूषित प्राणी अपने भीतर सच्चा तत्व रखते हुए भी अब शुद्ध सिद्ध परमात्मा परमानंदमय होते हुए भी अपनेको दीन हीन शरीररूप मानकर विषय कषायोंमें लीन हैं। ज्ञानी जीव इस अज्ञान मिथ्यात्वको दूर करके सद्गुरु व सत्शास्त्रके द्वारा अभ्यास करके भेदविज्ञानको प्राप्त करता है। तब निज आत्माको रागादिसे भिन्न पाकर व स्वयं परमात्मा है ऐसा अनुभव करके अपूर्व आनन्दका लाभ करता है।

५४–विनय मिथ्यात्व ।

ज्ञानी स्वतंत्रताप्रिय परतंत्रताकारक कारणको खोजकर मिटा रहा है । सबसे प्रबल शत्रु मिथ्यात्व है । विनय मिथ्यात्व भी बड़ा ही भ्रामक है । भोला जीव यह जानकर कि धर्म कोई भी हो सब ही पापनाशक हैं व कुछ न कुछ भला करनेवाले हैं ऐसा समझकर बिलकुल विचार नहीं करता है कि मैं कौन हूं, मेरा स्वरूप क्या है । रागद्वेष क्यों हानिकारक है । सच्चा सुख क्या है । मुक्ति क्या है । इन प्रश्नोंपर विना विचार किये हुए केवल यह भय रखता है कि मेरा बुरा न हो, मुझे गरीबी न सताये, कुटुम्बका क्षय न हो, रोग शोक न हो, सब फलें फूलें । सांसारिक सुखके लोभसे व दुःखोंसे भयभीत होकर धर्म मात्रको अच्छा जानकर सब धर्मोंकी भक्ति व विनय करता है । सर्व प्रकारके देवोंको, गुरुओंको, धर्मोंको, मंदिरोंको, मठको, पूजापाठको मानता है, कुछ तो भला होगा, ऐसा भाव रखता है । हम तो पापी हैं, हमसे तो सब ही धर्म अच्छे हैं । इस भोलेपनसे सबकी विनय करता हुआ तत्वको कभी नहीं पाता है । जैसे कोई रत्नके नामसे काचकी, कंकडकी, पाषाणकी सबकी ही प्रतिष्ठा करे तो उसे रत्नका लाभ न होगा, रत्न-परीक्षकको ही होगा । विनय मिथ्यात्वकी मूढ़ताको मनसे निकालकर ज्ञानी जीव विवेकी होजाता है और भेदविज्ञानसे अपने आत्माको निश्चयनयके द्वारा परमात्मा व परम शुद्ध परमानन्द भाव समझ कर उसीकी ही तरफ लौ लगाता है । स्वानुभवको पाकर परम सुखी होजाता है ।

५५–अनन्तानुबन्धी क्रोध ।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताका प्रेमी होकर परतंत्रताकारक कारणोंकी खोज करके उनको मिटानेका उद्यम कर रहा है। आत्माका परम वैरी अनन्तानुबंधी क्रोध है। क्रोध अग्निके समान ज्ञान, शांति, सुखादि गुणोंको जलानेवाला है। अनन्तकाल तक जिसकी वासना चली जासके, छः माससे ऊपर दीर्घकाल तक जिसकी वासना रहे, उसे ही अनन्तानुबंधी कहते हैं। जिस किसीका द्वेषभाव होजावे वह भव भवमें साथ रहे, मिटे नहीं। जैसे कमठका द्वेषभाव पार्श्वनाथ स्वामीके जीव मरुभूमिके साथ हो पाया जो कई भवोंतक, सागरों तक चला। अनन्तानुबंधी कषायमें कृष्ण, नील, कपोत तीन अशुभ व पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्या रूप भाव रह सक्ते हैं। अतएव ऐसे क्रोधका कभी मंद, कभी तीव्र झलकाव होता है। प्राणी पर्यायबुद्धि होता है। शरीरको सुख मानता है, पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें जो बाधक होते हैं उनसे द्वेष बांध लेता है, उनके नाशका उपाय सोचता है। भीतर कषायकी आग जला करती है। कभी ऊपरसे शांति भी प्रगट होती है। इस कषायके मैलसे कलुषित आत्माके भीतर शुद्धात्माका दर्शन होना अतिशय कठिन है, असंभव है। उसके भावोंमें संसार उपादेय झलकता है। संसारी प्राणियोंसे ही रागद्वेष रहता है। बहिरात्मबुद्धिका ही चमत्कार रहता है। मिथ्यात्वके लिये यह कषाय परम सहकारी है।

इस अनन्तानुबन्धी क्रोध कषायके वशीभूत होकर यह प्राणी कभी भी सम्यक्तका लाभ नहीं कर पाता है। अतएव ज्ञानका खोजी श्री गुरुकी शरण ग्रहण करता है। उपदेश रूपी जलके छिड़कावसे

भीतरी क्रोधकी आगको शांत करनेका उद्यम करता है। पुनः पुनः भेद विज्ञानके अभ्याससे कि मैं शुद्धात्मा हूं, मैं कषायवान नहीं, कषाय भाव कषाय कर्मका मैल है। मैं सदा वीतरागी हूं। यह ज्ञानी सम्यक्तको पाकर परम सुखी होजाता है। आत्मीक बागमें रमण करता है।

५६–अनंतानुबंधी मान।

एक ज्ञानी स्वतंत्रता खोजी परतंत्रताकारक शत्रुओंकी तलाश कर रहा है। अनंतानुबंधी मान भी बड़ा ही अंधकार फैलानेवाला है। इसके आक्रमणसे प्राणी पर पदार्थमें अन्धा होजाता है। पर वस्तुका स्वामीपना मानकर घोर अंधकार करता है। मैं उत्तम व श्रेष्ठ कुलधारी हूं, मेरी माताकी पक्ष जाति शिरोमणि है। मैं बड़ा धनिक हूं, मैं बड़ा रूपवान हूं, मैं बड़ा बलवान हूं, मैं बड़ा अधिकार प्राप्त हूं, मैं बड़ा ज्ञानी हूं, मैं बड़ा तपस्वी हूं; इसतरह अभिमान करके अपनेसे औरोंको तुच्छ देखकर उनका तिरस्कार करता है। जो पर्याय प्राप्त है उसमें आपा मानके मैं राजा, मैं बड़ा, मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं परोपकारी, मैं दानी, मैं तपस्वी, इस अहंकारमें व मेरा यह चेतन व अचेतन परिग्रह है, इस ममकारमें फंसा रहता है। उसकी बुद्धिके ऊपर इस अभिमानका संस्कार दृढ़ होजाता है। स्वार्थ साधनाके लिये अन्याय करता है। अन्याय करते हुए मैं सफल होऊंगा ऐसा घोर मान करता है। जैसे रावणने रामकी स्त्री सीताको हरण करके रामचंद्र द्वारा समझाए जाने पर भी मरते समय तक मान न त्यागा,

अनंतानुबंधी मान भवभवमें अहंकार ममकार भाव जमाए रहता है, मिथ्या मान्यताके बढानेमें परम सहकारी है।

आप आत्माराम परम शुद्ध निर्विकार अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यका धनी परम कृतकृत्य व परम वीतराग है, तौभी अपनेको औरका और मान न करानेमें यह मान घोर भ्रम फैला देता है। ज्ञानी भेद-ज्ञानके द्वारा इस कषायके स्वरूपको विपरीत समझकर इसके आक्रमणसे बचता है और अपने स्वरूपको यथार्थ समझकर निरन्तर तिस यथार्थ स्वरूपकी भावना करता हुआ सम्यक्तको पाकर शत्रुपर विजय प्राप्त करके परम सन्तोषी होजाता है।

५७–अनंतानुबंधी माया।

ज्ञानी स्वतंत्रता खोजी सर्व परतंत्रकारकोंको पहचान कर अपने पाससे दूर करना चाहता है। अनंतानुबन्धी माया भी बड़ी भारी पिशाचिनी है। यह मोहित करके परको ठगनेकी बुद्धि उत्पन्न कर देती है। मिथ्यादृष्टि जीव विषयोंका अति लोभी होता है। तब उनकी प्राप्ति व रक्षाके लिये नानाप्रकारके उपाय करता है। कपटके षड्यंत्र रचता है, परका सर्वनाश हो जानेकी शंका नहीं रखता है। स्वार्थ–साधन हेतु परका कपटसे मित्र बन जाता है, फिर अवसर पाकर मित्रको ठग लेता है। धन्यकुमार सेठके सात भाइयोंने ईर्षा करके कपटसे मुनि-दर्शनके बहाने वनमें ले जाकर धन्यकुमारको एक कुण्डमें गिराकर मारनेका प्रयत्न किया।

रावणने कपटसे सीता पतिव्रता राम-पत्नीको हरा। ये दोनों अनन्तानुबन्धी मायाके दृष्टांत हैं। परकी हानि व चित्त शोकका

निर्दयतासे विना विचार किये हुए ही मायाचारी घोर अन्याय कर लेता है। तीव्र कपाय भावोंसे घोर पाप कर्मका आस्रव होजाता है। बहिरात्म बुद्धिको धिक्कार हो जिसके वश होकर एक शिकारी जंगलमें दाना खिलानेके लोभसे मृगोंको पकड़ लेता है। उनकी स्वतंत्रता हर लेता है। संसार भ्रमणकारी इस मायाचारका बहिष्कार करनेके लिये ज्ञानी इस जगतकी अवस्थाको अशास्वत विचारता है। मरणके आते ही सर्व सामग्री व सर्व प्रबन्ध छूट जाता है। अतएव तुच्छ कालीन जीवनके हेतु नाशवंत परिग्रहके हेतु मायाचार करके स्वार्थ साधना बिलकुल मूर्खता है, ऐसा विचार कर ज्ञानी क्षणस्थायी प्रपंचजालसे विरक्त होजाता है और द्रव्योंका स्वभाव विचरता है तब अपने आत्माको परमात्माके समान परम ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंका धनी पाता है। परम सन्तोष, शांति व सुखका लाभ अपने ही भीतर तिष्ठनेमें है ऐसा निश्चय कर लेता है। अनन्तानुबन्धी मायाका दमन करके स्वस्थ हो अपने शुद्ध स्वभावमें श्रद्धान ज्ञानके साथ रमण करने लगता है तब जो आनन्द पाता है वह विषयसुखके सामने अमृततुल्य है। विषयसुख विष तुल्य है। आपमें रमण करके सम्यक्ती अन्तरात्मा बना रहता है।

५८—अनंतानुबंधी लोभ।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताका प्रेमी होकर सर्व परतंत्रताके कारणोंको विचार कर उनके त्यागका उपाय करता है। अनंतानुबंधी लोभ भी बड़ा भारी शत्रु है। इसके वशमें होकर यह प्राणी इतना अधिक तृष्णावान होजाता है कि तीन लोककी सम्पत्ति भी यदि प्राप्त होजावे

तौभी उसकी तृष्णाकी ज्वाला शमन नहीं हो सकती। पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका तीव्र लोभी होकर या अपनी प्रसिद्धि व मान पानेका तीव्र अनुरागी होकर वह स्वार्थ-साधनमें बिलकुल अन्धा होजाता है। कृष्ण, नील, लेश्याके परिणामोंमें ग्रसित होकर परको भारी कष्ट देकर सर्वथा नाश करके भी धन व राज्य-इच्छित वस्तु प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। दयाका भाव उसके स्वार्थके सामने निर्दयतामें बदल जाता है। परकी हिंसा करके, असत्य बोलकर, परका द्रव्य अपहरण करके पर महिलाका संभोग प्राप्त करके अपनेको बड़ा कृतार्थ व पुरुषार्थी मान लेता है। अन्यायपूर्ण आरम्भ व परिग्रहके संचयमें रातदिन आकुल-व्याकुल रहता है। तीव्र लोभकी वासनासे वासित रहकर निरन्तर ही विषयभोगोंकी वाञ्छा किया करता है। तृष्णाकी दाहमें जला करता है। ऐसा मोही जीव कभी इस बातका विचार नहीं करता है कि मैं कौन हूं, जन्म व मरण क्या वस्तु है। यह जीवन अनित्य है। एक दिन सर्व सम्पदाका त्याग कर देना पड़ेगा। जीवको अकेले पाप—पुण्यको लिये हुए जाना पड़ेगा। वह लोभी मदिरापानी उन्मत्त पुरुषकी तरह विषयोंके भोगमें रत रहता है। यदि कभी धर्मके आचरण भी पालता है तो यही अन्तरंग भावना होती है कि इसके फलसे अधिकाधिक विषयसुख प्राप्त करूं। यह अनंतानुबंधी लोभ मिथ्यात्वभावको दृढ़ करता है। अज्ञानका अंधेरा छा देता है। आप स्वयं परमात्मा है, परमानंदमई है, परम वीतराग है, पूर्ण ज्ञानदर्शनमई है, परम वीर्यशाली है, अविनाशी है, अमूर्तीक है। ऐसा होकर भी आपको नहीं पहचानता है। पर्याय बुद्धिका अहंकार नहीं छोड़ता है।

ज्ञानी जीव इस लोभको आत्माका महान शत्रु समझता है, इसे कषाय कर्मके उदयका मैल जानता है। इससे परम उदासीन होजाता है। ज्ञानका दीपक जलाता है। भीतर अपने आत्माको परमात्मातुल्य जानकर भेदविज्ञान प्राप्त करता है और इसी शस्त्रसे वारवार भावना करके अनंतानुबन्धी लोभको जीतकर अपने अखण्ड ज्ञानमई स्वरूपमें थिरता पाकर व स्वात्माका अनुभव करके परम तृप्त व निराकुल हो जाता है।

५९-स्पर्शनेन्द्रिय अविरति।

ज्ञानी जीव परतन्त्रताके कारणोंकी खोज करता है तो पांचों इन्द्रियोंकी आसक्तताको भी आत्माकी स्वतंत्रतामें बाधक पाता है। स्पर्शनेन्द्रियका सामान्य विषय आठ प्रकारका है--रमणीक चिक्कन या रूखी वस्तुके स्पर्श करनेकी तृष्णा, या गर्म या ठण्डी वस्तुके स्पर्शकी कामना, या नरम व कठोर वस्तु या हलकी व भारी वस्तु छूनेकी कामना होती है। सामान्य आठ प्रकारके स्पर्शके कारण कोई चिकने, गद्दे, लिहाफ, बिछौने चाहता है। कोई कठोर शय्या पर ही स्पर्श करनेमें राजी है, कोई ठण्डा कोई गरम पानीसे स्नान करनेमें या पीनेमें खुश है, कोई गर्म रोटी कोई ठण्डी रोटीमें राजी होता है, कोई कोमल फूलोंकी मालाएं पहनता है, कोई कठोर वस्तुओंसे व्यायाम करता है, कोई हलके कपड़े व वर्तन, कोई भारी वस्तुओंके स्पर्शमें राजी रहता है। इस सामान्य आठ प्रकारके विषयोंमें तृष्णा बहुत भयंकर नहीं है, जितनी भयंकर तृष्णा कामवासनासे पीडित होकर सुंदर स्त्री या पुरुषके स्पर्शमें होती है। मनोज्ञ कामके विषय-

रूप स्त्री या पुरुषके साथ घूमने, चलने, उसके अङ्ग परस्पर स्पर्श करनेकी अति आसक्ति होती है। इस कामभावसे पीडित स्पर्शनेन्द्रियकी तृष्णासे कितनेक मानव ऐसे विषयान्ध होजाते हैं कि विवाहित या अविवाहित स्त्रीका भेदभाव भूल जाते हैं। न्याय व अन्यायके मार्गकी ओर दुर्लक्ष्य होजाता है। इस कामासक्त रूप स्पर्श भावके कारण न्याय पथपर चलनेवाले भी स्वस्त्रीके साथ अधिक काम सेवन करके मन व शरीरसे निर्बल होजाते हैं। अन्याय पथगामी तो अधिक पतित होकर शरीरको रोगी व वीर्यहीन बना लेते हैं।

स्पर्शनेन्द्रियके कामभावसे युक्त विषयकी चाह बहुत ही भयंकर है। कितने ही न्यायपथगामी किसीपर आसक्त होकर उसको न पाकर पागलके समान होजाते हैं। कामस्पर्शकी तृष्णा मानवको ऐसा अन्धा बना देती है कि उसको अपने आत्मीक सुखकी स्मृति भी नहीं आती है। इस अविरत भावमें प्रायः सर्व ही प्राणी एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तक पशु, पक्षी, मत्स्य, मानव, देव, नारकी सब फंसे हैं। मैथुन संज्ञाके विकारसे विकृत हैं। यह कामाशक्ति तीव्र कर्मका बंध कराकर भवभवमें दीनहीन पर्यायमें पतन कर देती हैं। आत्मीक आनन्दके स्वाद लेनेके अवसरसे प्राणी अति दूर होता जाता है। ज्ञानी जीव वस्तु स्वरूप विचारकर कामभावकी इच्छाको घातक समझता है। किसी भी स्पर्शकी चाहको भी परतंत्रकारी जानता है। इससे सर्व प्रकारकी स्पर्शनेन्द्रियजनित तृष्णाके शमनको ही हितकारी जानता है। अपने आत्माको परमात्माके समान परम सुखपूर्ण ज्ञान व वीर्यमई व परम निराकुल और वीतराग समझ लेता है। आत्मीक

८८।511 (20617)

सुखको ग्रहण योग्य मानके उसका रुचिवान होजाता है। इस हेय उपादेयरूप भेद ज्ञानमई भावनाके प्रभावसे स्पर्शनेन्द्रिय अविरत भावको विजय करके स्वात्मरस सन्तोषी होजाता है। और केवल मात्र अपनी स्वात्मानुभूति क्रियाका ही स्पर्श करता है उससे जो अपूर्व सुखशांति पाता है वह केवल अनुभवगम्य ही है, मन वचनसे अगोचर है।

६०—रसनाइन्द्रिय अविरति।

स्वतंत्रता स्थापनका दृढ़ संकल्प करनेवाला एक बुद्धिमान मानव परतंत्रताके कारणोंको विचारकर उनके दूर करनेका दृढ़ पुरुषार्थ कर रहा है। पुरुषार्थ करना ही पुरुषका गौरव है। पुरुषार्थ अवश्यमेव स्वतंत्रताके दृढ़ रूचिवानको स्वतंत्र कर देता है। मिथ्यादर्शन व अनन्तानुबंधी कषायके समान बारह प्रकार अविरत भाव भी बड़ा ही बाधक है। स्पर्शनेन्द्रिय अविरत भावके समान रसनाइन्द्रिय अविरत भाव भी प्राणीको महान जिह्वा—लम्पटी बना देता है। यह प्राणी जिह्वाके स्वादके कारण खट्टे. मीट्ठे, चरपड़े, तीखे, कसायले आदि नाना स्वादवाले पदार्थोंकी दृढ़ कामना करता है। अपना जीवन स्वादिष्ट पदार्थोंके सेवनके लिये ही है ऐसा समझता है। स्वादकी गृद्धताके कारण भक्ष्य, अभक्ष्य, शुद्ध अशुद्ध, स्वास्थ्यकारक व अस्वास्थ्यकारकका भेदभाव भूल जाता है। रोग होनेकी परवाह नहीं करके जो चाहता है वह स्वच्छन्द हो, खाने पीने लगता है। पर प्राण पीड़ाके तत्वको भूल जाता है। भूरि हिंसा करके, कराके, व हिंसाकी अनुमोदना करके रसनाका विषय पुष्ट करता है।

रसना लम्पटी मानव अधिक धनका लोभी बन जाता है, क्योंकि धन विना इच्छित पदार्थोंका लाभ होना असंभव है तब घोर अन्याय व हिंसा करके अनेक जाल रच करके धन कमाता है, तीव्र लोभके वशीभूत रहता है। खेद है नाना प्रकारकी स्वादिष्ट वस्तुओंका स्वाद लेते हुए ही रसनाइंद्रियकी तृष्णा शमन नहीं होती है। प्रत्युत जितना २ भोग किया जाता है उतनी २ चाहकी दाह बढ़ जाती है। शरीर निर्बल व वृद्ध होनेपर भी व मुखमें काम करनेकी शक्ति न होनेपर भी यह रसनाकी विषयवांछाको छोड़ता नहीं। असमर्थतामें खेद करता है व यह भावना भाता है कि मर करके ऐसी स्थितिमें उत्पन्न हूं जो नाना प्रकारके रसीले भोज्य पदार्थोंका भोग करूं, इस लोभसे प्रेरित हो पूजापाठ जप तप धर्मका सेवन भी करने लग जाता है। अतृप्तिकारी रसना इंद्रियकी वांछाकी परम्पराको बढ़ाकर यह अधिक अधिक परतंत्र व मोही बनकर संतापित व क्लेशित होता है।

इस रसना इंद्रियकी कामनाको दुःखवर्द्धक व भयवर्द्धक समझकर ज्ञानी जीव अपने भीतर विराजित अपने आत्मारामका स्वभाव विचारता है कि यह तो स्वभावसे परम शुद्ध परमात्मा है। इसका स्वभाव आनन्दमय है। इस आनन्दका अमृतमई स्वाद अनुपम है। परम शांत है, तृप्तिकारी है, आत्माको पुष्ट करनेवाला है, निराकुल है, स्वाधीन है, अविनाशी है। इस सुखका बाधक रसना इंद्रियकी तृष्णा है व विषयभोगका क्षणिक सुख है। अतएव ज्ञानी महात्मा अपने उपयोगको रसना इंद्रियकी चाहसे दूर करता है। शरीर स्वास्थ्यको आवश्यक पदार्थ मात्र खाता पीता है, संतोषी रहता है और

उपयोगको पांचों इन्द्रिय व मनके विषयोंसे रोककर उसे अपने ही आत्माके स्वभावमें जोड़ता है, वारवार शुद्ध स्वभावकी भावना भाता है। भावना भाते भाते यकायक जब कभी क्षणमात्रके लिये आत्मामें स्थिरता पाता है तब अपने परमानन्दको भोगकर परम तृप्त होजाता है। जैसे शांत सरोवरके निकट चलना फिरना भी शांतिप्रद है, उसमें स्नान व उसका जलपान तो शांतिप्रद है ही, वैसे ही शुद्धात्माकी भावना व चर्चा भी सुखप्रद है। उसमें अवगाहना व स्थिर रहना तो अपूर्व आनंदका दाता है ही। धन्य है वह महात्मा जो आत्मीक रसका रसिक हो व रसना रससे अनासक्त रह आनन्दका लाभ करके अविरत भावको जीतता है, व अपना जीवन सुखी बनाता है।

६१-घ्राणेन्द्रिय अविरतभाव।

स्वतंत्रता प्रेमी परतंत्रताकारक बाधकोंका पता लगाकर उनसे विरागभाव भजता है। १२ अविराग भावोंमें घ्राणेन्द्रिय अविरतभाव भी है। इस इन्द्रियकी तृष्णासे प्रेरित प्राणी गंधके ग्रहणमें पागल होकर अपने प्राण तक गंमा देता है। भ्रमण कमलके भीतर सुगन्ध लेता हुआ बैठा रहता है, संध्या होती है कमल बन्द होजाता है, विनां रोके प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। तेन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय तक सकल प्राणी इस इन्द्रियके वश हैं।

मानवोंके भीतर इसकी तृष्णां जबतक जागृत होती है तबतक वह मानव अतर फुलेल पुष्पादि नाना सुगन्धित पदार्थोंकी सुगन्ध लेनेमें आसक्त हो जाता है, फूलोंकी मालाएं पहनता है, फूलोंके द्वारा सज्जित उपवनमें कल्लोल करता है।

सुगन्धकी तृष्णा जितना भी सुगन्धको भोगे बढ़ती ही जाती है। उस विषयकी तीव्रताके आधीन होकर यह मूढ़ प्राणी सवेरे सांझको इसी विषयकी तृष्णाके लिये घण्टों खर्च कर देता है। इसका जीवन इसी सुगन्धकी तृष्णामें ही समाप्त हो जाता है। यह तृष्णातुर ही प्राण छोड़ता है।

हा ! यह मानव जन्म जो अपने सच्चे स्वरूपके पहचाननेके लिये था व जो अपने ही भीतर विराजित अनुपम अतीन्द्रिय स्वाधीन सुखके भोगनेके लिये था वह विनाशीक घ्राणेन्द्रियके लोभमें समाप्त कर दिया जाता है।

ज्ञानी जीव इस अविरत भावको आत्मघातक समझ कर निरोध करता है। घ्राणेन्द्रियका उपयोग स्वास्थ्यवर्द्धक व स्वास्थ्य शोधक पदार्थोंकी परीक्षार्थ ही करता है। इन्द्रियोंकी तृष्णासे अनादिकालसे जब अबतक तृप्ति नहीं हुई तब तृप्ति होना असंभव जानकर इस पर-तंत्रताकारक बंधनसे मोह हटा लेता है, और स्वतंत्रताकारक रत्नत्रय धर्मका गाढ़ प्रेमी हो जाता है। जिस धर्मसे निरन्तर सुख शांति मिले, जिस धर्मसे आत्मा कर्म-मेलसे पवित्र हो, जिस धर्मसे आत्माके भीतर वीतरागताकी वृद्धि हो वह धर्म ही मानवके लिये परम शरण है।

इस धर्मका वास किसी परपदार्थमें नहीं है जहांसे इसे उठाया जा सके व धनादि देकर क्रय किया जा सके। यह धर्म तो प्रत्येक आत्माका उसी आत्माके भीतर ही है।

आत्माका आत्मारूप ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। आत्माका आत्मारूप स्थिर रहना, रागद्वेष मोहकी पवनसे विचलित न होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों ही आत्माके अविनाशी गुण हैं।

जो आपसे ही आपमें आपके ही लिये वास करता है वह रत्नत्रय धर्मको अपनेमें ही पालेता है। परम सुखी व संतोषी हो जाता है। इस धर्मकी शरण ग्रहण करनेसे अपूर्व शांतिमय मोही सुवास पाता है। जिस सुवासके भोगनेसे घ्राणेन्द्रिय सुवासका लोभ मिट जाता है।

ज्ञानी जब इसी धर्मके प्रतापसे स्वानुभवको जागृत करता है तब मन, वचन, कायसे अगोचर एक ऐसे स्थान पर पहुंच जाता है जिसका न नाम है न वहां लिंग है, न वचन है। केवल एक अद्वितीय परमानन्दमय अमृतका सागर है, जहां वह मत्स्यवत् मगन होकर क्रीडा करता है।

६२–चक्षु इंद्रिय अविरति।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारकी परतंत्रताको विचार कर त्यागना चाहता है। बारह अविरत भावोंमें चक्षु इंद्रिय अविरति भी है। चक्षु इंद्रियसे जगतके स्थूल पदार्थ दीख पड़ते हैं। सुंदर, श्वेत, पीत, नील, कृष्णादि विचित्र रंगोंको देख कर अज्ञानी मोह करता है। असुन्दर वर्णवाले पदार्थोंसे द्वेष करता है। वास्तवमें पांचों इंद्रियोंके विषयोंकी तरफ मोह पर्दा करनेके लिये चक्षु इंद्रिय बड़ी बलवती है। आंखोंसे देख कर स्त्रियोंमें व पुरुषोंमें राग होजाता है, रमणीक पकवानोंको खानेकी चाह होजाती है, सुगंधित पुष्पादिको देखकर सूंघनेकी इच्छा होजाती है, सुंदर पदार्थोंको देखकर वार वार देखनेकी इच्छा हो जाती है, गाने बजाने व गवैयोंको देखकर गाना सुननेकी इच्छा हो जाती है। चाहकी दाह बढ़ानेको चक्षुइंद्रिय प्रबल निमित्त है।

मिथ्यात्वकी भूमि होनेसे यह अज्ञानी राग द्वेष मोहकी वासनाको लिये हुए ही पदार्थोंको देखकर निरंतर मनोज्ञ विषयोंकी खोजमें रहता है। वीतराग भावसे यह कभी नहीं देखता। अतएव चक्षु-इन्द्रियसे प्रबल कर्मोंका आस्रव होता रहता है। राग रहित देखनेकी आदतको मिटाना ही आत्माका हित है। ज्ञानी जीव दृश्य पदार्थोंको मात्र देखकर वस्तुस्वरूप विचार कर समभाव रखता है, आंखोंका विषय रूपी मूर्तीक है; वह सब पुद्गल द्रव्यकी स्थूल पर्यायें हैं। सर्व अवस्थाएं क्षण क्षणमें विनाशीक हैं। स्वरूप कुरूप होजाता है, निरोगी रोगी होजाता है, नया सुंदर मकान कुछ काल पीछे पुराना असुंदर होजाता है, क्षणिक दृश्य पदार्थोंमें राग करना धूप व छायाके साथ मोह करना है, धूप छाया कभी रहनेकी नहीं है, ज्ञानी जीव धूप व छायाको चंचल मानकर समभाव रखता है, वैसे ही सर्व ही जगतको दिखलाई देनेवाली पर्यायोंको चंचल मानकर समभाव रखना चाहिये।

आत्माका सच्चा हित व जगतका हित जिन चेतन व अचेतन पदार्थोंसे होता है उनको देखकर प्रमुदित होना चाहिये। यह चक्षुका सदुपयोग है, स्वपरोपकारी शास्त्रोंका अवलोकन, तीर्थादि पवित्र भूमि-योंका दर्शन, आत्मज्ञानी विद्वानोंका मुखावलोकन, जिनेन्द्रकी शांत मुद्राका निरीक्षण हितकारी है। परोपकार हेतु कलाकौशल्यकी वस्तु-ओंको व लोकोपकारी पुस्तकोंको व प्रवीण विद्वानोंको व ज्ञानदातार चित्रोंको देखना भी गुणकारी है।

यदि सदुपयोगमें लगाया जावे तो चक्षु इन्द्रिय हमारा बड़ा काम करती है। इसीकी सहायतासे देखकर चला जाता है, खाया

पिया जाता है, रक्खा उठाया जाता है, मानवके शरीरका भूषण है।

चक्षुसे इष्ट योग्य पदार्थोंके देखनेकी इच्छा ही अविरति भाव है। जगतमें सर्व पथार्थ अपने२ स्वभावमें हैं। न कोई इष्ट है, न कोई अनिष्ट है। प्राणी अपने स्वार्थवश अपनी कल्पनासे किसीको इष्ट व अनिष्ट मान लेते हैं।

ज्ञानी जीव इस चक्षु इन्द्रिय द्वारा दर्शनको पराधीन मानता है। देखनेवाला तो आत्मा ही है। उसे इन्द्रियकी सहायता क्यों लेना पड़े। क्यों न वह स्वयं असहाय होकर जाने। इसलिये दर्शनावरण व ज्ञानावरणका पर्दा हटाना होगा। अतएव चक्षु इन्द्रियके विषयोंसे उदासीनता रखकर प्रयोजनीय पदार्थोंको भी वस्तु स्वरूपसे देखकर राग, द्वेष, मोहकी कालिमासे बचना चाहिये।

ज्ञानी जीव अंतर्मुख होकर अपने ही आत्माके द्रव्य स्वरूपको देखता है तो उसे सिद्ध भगवानके समान ज्ञातादृष्टा, परमानंदी, अनंत वीर्यवान, पूर्ण अमूर्तीक, सर्व द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरहित पाता है। इस आत्मावलोकनके अभ्याससे अविरत भावको दूर करता है। बाहर देखना अनुपकारी समझकर केवल भीतर ही देखता है। तब वहां अपने शुद्धात्माका दर्शन पाता है। इसी दर्शनमें तृप्त होकर वह चक्षु इन्द्रियके विषयोंसे विरक्त व अनासक्त होजाता है। और बार२ अपने भीतर अपनी परम प्रिया आत्मानुभूति–तियाका दर्शन करके जो अपूर्व आत्मानंद पाता है वह बिलकुल वचनगोचर नहीं है। न मनसे चिंतवन योग्य है। केवल मात्र अनुभवगम्य है।

६३–श्रोत्रेंद्रिय अविरत भाव।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारकी परतंत्रताको विचार कर उनसे दूर होनेका प्रयत्न करता है।

बारह अविरत भावोंमें श्रोत्रेंद्रिय अविरत भाव भी बड़ा बाधक है। शब्दके विषय सात स्वर हैं। पंचेंद्रिय जीव कानके वशीभूत होकर सुन्दर स्वरोंके सुननेकी तीव्र वांछा करते हैं। मृगगण इसी विषयमें लुब्ध होकर जालमें फंसकर पकड़े जाते हैं। मानव भी कानके विषयके वशीभूत होकर सुन्दर स्त्रियोंके मनोहर गानके सुननेमें लुब्ध होजाता है, वेश्याओंके सुरीले गानमें फंसकर वेश्या सेवनके व्यसनमें रत होकर शरीर, धर्म व धन तीनोंका नाश करता है।

कर्णइंद्रियका उपयोग विषयलम्पटतामें करना मानवको लौकिक व पारमार्थिक उन्नतिमें पूर्ण बाधक है। ज्ञानी मानव कर्णइंद्रियसे आत्मीक उन्नतिकारक शास्त्र सुनता है व परोपकार कारक वार्ताओंको सुनकर जगतका हित करता है। राग द्वेष मोहवर्धक शब्दोंके श्रवणसे उदास होकर ऐसी संगति नहीं करता है जिससे वृथा कर्णेन्द्रियके विषयमें फंसकर जीवनका अनुपयोग किया जावे। यह अविरत भाव कर्मास्रवका कारक है।

व्यवहारमें वर्तते हुए पापवर्द्धक शब्दोंके श्रवणमें अपनेको उपयुक्त करता है। महान तत्वज्ञानी गुरुओंके मुखसे वाणी सुनकर तत्वज्ञानका मनन करके स्वपरका भेद ज्ञान प्राप्त करता है।

अविरत भाव आत्माके अनुभवमें पूर्ण बाधक है। जो कोई सर्व इंद्रियोंके विषयोंसे उपयोगको हटाकर अपने उपयोगको इंद्रियातीत आत्माके स्वरूपमें जोड़ता है वही स्वतंत्रताके मार्गपर चलता है।

स्वतंत्रता आत्माका निज स्वभाव है। उसमें किसी भी परद्रव्यका प्रवेश नहीं होता है। द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म क्रोध, मान, माया, लोभादि, नोकर्म शरीर आदि, ये सर्व ही पर हैं। इनका संपर्क परतंत्रताका कारण है।

जो कोई तत्वज्ञानी विश्वके स्वरूपको पहचानता है और द्रव्य-दृष्टिसे छः द्रव्योंको देखता है, सबपर समभाव रखता है, वह आत्माको परतंत्रताकारक पुद्गलका स्वागत न करता हुआ स्वतंत्रताके मार्गका पथिक होजाता है।

पांचों इंद्रियोंकी विषयवासनाएं महान बंधन हैं। जो इनको जीतता है, यही जिन भगवानका अनुयायी होता है। आत्मीक अनुभवसे एक अपूर्व आनंद उत्पन्न होता है। इस अमृतमई रसका प्रेमी सम्यग्दृष्टी जीव परम सन्तोषी रहता है। उसका सर्वस्व प्रेम निज निधिपर ही रहता है। वह परमाणु मात्र भी पर द्रव्यकी कामना नहीं करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें उसी तरह रखता है जैसे चतुरस्वामी अपने घोड़ोंको अपने आधीन रक्खे। और जब चाहे तब उनपर चढ़कर स्वेच्छ स्थानपर चला जावे। ज्ञानी जीव भी इन्द्रिय-विजयी रहकर जब स्वात्मरमणमें नहीं ठहर सकता है तब इनके द्वारा उपयोगी काम लेता है। कभी भी उनके वशमें नहीं रहता है। ऐसा स्व-वशी ज्ञानी जीव अविरति भावकी परतन्त्रताको दूरकर निज शुद्धात्माकी सार गुफामें तिष्ठता है और वहां एकाग्रता प्राप्त कर व निराकुल होकर ज्ञानानंदमई अमृतका पान कर तथा स्वतन्त्रताका उपासक होकर जीवनको सफल करता है।

६४–मनोनोइन्द्रिय अविरत भाव ।

ज्ञानी जीव स्वतंत्रताके लाभके लिये परतंत्रताकारक कारणोंको विचार कर उन कारणोंको मिटानेके लिये उद्योग करता है । सैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके लिये मनका आलम्बन बड़ा भारी कर्मबंधका कारण है । मिथ्यादृष्टी जीव सांसारिक वासनाके कारण मनमें पांचों इन्द्रिय सम्बन्धी विकल्प किया करता है । कभी स्पर्शन इंद्रियके वशीभूत होकर पिछले कायभोगोंको विचारता है। उनकी याद करके रंजायमान होता है । नये कायभोगोंके लिये चिंता करता है, उनकी प्राप्तिका उपाय सोचता है, न मिलनेपर मनमें खेद करता है, इष्ट काय भोग्य पदार्थके वियोगपर शोक करता है, कभी रसनाके भोग्य पदार्थोंका चिन्तवन करता है, पिछले भोगोंकी याद करता है, नए खाद्य पदार्थोंकी चिन्ता करता है। मनमें चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि महान पुरुषोंके स्वादिष्ट भोगोंकी कल्पना करके मनमें तृष्णाको बढ़ा लेता है । कभी घ्राण इन्द्रियोंके वशीभूत होकर पिछले सुगंधित पदार्थोंका चिन्तवन करता है । आगामी सूँघनेकी भावना करता है । चक्षुइन्द्रियके वशीभूत होकर मन नाना प्रकार पिछले देखे हुए पदार्थोंका स्मरणकर रागको बढ़ाता है । आगामी नाना प्रकार सुन्दर पदार्थोंको देखनेकी तृष्णा किया करता है । श्रोतृइन्द्रियके वशीभूत होकर पिछले सुने हुए गानोंको विचार कर राग भाव बढ़ाता है, आगामी रसीले गीतोंके सुननेकी आकांक्षा करता है । जिन पदार्थोंसे मोह होता है उनके बने रहनेकी व उनकी पुनः पुनः प्राप्तिकी भावना करता है । ... द्वेष होता है उनके नाश करनेकी चिन्ता करता है। अधिक

धनादिका बल होने पर मनमें अपने अभिमानकी पुष्टि करता है। दूसरोंको नीचा रखनेका विचार करता है। इच्छित पदार्थोंके लिये नानाप्रकार मायाचार करनेका विचार करता रहता है। तीव्र लोभके वशीभूत हो राज्य व सम्पत्तिकी कामनामें आकुल होता है। वह सैनी जीव मनमें विषयभोगोंकी चिन्ताके वशमें होकर नानाप्रकार जप, तप, उपवास भी करता है। दूसरे समझते हैं कि मोक्षका साधन कर रहा है, पर वह भोगका उद्देश्य मनमें रखकर धर्ममें प्रवृत्ति करता है। इस तरह मनका दुरुपयोग करके पापका बन्ध करता है। ज्ञानी जीव मनमें संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य चिन्तवन करके मनके द्वारा निजात्माका वारवार मनन करता है। शुद्धोपयोगके पानेका अभिप्रायवान होकर द्रव्यार्थिक नयसे अपने ही आत्माको शुद्ध बुद्ध परमात्मवत् विचारता है। कभी आत्मविचारमें उपयोग नहीं लगता है तो पंचपरमेष्ठीकी भक्ति व कर्मबन्ध चर्चादिमें मनको लगाता है। तौ भी मनका हलन चलन स्वानुभवका विरोधी है ऐसा जानकर मनका आलम्बन छोड़ता है और मनसे अतीत होकर केवल स्वसंवेदनमय हो जाता है और निजात्माकी संपदाका विलास करता है तब जो अपूर्व आनन्द पाता है वह वचनसे बाहर है। स्वानुभव ही मनके विजयका उपाय है।

६५–पृथ्वीकायिक वध अविरतभाव।

इस जगतमें जो स्वतंत्रता प्रेमी हैं उनको परतंत्रताकारक कारणोंको ढूंढकर उनसे बचना चाहिये। आत्माकी परतंत्रताका कारण कर्मोंका बन्ध है। कर्मोंका बन्ध मिथ्यात्वसे जैसे होता है वैसे अवि-

रत भावसे होता है। बारह अविरत भावोंमें पांच इन्द्रिय व मनका वर्णन हो चुका है। शेष छः प्राणी संयमकी अपेक्षा अविरत भावोंमें पृथ्वीकायिक वधकी निरर्गलता है। विश्वबंधुत्वकी दृष्टिसे सर्व ही छोटे व बड़े प्राणी हमारे मित्र हैं। सबकी रक्षा होनी योग्य है।

सांसारिक वासनाओंके वशीभूत होकर पृथ्वी खोदनी, कूटनी, सींचनी व जलानी पड़ती है! इनसे एकेन्द्रिय द्वारा स्पर्शसे जानकर कष्टकी वेदना सहनेवाले पृथ्वीकायिक जीवोंको बड़ा कष्ट होता है। वे निर्बलताके कारण अपना दुःख प्रकाश नहीं कर सकते हैं परन्तु उनको कष्ट उस भांति होता है, जैसे किसी मानवको हाथ पैर बांधकर जला दिया जावे, मुखमें कपड़ा भर दिया जावे और मगदरोंसे कूटा जावे। वह सब दुःख सहेगा परन्तु हलन चलन न कर सकेगा। कुमति ज्ञानके द्वारा जानकर कुश्रुत ज्ञानसे एकेन्द्रिय जीव दुःखका अनुभव करता है।

मिथ्यात्वी बहिरात्मा न्याय व अन्यायका विचार न करके स्वच्छन्द होकर निर्दयी भावसे पृथ्वीको खोदता है, खुदवाता है, तब सम्यक्ती आरम्भी गृहस्थ प्रयोजन वश पृथ्वीके साथ काम लेता है। मर्यादा रूप पृथ्वीकायके जीवोंको कष्ट देता है। जानता है कि मैं कष्ट देता हूं। मैं अभी इस तरहके संयमको पाल नहीं सकता तौ भी मनमें बड़ी निन्दा गर्हा करता है कि कब वह समय आवे जब पृथ्वीके दलने व कुचलनेका आरम्भ न करना पड़े।

देखो कर्मोंकी विचित्रता, कहां तो यह जीव परमात्मारूप, परमानंदका धारी, परम शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग इन्द्रादि

देवोंसे पूज्य, अमूर्तीक और कहां इसकी यह दशा जो पृथ्वीके काथमें रहकर इसको अनेक वचनागोचर दुःख सहने पड़ते हैं। ऐसा विचार कर सम्यग्दृष्टि जीव क्षणभर निश्चित होजाता है। और साक्षात् अपनेको ईश्वर तुल्य अनुभव करता है। भेदविज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सर्व अन्यकी सत्ताओंसे भिन्न जानता है। कर्म द्वारा होनेवाले विकारोंको भी अपना स्वभाव नहीं जानता है।

निश्चित होकर आपसे आपमें आपको विश्राम कराता है तब यकायक अभेद रत्नत्रयरूप स्वानुभूतिके पथपर चलने लगता है। मैं स्वतंत्र हूं यही भावना भाता है। रागादि भावोंसे मेरा कोई निजी सम्बन्ध नहीं है, इस तरह वारवार आपको आपरूप व परको पररूप देखते जानते रहनेसे वीतरागताके अँश बढ़ते जाते हैं, सरागताके अंश घटते जाते हैं। जहां वीतरागता बढ़ी कि पूर्वकर्म छूटने लगते हैं।

इस तरह आत्मसमाधिका प्रेमी आत्माको ही अपना सर्वस्व जानता है। सर्व लोककी प्रपञ्च रचनाओंसे अलग होकर एकाकी, निस्पृह, शांतिरूप अपनेको अनुभव करता है। यही अनुभव सुख शांतिको सदाकाल देता है और परम तृप्ति प्रदान करता है।

६६—जलकायिक अविरत भाव।

स्वतंत्रता प्राप्तिका इच्छुक परतंत्रताके कारणोंको विचार कर उनसे बचनेका उपाय करता है।

बारह अविरत भावोंमें जलकायिक अविरत भाव भी हिंसाकारक है। जलकायिक जीव यद्यपि इतना अल्प शरीर रखते हैं कि एक बूंद

पानीमें संख्या रहित जलकायिक जीव हैं, तौभी वे सब उसी तरह जीना चाहते हैं जैसे हम सब। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार परिग्रह चार संज्ञाओंके धारी हैं। अपने प्राणोंकी रक्षाकी सबको आकांक्षा है।

तब एक दयावान प्राणीका परम कर्तव्य है कि वह दयाको चाहनेवाले प्राणियोंको दयाका दान करे। मिथ्यात्वी अज्ञानी बहिरात्मा जीव दया धर्मसे उन्मुख रहकर स्वच्छन्द हो जलकायिक जीवोंका व्यवहार करते हैं जिससे उनकी प्रचुर हिंसा होती है। वे असमर्थ होकर दीनतासे सब कुछ सहन करते हैं।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी गृहस्थ व्रती न होनेपर भी अनुकम्पावान होता है। प्राणी मात्रकी रक्षा चाहता है। अतएव वह जलकायिक जीवोंपर भी दयाभाव लाकर प्रयोजनसे अधिक उनकी हिंसा नहीं करता है। प्रयोजनवश भी जो हिंसा होजाती है उनके लिये अपने मनमें अपनी निन्दा गर्हा करता है। तथा यह भावना भाता है कि कब वह दिन आये जब वह किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे और पूर्ण अहिंसकभावमें ही रमण करे।

ज्ञानी गृहस्थ जहां तक होता है अचित्त जलका सेवन करता है। जिस किसी उपायसे भी जल जीव रहित होगया हो वह अचित्त है। स्वाभाविक उपायोंसे परिणत हुआ अचित्त जल व्यवहारके लिये बहुत ही निर्दोष है।

स्नान, पात्र धोवन, वस्त्र धोवन आदिमें जलका व्यवहार करना पड़ता है। गृहस्थी विवेकपूर्वक काम करता हुआ बहुत अंशमें वृथा ...यिक प्राणियोंकी हिंसा नहीं करता है।

यह अविरत भाव भी परिणामोंको हिंसक बनाकर पाप बंधका कारण है।

परिग्रहत्यागी निस्पृही निर्भय साधु बुद्धिपूर्वक जलकायिक जीवोंके वधसे विरक्त रहते हैं। उनकी महिमा अपार है।

बड़े खेदकी बात है कि यह आत्मा परम पूज्य परमात्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्यका धारी, परम अमूर्तीक, शरीर रहित, अखण्ड, अव्याबाध है। तौभी अनादि कर्मोंकी संगतिमें रहनेसे यह एकेन्द्रिय जलकायमें भी जन्म ले लेता है और पराधीनपनेके असह्य कष्ट भोगता है।

इस संसारके शरीररूपी कैदखानेसे बचनेका उपाय कर्मबंधकी जंजीरका काट देना है।

प्रज्ञारूपी छेनीसे ही यह बंधन कट सक्ता है। मैं स्वयं अबंध हूं, अखंड हूं, अभेद हूं, निर्विकल्प हूं, चेतनामय हूं, अन्य सर्व पर संयोग-जनित अवस्थायें मेरा स्वाभाविक परिणमन नहीं हैं। इस तरह निश्चय करके ज्ञानी मात्र अपने स्वभावका प्रेमी, रुचिवान व आसक्त होजाता और उद्योग करके अपने उपयोगको उपयोगवान शुद्ध आत्मामें जोड़ता है, योगभावको पैदा करता है।

इस योगाभ्यासमें रमण करनेसे इसे जो अकथनीय अतीन्द्रिय आनन्द आता है उसका मिलान सिद्ध सुखसे ही किया जा सकता है। यही स्वरूपानन्दका अनुभव स्वतन्त्रताका उपाय है, यही मोक्षमार्ग है। यही वह गुफा है जहां सर्व संसार शून्यसा दिखता है। एक आप ही परम प्रभु अपनी शोभाको लिये हुए प्रकाशमान झलकता है।

६७–अग्निकायिक वध अविरत भाव।

एकांत स्वतंत्रता–खोजी इस बातपर विचार कर रहा है कि परतंत्रताके कारणोंको कैसे मिटाया जावे। बारह अविरत भावोंमें अग्निकायिक अविरत भाव भी गर्भित है। सर्वज्ञने ज्ञान दृष्टिसे देखकर बताया है कि अग्निकायिक जीव भी घनांगुलके असंख्यातवें भागकी अवगाहनाके लिये बहुत अल्प शरीरधारी होते हैं। एक अग्निकी लौमें अनगिनती जीव होते हैं।

सर्व ही प्राणी चाहे छोटे हों या बड़े अपने२ प्राणोंकी रक्षा चाहते हैं व अपने योग्य इन्द्रियके विषयोंमें लीन हैं। सर्व संसारी प्राणियोंके समान ये भी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाओंसे पीड़ित हैं।

हम जैसे जीना चाहते हैं, वे भी वैसे ही जीना चाहते हैं। तब उनका प्राणघात होना उनके कष्टप्रद होनेसे व हमारे हिंसात्मक भाव होनेसे कर्मबंधकारक है, परतंत्रताका साधक है। इसीलिये साधुजन सर्व प्रकारका आरम्भ त्याग कर अग्निकायीक प्राणियोंकी हिंसासे विरक्त रहते हैं। मिथ्यादृष्टी जीव अनुकम्पा रहित होते हुए निर्मल होकर अग्निकायके प्राणियोंकी हिंसा करते हैं जिससे बहुत अधिक पापकर्म बांधते हैं।

सम्यग्दृष्टी जीव आरम्भ करते हुए मनमें ऐसी दया रखते हैं कि मेरे द्वारा किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुंचे। एकेन्द्रिय अग्निकायिक [illegible] भी सुरक्षित रहें परन्तु वही अप्रत्याख्यान या प्रत्याख्यान कषायके [illegible]यके वशीभूत होकर आवश्यक आरम्भमें प्रवृत्ति करते हैं तब उसे

न चाहते हुए लाचारीसे विचारे असमर्थ अग्निकायिक प्राणिओंकी हिंसा करनी पड़ती है। ऐसा सम्यग्दृष्टी यह भावना भाता है कि कब यह समय प्राप्त हो जब मैं पूर्ण अहिंसक होजाऊं। मन वचन कायसे कोई भी हिंसा न करूं। क्योंकि जैसे हरएक प्राणी अपनी हिंसा नहीं चाहता है वैसे हरएक प्राणी अपनी २ हिंसा नहीं चाहते हैं। अतएव उस आरम्भी सम्यक्तीको भी त्यागके मार्गपर चलनेवाला कहते हैं। ज्ञानी जीव प्राणियोंकी कर्मजनित असमर्थताको विचार कर बहुत खेदित होता है। क्योंकि उसको यह निश्चय है कि हरएक प्राणी मूलमें शुद्ध जीव है, उसका द्रव्य समयसार है। गुणोंसे अभेद है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त व चारित्रका सागर है। अमूर्तीक होकर भी चिदाकार विज्ञान घन है, अबाधित है, अजर है, अमर है। इस निज स्वरूपके भीतर वास न पानेके कारण व अपनेसे बाहर परपदार्थोंमें मोह करनेके कारण यह जीव कर्मबंधमें लिप्त हो जाता है। कर्मबन्ध त्यागने योग्य है, काटने योग्य है। इस श्रद्धाके वशीभूत होकर यह ज्ञानी जीव केवल एक अपने ही द्रव्य स्वरूप आत्माके भीतर विश्राम करता है। मन, वचन, कायसे सन्मुख होकर स्वरूप गुप्त हो जाता है। आपसे ही आपके आनन्दरसका स्वाद लेता है। स्वानुभवकी भूमिकामें ही कल्लोल करता है। स्वतंत्रता साधक इस अमोघ उपायको करते हुए वह स्वतंत्रताका पूर्ण निश्चय रखता हुआ जो संतोष भोगता है वह परम प्रशंसनीय व उपादेय है।
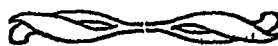
६८–वायुकायिक अविरत भाव ।

एक स्वतंत्रता प्रेमी परतंत्रताके कारणोंको विचारकर उनके त्यागका उपाय करता है। बारह प्रकारके अविरत भावोंमें वायुकायिक अविरत भाव भी गर्भित है। कर्मोंकी विचित्रताके कारण इस जीवको एकेन्द्रिय पर्यायमें आकर वायुका शरीर धारण करना पड़ता है। इनका शरीर भी घनांगुलका असंख्यातवां भाग होता है। इससे बड़ा नहीं होता है। एक वायुके झोकेमें बेगिनती वायुकाय धारी जीव हैं। इन प्राणियोंको आगकी तपससे, सूर्यके तापसे, पंखोंके झोकोंसे, भीतकी व पर्वतादिकी टक्करसे पीड़ित होकर प्राण छोड़ने पड़ते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा दुःख तो उन्हें भी होता है, वे असमर्थ होकर उसके निवारणका उपाय नहीं कर सकते हैं।

जो विश्वभरके प्राणियोंका मित्र है, दयावान है, उसको इन प्राणियोंके कष्टोंपर भी ध्यान देना योग्य है।

महामुनि बुद्धिपूर्वक वायुकायिक जीवोंकी हिंसा नहीं करते हैं। पंखे हिलानेका व कपड़ा झटकानेका आरम्भ नहीं करते हैं, न आग जलाते हैं। वे धीरे२ पग धरकर चलते हैं, कूदते फांदते नहीं। वायुकायिक जीवोंकी रक्षाका पूरा उद्यम रखते हैं।

गृहस्थी भी सम्यग्दृष्टी बड़ी भारी दयाको धरता है। वह भी नहीं चाहता है कि एकेन्द्रिय प्राणी पीड़ित किये जावें। तौ भी आवश्यक आरंभको करते हुए, मकानादि बनाते हुए, वाहन पर चढ़कर चलते हुए, भोजन पकाते हुए आदि अनेक कामोंके करते हुए वायु-[illegible] प्राणियोंका बध करना चाहता है।

वह इस अविरत भावको कर्मास्रवका कारण जानता है। तब वह अपनी निन्दा भी किया करता है कि कब वह समय आवे जब उसके द्वारा किसी वायुकायिक प्राणीकी हिंसा न हो और वह उन सबका पूर्ण रक्षक रहे। विना प्रयोजन पवन नहीं लेता, पंखा नहीं करता, आग नहीं जलाता, यथासंभव उनकी रक्षामें ही प्रयत्नशील है।

देखो, कर्मोंकी विचित्रता जो यह आत्मा स्वभावसे शुद्धात्मा, पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण वीतरागी, पूर्ण आत्मानन्दी, अमूर्तीक, परम वीर्यवान होते हुए भी अनादि कर्मके संयोगवश इसे वायुकादिक ऐसी क्षुद्र पर्यायमें जाना पड़ता है।

दयावान विचारता है कि हिंसाकारक भावोंसे किस तरह बचा जावे तब उसे यही सूझता है कि वह मन, वचन, कायकी क्रियाओंको छोड़े और एकांतमें बैठकर निश्चयनयके द्वारा जगतको देखे तब उसे सर्व जीव शुद्ध व सर्व अजीव जीवसे भिन्न दीख पड़ेंगे। यकायक भेदविज्ञानका लाभ होजायगा।

अभ्यासीको उचित है कि भेदविज्ञानके द्वारा अपने आत्माको शुद्ध द्रव्यरूप जानकर निरन्तर उसको ध्यावे। अपनी परिणति सर्व परसे हटाकर एक निज स्वभावमें ही परिणतिको लगावे। आत्माको एक शांत समुद्र माने। उसीमें वारवार स्नान करे। उसीके शीतल स्वानुभवरूपी जलको पीवे। उसीमें कल्लोल करे। उसीके तटपर विश्राम करे। इस तरह आत्मीक उपाधिके भीतर निमग्न होनेसे कर्मके मैल धुल जावेंगे। रागद्वेषके विकार शमन होजावेंगे। परम शांतिका लाभ होगा। यही शांति पालेके समान कर्मरूपी वृक्षोंको जला देगी।

मैं सब स्वतंत्र हूं, स्वाधीन हूं, अविनाशी हूं, मेरा संबंध किसी भी पर द्रव्यसे नहीं है। इस तरहकी भावना अनुभवका द्वार खोल देती है। तब यह स्वानुभवको लेते हुए परम संतोषित होजाता है। परमानंद रसका पान करता है। आत्माके समुद्रमें रमणका यही फल है।

६९–वनस्पतिकायिक अविरतभाव।

स्वतंत्रताका प्रेमी परतंत्रताकारक कर्म-बंधनोंके उत्पादक भावोंको स्मरण करके उनसे निवृत्ति पानेका परम उत्साह कर रहा है। बारह अविरत भावोंमें वनस्पतिकायिक अविरत भी है। वनस्पतिमें जीव उसी प्रकारसे है जैसे हम मानवोंके शरीरमें जीव है, वे प्रगट हवा लेते, लेपद्वारा भोजन करते, निद्रित होते, कषायाविष्ट होते हैं, यह बात सायन्सने सिद्ध कर दिखाई है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञामेंसे ये भी पीडित हैं। प्राण रक्षाका राग व प्राण हरणका भय रखते हैं। वनस्पति साधारण व प्रत्येक दो प्रकारकी है। अनेक जीवोंका एक साधारण शरीर रखनेवाली साधारण वनस्पति है, जिसको निगोद कहते हैं। एक जीवका एक शरीर रखनेवाली प्रत्येक वनस्पति है। प्रत्येक वनस्पतिके पांच भेद हैं–तृण, वेल, गुल्म (छोटे वृक्ष), कंदमूल ये पांच प्रकारके प्रत्येक जिस समयतक साधारण वनस्पति-कायिक प्राणियोंसे संबंधित होते हैं, उस समय उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जब वे निगोद जीवोंसे आश्रित नहीं होते हैं तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। साधारण शरीरधारी जीव बहुत छोटे घनांगुलके असंख्यातवें भागसे अधिक बड़े नहीं होते हैं। प्रत्येक

शरीरधारी इतने छोटे भी होते हैं व बड़े भी होते हैं।

बहुत ऊँचे २ वृक्ष होते हैं, टूटे हुए पत्ते, फल, फूल बीजमें जबतक तरी है, वे सचित्त माने गए हैं। जिससे सिद्ध है कि वे वृक्षमें जबतक थे तबतक एक वृक्ष शरीरके अंग थे, तौ भी अपने आश्रित जीवोंको रखते थे, इसीसे वृक्षसे अलग होने पर भी जहांतक शुष्क व प्रासुक न होजावे वहांतक जीव सहित हैं।

दयावान प्राणीका परम कर्तव्य है कि वे इनकी भी रक्षा करें। इनको भी प्राण हरण होते हुए हमारे समान कष्ट होता है। कषायका अनुभाग कम होनेसे हमारी अपेक्षा कम वेदना होती है। तथापि उस कष्टको वे न पावे यह देखना दयावानका कर्तव्य है।

सर्व प्राणीमात्रके परम रक्षक साधु महाराज ऐसा कोई भी आरंभ नहीं करते जिससे इन ही प्राणियोंको पीड़ा पहुंचे। वे वृक्षके पत्तेको भी नहीं तोड़ते हैं।

गृहस्थ श्रावक आरंभी है—उसका काम वनस्पति छेद विना नहीं चल सकता है। वह अन्न, फल, साग, मेवा आदिका व्यवहार करता है। इस आरम्भी हिंसासे वह सर्वथा बचा नहीं सक्ता है। दयावान गृहस्थको प्रयोजनसे अधिक इन दीन हीन वनस्पतिकायिकों-की भी हिंसा न करनी न करानी चाहिये।

इसलिये गृहस्थ दिन प्रतिदिन कुछ गणना कर लेता है। उसके सिवाय वनस्पतिके भक्षणसे विरक्त होजाता है। कभी कभी पर्व दिव-सोंमें वह इनका घात बचानेके लिये इनका भक्षण बिलकुल नहीं करता है। मेरेमें जितनी सामर्थ्य है उससे मैं वनस्पतिकायके धारी प्राणि-

योंकी अधिकसे अधिक रक्षा करूं यह भावना एक दयावान गृहस्थके भीतर होनी चाहिये ।

वनस्पतिकाय रूपी कैदखानेमें जो जीव बन्द हैं वह जीव वास्तवमें तो परमात्माके समान अमूर्तीक, ज्ञाता, दृष्टा, वीर्यमई व परमानन्द स्वरूप है। रागद्वेष विकारोंसे व अज्ञानसे रहित है, सदा ही निश्चल रहनेवाला है, परम शांत रहनेवाला है। ऐसे ही सर्व जीव हैं। धिक्कार हो कर्मबंधको जिसके कारण इस जीवको पिंजरेके पक्षीके समान परतंत्र होकर रहना पड़ता है ।

इस कर्म परतंत्रताके नाशका उपाय यही है जो मैं अपने मूल स्वभावको ग्रहण करके उसीमें श्रद्धा सहित रमण करूं, स्वात्मानुभव करूं, परद्रव्यसे रागद्वेष मोह छोड़कर समताभावमें जमकर आपको आपरूप परम शुद्ध अनुभव करूं।

यह स्वात्मानुभव ही स्वतंत्रताका साधन है। जो इस साधनको स्वीकार करता है वही साधु है व स्वतंत्रता प्रेमी है ।

७०—त्रसकायिक अविरत भाव ।

स्वतंत्रता बड़ी प्यारी वस्तु है। परतंत्रता दासत्व है, गुलामी है, सर्वदा त्यागने योग्य है। स्वतंत्रता स्वाभाविक सम्पत्ति है। आत्मीक स्वतंत्रताके बाधक कर्मोंका संयोग है। कर्मोंके संयोगके कारण विभाव भाव हैं। अतएव विभावोंका त्याग जरूरी है। बारहवां अविरत भाव त्रसकाय वध है। त्रस जीवोंमें दो इन्द्रिय लट, कौड़ी, शंखादि; तेइन्द्रिय चीटी, जू, खटमलादि; चतुरिन्द्रियमें मक्खी, भ्रमर, पतंगादि;

पञ्चेन्द्रियमें थलचर गाय, भैंस, मृगादि; जलचर मत्स्य, मच्छ, कच्छपादि, नभचर कबूतर, मोर, पक्षी आदि, मानव, देव व नारकी सब गर्भित हैं। इन सबकी रक्षाका भाव त्रसकाय अविरत भावसे बचाव है।

आत्मवत् सर्वभूतेषु–इस पाठको जो ध्यानमें नहीं रखते हैं वे निरर्गल होकर आरम्भ करते हुए छोटे २ जंतुओंकी घोर हिंसा करते हैं, पशुओंको कष्ट देते हैं, अंग छेदते हैं; अधिक भार लाद देते हैं, समय पर चारा नहीं देते हैं, पशुबलि करते हैं, मांस व चमड़ेके लिये पशुवध करते हैं, गरीबोंको सताकर पैसा लूटते हैं। झूठ बोलकर जनताको ठगते हैं। मिथ्यादृष्टिके भीतर दया नहीं, वह विषय कषायोंकी पुष्टिके लिये, परके कष्टको व परके वधको अति तुच्छ समझता है। स्वार्थके आगे पदार्थ कुछ वस्तु नहीं है ऐसा जानता है। वह जगतके प्राणियोंको घोर कष्ट पहुंचा कर अपने आत्माको कर्मकी परतंत्रतासे और अधिक जकड़ लेता है।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जीव पूर्ण दयावान अनुकंपाशील होता है। वृथा व अन्यायसे किसीको सताता नहीं। यथाशक्ति देखकर चलता है। देखकर वस्तु रखता उठाता है। देखकर दिनमें भोजनपान बनाता व रखता है। मनमें भी किसीको अहितकारी व कटुक नहीं कहता है। गृहस्थीके कार्योंको बहुत सम्हालके साथ करता है। मानवोंको सगे भाई बहनके समान देखकर उनको कष्ट नहीं पहुंचाता है। आरम्भजनित हिंसामें कुछ त्रसकायका भी बध हो जाता है। उस लाचारीके लिये वह अपनी निन्दा गर्हा करता है। तीसरी भूमिकाका आलम्बन करनेवाला महात्मा उन मन, वचन, कायोंसे ही अपनेको

जुदा कर लेता है, जिनसे त्रस कायका वध होता है या उनकी रक्षाका विकल्प होता है।

वह केवल अपने आत्माको ही अपना कार्यक्षेत्र बनाता है, वहीं बैठता है, वहीं विश्राम करता है, वहीं रमण करता है, वहीं परिणमन करता है। आत्माको आत्मारूप ही ग्रहण कर लेता है। इसको सर्व चौदह गुणस्थानोंसे, चौदह मार्गणाओंके भेदोंसे, सर्व औदायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भावोंसे सर्व खंडित ज्ञानसे, सर्व पर सत्ताधारी जीवोंसे, सर्व पुद्गलोंसे, धर्म अधर्म आकाश कालसे न्यारा देखता है। ऐसे शुद्धात्माको ही अब समझ कर उसकी सम्पत्तिको ही अपनी सम्पत्ति समझ कर सर्व परके परिग्रहसे मुक्त हो असंग हो जाता है। केवल आत्मानंदरूपी अमृतका पान करता है। यही स्वानुभूति रमण क्रिया इसे वास्तवमें स्वतंत्र झलकाती है व यही सर्व परतंत्रताके मिटानेका उपाय है। एक ज्ञानी सर्व प्रकार पर भावोंसे विरति भजकर स्वात्मरत होजाता है। यहीं स्वतंत्रताका भोग है।

७१–अनन्तानुबंधी क्रोध कषाय।

स्वतंत्रता आत्माकी निज सम्पत्ति है, इसके मार्गमें बाधक जो कोई हो उसको पूर्ण शत्रु समझकर उनका विध्वंस करना ही एक साधकका परम कर्तव्य है। जीवका बाधक पुद्गल द्रव्य है। कर्मके स्कंध यद्यपि इतने सूक्ष्म हैं कि वे किसी भी इंद्रियसे ग्रहणमें नहीं आते तथापि उनके भीतर अनन्त बल है। जब वे जीवोंके कर्मजनित औदायिक भावोंके निमित्तसे जीवके साथ बंधको प्राप्त होजाते हैं तब

वे परतंत्रताका एक जाल ही बिछा देते हैं, जिस जालमें यह जीव फंस जाता है। इस कर्मबंधके जाल बनानेके लिये ५७ आस्रवभाव कारण हैं।

पांच मिथ्यात्व व बारह अविरतका कथन करनेके पीछे २५ कषायोंका भी विचार करलेना उचित है। शत्रुको पहचाननेसे ही शत्रुके द्वारा स्वरक्षा की जासक्ती है।

मोहनीय कर्ममें चारित्र मोहनीय गर्भित है, यह कर्म आत्माके स्वरूपरमण चारित्रको या वीतराग भावको नहीं होने देता है। इसका अभाव करना बहुत ही जरूरी है। क्रोध चार प्रकारका होता है। अनन्तानुबंधी क्रोध सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरणका घातक है। इसकी वासना छः माससे अधिक बहुत दीर्घकाल तक रह सक्ती है।

जब कोई किसी बातकी चाह करता है उसके मिलनेमें जो बाधक होते हैं व प्राप्त वस्तुमें जो बाधक होते हैं उनकी हानिका भाव रहा करता है। अनन्तकाल तक भी हानिका भाव चला जा सके ऐसे क्रोधको **अनन्तानुबंधी क्रोध** कहते हैं।

सर्व ही मिथ्यादृष्टी जीव इस क्रोध भावसे पीड़ित रहा करते हैं। कभी कभी सम्यक्ती जीव सम्यक्तसे छूटकर मिथ्यात्वके सामने जाते हुए बीचमें सासादन अवस्थाके भीतर उत्कृष्ट छः आवली तक इस कषायसे पीड़ित रहते हैं।

इस कषायसे त्रासित होकर **कमठके** जीवने कई जन्मों तक **मरुभूतके** जीवको पार्श्वनाथजीकी पर्याय तक द्वेषभावसे कष्ट दिया। इसके प्रभावसे एक तरफी वैरभाव भी हो जाया करता है। इस कषायके अभावका उपाय एक मात्र सम्यक्तका लाभ है। विवेकी जीवको

सम्यक्तके शस्त्रको ग्रहण करना चाहिये। उस शस्त्रकी सूरत देखते ह अनंतानुबंधी क्रोधका विकार गुप्त होजाता है। और जबतक वह शस्त्र हाथमें रहता है वह कभी अपना आक्रमण नहीं कर सक्ता है।

मैं शुद्ध, सिद्ध, चेतनामय, अमूर्तीक, अविनाशी, परमानन्दी, परम वीतरागी हूं। रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्मसे मेरा कोई नाता नहीं है। मेरा स्वरूप सिद्धात्माके समान है। जो इस भावनाको भाता है वह शांति व आत्मानन्दका झलकाव पाता हुआ सम्यक्तरूपी गुणोंको प्रकाश करनेका साधन करता है। जो इस साधनाका साधन करता है वही स्वतंत्रताका उपासक बुद्धिमान मानव है।

७२—अनन्तानुबन्धी मानकषाय।

स्वतंत्रता मानवका निजी स्वभाव है। कर्मबन्धकी परतंत्रता मेटनेके लिये उन भावोंको विचार कर छोड़ना चाहिये जिन भावोंसे कर्मोंका बंध होता है। पच्चीस कषाय भावोंमें अनन्तानुबंधी मान भी गर्भित है। मिथ्यातकी वासनासे वासित प्राणी शरीर व उसके बाहरी इन्द्रियविषयकी सामग्रीमें मगन रहता है, इच्छानुकूल पदार्थोंको पाकर अपनेको बड़ा व दूसरोंको छोटा देखता है। उसका जीवनाधार विषय-भोग होता है। वह धनिक पिता व माताके होनेका, अधिक रूप होनेका, बल होनेका, अधिकार होनेका, धन होनेका, शास्त्रीय विद्या—सम्पन्न होनेका, बाहरी उपवासादि तप करनेका बड़ा घमण्ड करता है, अपने संयोगोंसे राग करता है, परके संयोगोंसे द्वेष करता है, मान द्वेषका

अंग है, कठोर परिणामोंको रखकर अपने छोटोंके साथ तुच्छता व घृणाका व्यवहार करता है, दया व प्रेमका व्यवहार नहीं करता है। इस कारण तीव्र कर्मका बंध करता है। हिंसात्मक कर्मोंके कर लेनेमें मान दृष्टिके लिये न्याय व धर्मका भी घात हो जानेमें अनंतानुबन्धी मानीको कुछ विचार नहीं होता है। जगतके प्राणी ऐसे मानवके व्यवहारसे बहुत त्रासित होते हैं।

सम्यक्ती जीव अनंतानुबन्धी मानसे रहित होता है, वह कोमल-चित्त होता है, वह अपने आत्मीक गुणोंके सिवाय किसी भी परद्रव्य, परगुण, पर पदार्थको अपनी वस्तु नहीं मानता है, परवस्तुओंके संयोगोंको पुण्यका वृक्ष फल जानता है, उनको कर्मजनित संपदा मानता है, अपनी संपत्ति नहीं मानता है। अतएव उनके संग्रह होनेपर मान नहीं करता है। वह जानता है कि जो नाशवंत है उसको अपना मानना मूर्खपना है।

सम्यक्त प्राप्तिका इच्छुक प्राणी भेदविज्ञानका वारवार मनन करता है। वह विचारता है कि मैं आत्मा हूं, अकेला हूं, मेरा सम्बंध किसी भी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावसे नहीं है। मैं अखण्ड, अविनाशी, अमूर्तीक, ज्ञानदर्शनपूर्ण व परमानंदमई, परम वीतराग हूं, सिद्ध परमात्माकी जातिका हूं। उनके साथ हर तरह मेरी समानता है। सत्ता भिन्न होनेपर भी गुणोंमें समान हूं।

अनंतानुबन्धी मानकषायके विषके दमनके लिये स्वाधीनताका प्रेमी अपनी संपत्तिसे सहयोग करता है व परसे असहयोग करता है। निरन्तर आपको आप, परको पर देखता है। अपना शुद्ध स्वरूप ग्रहण करनेयोग्य है और सब त्यागनेयोग्य है। इस भावनाके प्रतापसे कषायका

प्रकारके कपट करता है। रावणके समान कपट करके पतिव्रत सीता जैसी सतीके मनको क्षोभित कर देता है। इस महान अन्यायमें प्रेरणा करनेवाली मायाके वश होकर अनेक राज्य दूसरे राज्योंको निगलनेका महान कपट करते हैं। मायाचारसे विश्वासघात कर किसीको कष्ट पहुं-चाना घोर हिंसा है। मिथ्याती निर्भय हो इस हिंसाका प्रचार किया करता है व तीव्र कर्मबंधकी जंजीरोंसे जकड़ा जाता है।

सम्यक्ती ज्ञानी इस मायाके मैलसे बचकर अन्यायमई कपट नहीं करता है। जो भद्र परिणामी सम्यक्ती होना चाहता है वह इस कषायके बलको घटानेके लिये कषाय रहित भावकी उसी तरह सेवा करता है जैसे कोई उष्णताकी बाधासे पीड़ित होकर शीत जलका बार २ उपचार करता है। कषाय रहित अपना ही आत्मा द्रव्य है। भेद-विज्ञानसे इसी अपने स्वद्रव्यको सर्व पुद्गलोंकी वासनाओंसे रहित देखना चाहिये। जैसे अनेक कपड़ेकी पुटोंके भीतर रक्खे हुए रत्नको जौहरी रत्नरूप ही देखता है वैसे अपने आत्मद्रव्यको सबसे निराला परमात्माके तुल्य देखना चाहिये। यही देव दर्शन है, यही वह साधन है, जिससे द्रष्टाको एक परम शांत समुद्र तुल्य आत्मा अपने ही शरीरके भीतर दिख जायगा। इसीका बार बार दर्शन ही मायाकषायकी कालिमाको उत्पन्न करनेवाले कर्मका बल घटाएगा, सम्यक्त गुणका झलकाव करेगा। यह शास्त्रप्रतीतिके आधार पर प्राप्त आत्मदर्शन सुख शांति प्रदान करेगा, स्वतंत्रताके मार्ग पर आए हुए कांटोंको काटेगा और शीघ्र ही सम्यक्त गुण रत्न प्राप्त कराकर जीवन्मुक्त व स्वतंत्र अनुभव करा देगा।

७४–अनंतानुबन्धी लोभ कषाय।

एक स्वतंत्रता प्रेमी परतंत्रताकारक बंधनोंको काटनेका इच्छुक हो, उन सब कारणोंको स्मरण कर रहा है जिनसे कर्मवर्गणाएं संचित होकर कर्मका सूक्ष्म शरीर बनाती है, व जिन कर्मोके फलसे आत्माका स्वतंत्र स्वभाव पराधीन व विकृत होजाता है।

अनंतानुबन्धी लोभ भी बहुत ही अनिष्टकारी है। इस लोभके वशीभूत होकर प्राणी स्वार्थमें अंधा होजाता है। शरीरके भोगका मोही पांचों इन्द्रियोंके भोगका तृषातुर व्यक्ति इन्द्रियभोग योग्य पदार्थोंकी तृष्णामें ऐसा फंस जाता है कि उनके लाभके लिये आकुलित होकर धनादि संचय करनेमें न्याय अन्यायका विचार छोड़ देता है। हिंसा, असत्य, चोरीसे धन एकत्र करता हुआ हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, रौद्रध्यानमें मनको मलीन रक्खा करता है। स्वस्त्री परस्त्रीका विवेक छोड़ देता है, भक्ष्य अभक्ष्यकी ग्लानि हटा देता है, प्राणयोग्य व अयोग्यकी चिंता त्याग देता है। दृश्य अदृश्यका भेद दूर कर देता है। श्रोतव्य अश्रोतव्यका विवेक नहीं रखता है। मन चाहे इन्द्रियोंके विषयोंमें वारवार जाता है, तृष्णाको बढ़ाकर और अधिक प्राप्तिके लिये आतुर होता है, मिथ्यादृष्टी मोही जीव परम लोलुप होकर इस जगतका वहुत अनिष्ट करता है व तीव्र कर्म बांधकर परलोकमें कुफल पाता है।

सम्यग्दृष्टी जीव इस कषायको दमन करके परमुखाकार वृत्तिके लोभसे छूट जाता है। स्वरूपाचरणकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। आत्मानंदके लाभको परम लाभ समझता है। विश्वके भोग्य पदार्थोंसे रागी होजाता है।

भद्र परिणामी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उत्साही व्यक्ति इस कषायके बलको क्षीण करनेके लिये जिनवाणीका अभ्यास करता है। व्यवहारनयसे परके संयोगसे जो अपने आत्माकी अवस्थाएं होती हैं उनको समझता है। निश्चयनयसे या द्रव्यार्थिक नयसे अपने आत्माके मूल स्वभावको समझता है कि यह आत्मा अमूर्तीक, असंख्यातप्रदेशी, शरीराकार, शुद्ध ज्ञानदर्शनका धारी, परम शांत, परमानन्दी, निर्विकार, कषायकालिमासे रहित, चित् ज्योतिमय, अखण्ड, अभेद, एक अनादि निधन स्वसत्ताका धारी पदार्थ सिद्ध परमात्माकी आत्माके सदृश है। इस तरह दोनों नयोंसे जानकर वीतरागताके लाभके लिये निश्चयनयका मनन करता है, अपने आत्माका शुद्ध स्वभाव ध्यानमें लेकर नित्य उसका विचार करता है। भेदज्ञानका अभ्यास करता है। इसी औषधके सेवनसे वह इस कषायके बलको क्षीण कर कुछ कालमें सम्यक्ती व स्वानुभवी होजाता है और परम मंगलमय आत्माका आनन्द रस पान कर परम सन्तोषी व कृतार्थ होजाता है।

७५–अप्रत्याख्यान क्रोध कषाय।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताका इच्छुक होकर परतंत्रताकारक भावोंका स्मरण कर उनसे बचनेका प्रयत्न कर रहा है। पच्चीस कषायोंमें अप्रत्याख्यान क्रोधका उदय भी बड़ा भारी घातक है। अनन्तानुबन्धी क्रोध जब स्वरूपाचरणको रोकता है तब अप्रत्याख्यान क्रोध हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह इन पांच पापोंके त्यागसे परिणामोंको रोकता है। इन पांच पापोंके कारण जगतके प्राणियोंके साथ

वर्तन होता है। वे इन पापोंके निरर्गल व्यवहारसे कष्ट पाते हैं। यह प्राणी इस जातिके क्रोधके वश होकर पर प्राणियोंसे द्वेष करके व उनका बिगाड़ करके भी स्वार्थ साधना चाहता है।

जो कोई विषयसेवनमें बाधक होता है उन पर क्रोध करके उनका अहित करना चाहता है।

मिथ्यादृष्टि जीवमें अनंतानुबंधी क्रोधके साथ २ इस अप्रत्याख्यान क्रोधका भी उदय रहता है। इसलिये यह अज्ञानी न अपने स्वरूपमें रमण पाता है और न हिंसादि पाप त्याग कर सकता है।

सम्यग्दृष्टीमें जब चौथे पदमें इस क्रोधका उदय होता है तब वह सम्यक्ती अन्यायपूर्वक क्रोध तो नहीं करता है परन्तु यदि कोई प्रकार नीतिपूर्वक व्यवहार करते हुए उस सम्यक्तीका काम बिगाड़ने लगता है तब यह सम्यक्ती क्रोध करके उसकी अनीतिका उसे पाठ सिखाता है। जब वह नीति मार्ग पर आजाता है तब वह उसका बिगाड़ बंद कर देता है व क्रोध भी छोड़ देता है।

सम्यक्ती इस बंधकारक क्रोधके शमनके लिये स्वानुभवकी औषधिका पान किया करता है। यह मिथ्यादृष्टी उस कषायके दमनके लिये श्री गुरुकी शरण लेकर आत्मा व आत्माका भेद समझता है, भेदविज्ञान सीखता है, व अपने मिथ्यात्व विषके वमनके लिये भेद विज्ञानका वारवार मनन करता है। दालसे छिलका, भूसीसे तेल, तुषसे तंदुल, सुवर्णसे पीतल, दूधसे जल, लवणसे तरकारी, आगसे जल जैसे भिन्न हैं वैसे शुद्ध बुद्ध अनन्त शक्तिधारी ईश्वरतुल्य स्वभावधारी परमानन्दमय वीतरागी अपने आत्मा प्रभुसे सर्व कर्म पुद्गल व सर्व

रागादि मल व सर्व संयोग सम्बन्ध व सर्व अन्य आत्माएं भिन्न हैं, इस तरहकी भावना करनेसे जैसे तन्दुलका अर्थी तुषसे उदास व तन्दुलसे प्रेमालु है वैसे यह साधक सर्व अपने आत्मासे भिन्न द्रव्य, गुण, पर्यायसे उदास हो जाता है। यही आत्मप्रेम इसके मिथ्यात्व विषको वमन कराता है व एक दिन यह सच्चा स्वानुभवी होकर परमानन्दका भोगी व परम संतोषी हो जाता है।

७६–अप्रत्याख्यान मान कषाय।

स्वतंत्रता खोजी ज्ञानी जीव सर्व प्रपंचजालसे मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहता हैं। इसलिये परतंत्रताके कारणोंको ढूंढ २ कर उनको दूर करनेका इच्छुक है। आत्माके साथ कर्मोंका संयोग हानिकारक है। इन आठ कर्मोंसे ही संसार अवस्था बनी हुई है। उन कर्मोंके संचय होनेमें कारण अप्रत्याख्यान मान भी है।

इस कषायके उदयसे मानवके भीतर परद्रव्य धन धान्यादिके भीतर इतना मोह व उनके साथ इतना अभिमान होता है कि उनको कुछ भी काम करनेके भाव नहीं होते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रहकी तृष्णा, इन पांच पापोंको थोड़े भी त्यागनेके भाव नहीं होते हैं। अपना अभिमान पुष्ट करनेको व मान बड़ाई बढ़ानेको यह प्राणी इन पापोंको राग सहित करता रहता है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव भी इस कषायके उदयके आधीन होकर जिन बातोंसे लौकिक अभिमान पुष्ट होता है उनके भीतर ममकार व अहंकार न चाहते हुए भी करता है और यह जानते हुए भी

पांचों पाप त्यागने योग्य हैं, त्याग नहीं कर सक्ता। यद्यपि अपने इस अत्यागभावकी निन्दा गर्हा करता रहता है। अप्रत्याख्यान मान उसके भीतर श्रद्धान निर्मल व निरहंकाररूप होते हुए भी उस सम्यक्तीके भावमें चारित्रकी हीनता रखता है जिससे वह परिग्रह सम्बन्धी मानको त्याग नहीं कर सक्ता।

मिथ्यादृष्टी जीवके साथ तो यह कषाय अनन्तानुबन्धी मानके साथ उदयमें आकर श्रद्धान और चारित्र दोनोंमें इस व्यक्तिको अभिमानी बना देती है जिससे वह धनादि होनेका बहुत मान करता है। उस मानके अंधकारसे ग्रसित होकर वह अपने आत्माको बिलकुल भूल जाता है। ऐसा अभिमानी मानव दान व परोपकारमें लक्ष्मीका उपयोग नहीं कर सक्ता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव ज्ञानियोंके द्वारा तत्वका उपदेश सुनता है। अप्रत्याख्यान मानको त्यागने योग्य समझता है। श्री गुरुका यह उपदेश स्वीकार करता है कि जबतक सत्तामें बैठे हुए कर्मोका अनुभाग न दूर किया जायगा तबतक उन कर्मोंका प्रभाव आत्मा पर अशुद्ध असर डालता ही है।

कर्मोंके असरको घटानेके लिये आत्माके स्वरूपका मनन है। तत्वोपदेशसे भद्र मिथ्यात्वी जानता है कि यह आत्मा स्वभावसे शुद्ध, निर्विकार, ज्ञाताद्दष्टा, अविनाशी, अमूर्तीक, परमानन्दमय है। इसीको परमात्मा, ईश्वर, प्रभु व शुद्ध, बुद्ध कहते हैं। निर्मल पानीके समान, स्फटिकमणिके समान व शुद्ध स्वच्छ वस्तुके समान इस आत्माको पहचानना चाहिये व राग द्वेष मोहके विकारोंको त्याग कर आत्माके

स्वरूपका मनन करना चाहिये। जैसे शीतल जलके सरोवरके निकट बैठनेसे शीतलता मिलती है, ताप कम होता है। अतएव स्वतंत्रता-प्रेमीको उचित है कि यह सर्व अन्य कार्योंसे छुट्टी पाकर एकाकी होकर अपने स्वरूपका मनन करे। जैसे कृष्ण दिखनेवाला वस्त्र साबुनकी वार वार रगड़से श्वेतताकी तरफ बढ़ता जाता है वैसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका मनन कषायोंकी कालिमाको धोकर आत्माको शुद्ध करता जाता है। अतएव मैं सर्व प्रपंच—जालोंसे अलग होकर निराकुलतासे एक अपने आत्माको ध्याता हुआ परम तृप्त होरहा हूं।

७७–अप्रत्याख्यान माया।

स्वतंत्रता प्राप्तिका परम प्रेमी ज्ञानी जीव परतंत्रताकारक उन भावोंकी खोज कर रहा है, जिन भावोंसे कर्मोंका बन्ध होता है और वह आत्मा परतंत्रताकी जंजीरोंमें जकड़ा जाता है। पच्चीस कषायरूपी विभाव भावोंमें अप्रत्याख्यान माया भी है।

यह कषाय पर पदार्थके त्यागके लिये भावोंको रोकती हुई धनादि पदार्थोंके रक्षण व लाभके लिये प्राणीको वाध्य करती है। अनन्तानुबन्धी मायाके साथ यह प्रत्याख्यान माया मिथ्यादृष्टीको परके वंचनके लिये इतनी निर्दय बना देती है कि जिसने यह विश्वास किया था कि मेरे साथ कभी विश्वासघात न होगा, उसका भी विश्वास-घात करके मिथ्यादृष्टी अपने स्वार्थके साधन कर लेता है।

अविरत सम्यग्दृष्टी जीव अनंतानुबंधी कषायके अभावमें किसीको ठगनेका बिलकुल प्रयोजन नहीं रखता है, किन्तु इस मायाचारके

उदयके आधीन होकर कभी कभी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये व अनिष्ट वस्तुके संयोग न होने देनेके लिये न चाहते हुए ऐसा कष्ट भी कर लेता है जिससे अन्यायका दमन हो व न्यायका प्रचार हो। धर्म व न्यायकी रक्षार्थ सम्यग्दृष्टी जीव उस कषायके उदयसे वर्तन करते हुए मायाचार करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। दुष्टको पकड़नेके लिये कपटका भेष बनाकर उसको मित्रका विश्वास दिलाकर उसके साथ दमन नीतिका व्यवहार करते हैं। ऐसा कपट सहित व्यवहार करनेपर भी सम्यग्दृष्टी जीव जब एकांतमें विचारते हैं तब अपनी इस कपट प्रवृत्तिकी घोर निंदा करते हैं। यह मिथ्यादृष्टी जीव गुरुमुखसे व शास्त्रोंसे ठीक ठीक समझ लेता है कि सर्व ही कषाय आत्मीक भावोंको कथन करनेवाली है तथा इस कषायके मारनेके लिये भेदविज्ञानका अभ्यास ही एक अमोघ उपाय है. इसलिये वह आत्मा और अनात्माके भिन्न भिन्न विचार करके एकके द्रव्य गुण पर्यायमें दूसरेके द्रव्य गुण पर्यायका सम्मेलन नहीं करता है। जैसे चतुर पुरुष अनेक धातुओंसे बने हुए बर्तनमें भिन्न२ सुवर्ण, रजत, तांबेको पहचान लेता है, वैसे ही भेदविज्ञानी कर्मोंके पुंजके साथ मिले हुए आत्माको भिन्न असंग एक आत्मा पहचान लेता है व मैं निश्चयसे शुद्ध निर्विकार परका अकर्ता व अभोक्ता हूं, ऐसा बारबार मनन करता है। इसी धुनके भीतर रम जाता है, आत्म-रस प्रेमी होजाता है। इसी उपायसे करणलब्धिके परिणामोंकी प्राप्ति करके वह शीघ्र ही सम्यग्दृष्टि होजाता है, तब आत्माका साक्षात्कार करता हुआ जो अद्भुत आनंद पाता है, वह वचन व मनसे अगोचर केवल अनुभवगम्य है।

७८—अप्रत्याख्यान लोभ।

एक ज्ञानी स्वतंत्रताप्रेमी परतंत्रताके कारणोंको विचार कर उनके संसर्गसे बचनेकी चेष्टा करता है। अप्रत्याख्यान लोभ किंचित् भी त्याग या दान करनेसे रोकता है। यह कषाय प्राप्त परपदार्थोंके संपर्कको सदा चाहता है। अप्राप्त पदार्थोंकी तृष्णा करता है। अनंतानुबंधी लोभके साथ२ यह कषाय परिग्रहमें खूब मूर्छित रहता है। धनादि अनुकूल सामग्रीके लिये अति तृष्णा उत्पन्न करता है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव इसके वशीभूत होकर रात दिन परिग्रहके संग्रहके लिये व सामग्री प्राप्त परिग्रहके रक्षणके लिये आतुर रहता है। मान कषाय या क्रोध कषायकी पुष्टिके लिये धन खरचनेमें तय्यार रहता है परन्तु परोपकार या शुभ कार्योंमें किंचित् भी धन खरचना अपना बड़ा अलाभ समझता है!

अविरत मिथ्यादृष्टी जीव यद्यपि पर पदार्थोंका संयोग आत्माके लिये हितकर नहीं जानता है तौ भी इस कषायके प्रबल आक्रमणमें हिंसादि पापोंको एकदेश भी त्यागनेमें समर्थ नहीं होता है, न पांचों इन्द्रियोंके विषयभोगोंको त्याग कर सकता है। अतएव इस कषायके वशमें उस ज्ञानीको भी प्राप्तकी रक्षा व अप्राप्तको प्राप्त करनेकी भावना करनी पड़ती है। यद्यपि यह दयावान होता है अतएव किसीके साथ अन्यायका वर्ताव करना नहीं चाहता है, न्यायसे व पर पीड़ारहितपनेसे यह धनादि सामग्रीको उपार्जन करता है। धनादि संचयमें ऐसा नहीं उलझता है जिससे शरीरका स्वास्थ्य विगड़ बैठे या आत्मीक रसके पानमें बाधाको प्राप्त करे। यह वारवार चाहता है कि श्रावकके

अणुव्रत ग्रहण करूं परन्तु इस कषायके जोरसे ग्रहण नहीं कर सक्ता है। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव गुरु समागमसे या शास्त्रोंके पढ़नेसे यह निश्चय करता है कि कषाय आत्माके वैरी हैं। ये ही कर्मबंधके कारण हैं। तथा इन कर्मोंका बंध जबतक दूर न होगा वह स्वतंत्रताका लाभ नहीं कर सक्ता। कषायका आक्रमण बचानेके लिये यह आवश्यक है कि कषायके बलको निर्बल किया जावे। इसका उपाय एक शुद्ध आत्माका मनन है। उसको यह निश्चय है कि यह आत्मा स्वभावसे परमात्मा है। यह परम निर्विकार, ज्ञातादृष्टा, आनन्दमई, परम प्रभु, सर्व दुःखोंसे रहित, आनंद, अखंड, शुद्ध, क्षीर जलके समान निर्मल है। यह सर्व तरह स्वतंत्र है, वीतराग है अतएव यह नित्य एकांतमें बैठकर या चित्रोंके सहयोगमें निज आत्माका मूल स्वभाव वारवार विचारता है। धारावाही विचारके प्रभावसे सम्यग्दर्शन निरोधक कर्मोंका बल घटता जाता है। एक समय आजाता है जब वह मिथ्यात्वको दमन करके उपशम सम्यग्दृष्टी होजाता है तब आप परम सुखशांतिका स्वाद पाता है। ऐसा ही समझता है मानो मैं पूर्ण स्वतंत्र ही हूं। फिर तो यह जब चाहे तब स्वरूपके सम्मुख होजाता है और बड़े प्रेमसे आत्मानन्दरूपी अमृतका पान करता हुआ संतोषी रहता है।

७९–प्रत्याख्यान क्रोध।

एक ज्ञानी अपनी अवस्थाको परतंत्र देखकर उसके मिटानेका परम उत्सुक होरहा है। बंधनके कारणोंका विचार करके उनके दूर करनेका प्रयत्न करना चाहता है। पच्चीस कषायोंमें प्रत्याख्यान क्रोध कषाय भी है जो महाव्रतरूप चारित्रके निमित्तसे होनेवाली अन्तरङ्ग

वीतरागताके प्रकाशको रोकता है। इसका उदय स्वानुभवमई स्वरूपा-चरण चारित्रको सदोष रखता है।

अनंतानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरण क्रोधके साथ २ प्रत्याख्यान क्रोधका उदय एक मिथ्यादृष्टी अज्ञानी बहिरात्माको रहता है इसलिए वह मिथ्यादृष्टी किसीपर क्रोधित होके दीर्घकाल तक द्वेषभावको दूर नहीं कर सकता है, किंचित् भी अपराध पर या हानि होनेपर वह हानिकर्ताका ऐसा शत्रु होजाता है कि जड़मूलसे इसका नाश कर दिया जावे। कभी २ इन कषायोंमें अनुभाग कम होता है, तब थोड़े नाशसे सन्तोष मान लेता है परन्तु द्वेषभावका संस्कार नहीं मिटता है।

सम्यग्दृष्टी श्रावकको यह प्रत्याख्यानावरण क्रोध जब आता है तब अन्यायी व हानिकर्ताकी आत्माका सुधार चाहता हुआ मात्र इतना द्वेष करता है जिससे पश्चात्ताप करे व भावी कालमें अपना वर्ताव ठीक करले। जहांतक आरम्भ त्यागी आठमी प्रतिमाका धारक नहीं होता है वहांतक हानिकर्ताको मन, वचन, कायके व अन्य उपकरणोंसे ऐसा पाठ सिखाता है कि वह सुधर जावे व अपनी भूलको स्वीकार करके क्षमा मांग ले। आठमी प्रतिमाधारी व ऊपरके प्रतिमाधारी कोई आरम्भ नहीं करते। कर्मका उदय विचार कर समभाव रखते हैं तथा परिणामोंमें द्वेषभावको जल्दी नहीं मिटा सकते हैं। १५ दिनके भीतर वासना रहित अवश्य होजाते हैं। सर्व ही सम्यग्दृष्टी भीतर सत्तामें बैठी हुई कषाय उत्पन्न करनेवाली कर्मवर्गणाओंके अनुभागको सुखानेके लिये शुद्धात्माका मनन व ध्यान करते हैं। इसी उपायसे कषायोंको शान्त करते चले जाते हैं।

भद्र मिथ्यादृष्टि श्रीगुरुके उपदेशसे व शास्त्र विचारसे यह निर्णय करता है कि मेरा आत्मा सर्व परद्रव्यसे, भावोंसे निराला है, इसकी सत्ता नहीं है व अन्य आत्माओंकी सत्ता,जुदी है। अणु व स्कंधरूप सर्व ही कार्मण, तैजस, आहारक रूप व भाषावर्गणा रूप इत्यादि सर्व ही पुद्गल द्रव्यसे व धर्मास्तिकायसे, अधर्मास्तिकायसे, आकाशसे व कालाणुओंसे मेर आत्माकी सत्ता जुदी है। कर्मोंके संयोगसे होनेवाले राग द्वेष मोहसे व अन्य सर्व ही शुभ या अशुभ भावोंसे मैं विलकुल निराला हूं। मैं तो मात्र शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र व आनंदका धारक एक अखण्ड अभेद अमूर्तिक परम वीतराग व अनंत वीर्य धारी पदार्थ हूं। इस तरहकी श्रद्धाको पाकर यह निरंतर इसी भेद विज्ञानका मनन करता है। इस तरह वार वारकी मननरूपी चोटोंके प्रभावसे आत्माका साक्षात्कार रूप सम्यग्दर्शनका निरोधक मिथ्यात्व व अनंतानुवंधी कषाय कर्म दब जाता है और अनादिकालसे छिपा हुआ सम्यग्दर्शनका प्रकाश होजाता है। तब यह ज्ञानी होकर ज्ञानमय भावोंका कर्ता व ज्ञानमय भावोंका भोक्ता अपनेको मानता है। स्वात्मानुभवके द्वारा आनंदामृत पानकी शक्तिको पाकर यह अपनेको परम कृतार्थ समझ कर परम संतोषी रहता है।

८०—प्रत्याख्यान मान।

एक ज्ञानी व्यक्ति अपने मूल स्वभावको विचार करके व वर्तमान अवस्थाको देखकर उसी तरह दृढ़ संकल्प कर लेता है कि मैं मूल स्वभावको झलकाऊँगा, मलीनताको हटाऊँगा। जिस तरह कोई विवेकी

रुईके सफेद वस्त्रको मलीन देखकर यह दृढ़ संकल्प कर लेता है कि मैं कपड़ेको धोकर स्वच्छ कर दूंगा। मलीन करनेवाले भावोंकी तरफ जब यह दृष्टिपात करता है तो २५ कषाय भावोंमें प्रत्याख्यान मानको भी पाता है। यह मान कषाय साधुके योग्य पूर्ण चारित्रके भावको रोकनेवाला है।

यह अपनी योग्य स्थितिको होते हुए उसके अभिमानका मल एक श्रावकके मनमें भी यह उत्पन्न कर देता है जिसके वशीभूत होकर एक ऐलक भी मान कषायके मैलसे नहीं बचता। परन्तु सम्यग्दृष्टी गृहस्थ अविरति भावमें हो या देशविरतिमें हो कर्म द्वारा प्राप्त अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग साताकारी अवस्थाओंमें मान भावको प्राप्त करते हुए भी उस मानको कर्मोदय जनित विकार मानके उस मानसे पूर्ण वैराग्यवान रहता है व ऐसी भावना भाता है कि कब वह समय आवे जब यह मानकी कलुषता बिलकुल भी न हो।

मिथ्यादृष्टीको यह कषाय अनन्तानुबन्धी मानके साथ उदयमें आता हुआ पर्यायबुद्धिके अहंकारमें उलझाए रखती हैं। मैं धनी, मैं नृप, मैं अधिकारी, मैं परोपकारी, मैं दानी, मैं तपस्वी, मैं भक्त, मैं पुजारी, मैं मुनि, मैं श्रावक, मेरी प्रभुता बढ़े, परकी प्रभुता घटे, मेरे सामने किसीकी प्रतिष्ठा न हो। मैं ही बुद्धिवान, विचारवान समझा जाऊँ, इन भावोंमें फंसा रहता है।

कभी कभी मिथ्यादृष्टी ख्याति व पूजाके लोभसे महामुनि होजाता है, शास्त्रानुसार चारित्र पालता है, तपस्या करता है, अनेक शास्त्रोंका पारगामी हो जाता है; परन्तु जितना जितना ज्ञान व चारित्र

चढ़ता है उतना उतना अधिक मानी होजाता है। जरा कोई नमस्कार न करे तो कुपित होजाता है। प्रतिष्ठा पानेपर खूब सन्तोष मानता है। कषायनाशक धर्मका स्वांग धार करके भी चारित्रमोहके तीव्र उदयके वश मान कषायका पुनरपि तीव्र बन्ध करता है। यह कषाय मोक्षके मार्गमें प्रतिबन्धक है ।

यह मिथ्यादृष्टी जीव इस कषायके बलको क्षीण करनेके लिये कषाय रहित अपने आत्माके स्वरूपको परिचयमें लेता है। जानता है कि श्रीगुरुका उपदेश सच्चा है कि—इस शरीरके भीतर आत्मा परमात्माके समान पूर्ण ज्ञानघन अविनाशी, परम वीतराग, परमानन्दी, अमूर्तीक, अभेद, निरंजन, निर्विकार, परम कृतकृत्य पदार्थ है। यह शरीर पुद्गलकी रचना है। ८ कर्मका रचा शरीर व तैजस शरीर पुद्गलकी रचना है व कर्मोंके उदयसे होनेवाले सर्व अशुभ व शुभ भाव भी पौद्गलिक हैं, मेरे स्वभाव नहीं। मैं भिन्न हूं, वे भिन्न हैं, मेरी सत्ता सिद्धात्माओंकी सत्तासे भी जुदी है। इस तरह निश्चय करके यह सम्यक्तकी सन्मुखताको प्राप्त जीव निरन्तर सोहं मंत्रके द्वारा आपको आपरूप ही मनन करता है। जैसे शीतल जलमें डाला हुआ लोहेका उष्ण गोला धीरे धीरे शांत हो जाता है वैसे वैसे वीतराग मननके शांत जलसे कषायोंका आताप शांत हो जाता है। वह शीघ्र ही सम्यक्ती होकर अपने ही पास मोक्षको देखकर परम सन्तोषी व परमानंदी हो जाता है।

८१–प्रत्याख्यान माया ।

एक ज्ञानी परतंत्रताके कारक कारणोंको विचार करके उनके निरोधका संकल्प करता है, जिससे कर्मबन्ध न हो और यह आत्मा स्वतंत्र हो जावे । पच्चीस कषाय आत्माके प्रबल वैरी हैं, उन्हींमें प्रत्याख्यान माया भी है ।

यह कषाय साधुके महाव्रत सम्बंधी वीतराग भावोंको रोकनेवाली है । जहांतक इसका उदय रहता है वहांतक किंचित् मायाचार भावोंमें होजाना संभव है । जैसे कोई धर्मक्रिया करनी तो पन्द्रह आने व बाहरसे ऐसा झलकाना कि मैंने १६ आना की है । क्षुल्लक ऐलक उत्कृष्ट श्रावक होते हैं । यह भी जमीन देखकर चलते हैं । और भी हिंसाके त्यागी हैं उनको भी वाहनपर नहीं चढ़ना चाहिये । तौ भी वाहनपर चढ़कर अपनेको आरम्भी हिंसाका त्यागी मानना इस प्रकारके मायाचारका दृष्टांत है । कोई सूक्ष्म दोष भोजन करते समय होनेपर भी व ज्ञात होनेपर भी टाल जाना प्रत्याख्यान मायाका विकार है ।

मिथ्यादृष्टी जीवके यह माया अनन्तानुबन्धी मायाके साथ रहकर बहुत बिगाड़ करती है । स्वार्थ खोजी मिथ्यादृष्टी कपटका भाजन बन जाता है, विश्वास दिलाकर दयापात्र गरीब व विधवा बहनको भी ठग लेता है, मायाचारीसे धर्मात्मा बन जाता है, धर्मात्माओंको विश्वास दिलाकर धर्मका भंडार हडप कर जाता है । धर्मद्रव्यसे अपना स्वार्थ साधन करता है व दिखलाता यह है कि मैं धर्म द्रव्यका रक्षक हूं । मायाचारसे व्यवहार करते हुए पांचों इंद्रियोंके विषयोंका एकत्र करना इस मिथ्यात्वीका एक तरहका स्वभावसा बन

जाता है। गतदिन दावपेचका विचार करता ही रहता है। कभी कभी ऐसा मिथ्यात्वी साधु भी बन जाता है। मोक्षमार्ग मात्र एक स्वानुभव है, उसका लाभ न करके शुभ भावको ही मोक्षमार्ग मान लेता है। यहां अज्ञानपूर्वक मायाका अस्तित्व है। लेश्या शुक्ल हो सक्ती है। जैसा द्रव्य वैसा भाव। मन, वचन, कायकी सरलता-पूर्वक ऋजु क्रियामें कुछ भी कमी मायाचारकी कलुपताकी द्योतक है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुके प्रसादसे जब यह समझ जाता है कि आत्माका स्वभाव बिलकुल शुद्ध है, कषाय रहित है, परम वीतराग है, परमानंदमई है, अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमई है, अमूर्तिक अविनाशी है, सत् द्रव्यमय है, उत्पाद व्यय होनेपर भी ध्रुव स्वभावी है, परमात्माके समान है, तथा रागद्वेषादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्म सर्व भिन्न हैं। पच्चीसों कषाय आत्माके वैरी हैं, तब यह इन कषायोंके मूलमें जो अनुभाग शक्ति है उसको हीन करनेके लिये भेदविज्ञानकी भावना भाता है, आध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़ता है, अरहंत सिद्धकी भक्ति करता है। थोड़ी देर एकान्तमें बैठकर सामायिक करते हुए शुद्धात्माकी भावना भाता है, कभी सत्संगतिमें बैठकर आत्माके शुद्ध स्वभावकी चर्चा करता है। इस तरह आत्माके रसकी खोजमें वर्तन करता हुआ यह थोड़े कालमें करण-लब्धिके परिणामोंको पा जाता है। अन्तर्मुहूर्तमें सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश कर देता है तब ज्ञान चक्षुवान होकर साक्षात् निजात्माको देखता है। परम कृतार्थ हो जाता है, परमनिधि पाकर जब चाहे तब उसका स्वाद लेकर आनंदित रहता है।

८२–प्रत्याख्यान लोभ।

एक ज्ञानी भव्य जीव स्वतंत्रताका प्रेमी परतंत्रताके कारणोंको खोज कर उनसे बचनेका प्रयत्न करता है। आठ कर्मोंसे परतंत्रताकी बेडी बनती है। उस बेडीको बनानेवाले जीवके राग द्वेष मोह भाव हैं। उन्हींमें पच्चीस कषाय गर्भित हैं।

प्रत्याख्यान लोभके प्रभावसे प्राणीका ममत्व वस्त्राभूषण, गृहादिसे नहीं छूटता है। परिग्रहको त्यागने योग्य समझकर भी पांचवें गुणस्थानवर्ती एक श्रावक सर्व परिग्रहका त्याग नहीं कर सक्ता है। इस कषायके हटे विना पूर्ण वैराग्य ऐसा नहीं उदय होता है जिस वैराग्यसे प्रेरित होकर राज्यपाटादि छोड़कर यथाजात रूपधारी दिगम्बर साधु होजावे। यह महाव्रतोंके धारणमें बाधक है।

मिथ्यादृष्टी जीवके जब इस कषायका उदय अनंतानुबंधी लोभके साथ होता है तब वह जीव तीव्र लोभी व परिग्रहवान बना रहता है। इसका मोह शरीर व इंद्रिय भोगोंसे कुछ भी कम नहीं होता है। वह तीव्र लालसावान होकर न्याय व अन्यायका विचार छोड़कर अपने इच्छित चेतन व अचेतन पदार्थोंका संग्रह करता है। धनादि प्रचुर होनेपर भी तृष्णाको शमन नहीं कर सक्ता है, तीन लोककी सम्पत्तिकी प्राप्तिको भी अल्प समझता है।

कभी २ ऐसा मिथ्यात्वी जीव बाहरसे दिगम्बर साधु होजाता है, वहुत ही वैराग्यभाव झलकाता है। शास्त्रोक्त आचरण पालता है तथापि भीतर भावोंमें परिग्रहका राग नहीं हटता है। वैषयिक सुखकी अनंतताको मोक्षका अनंत सुख समझ लेता है। उसको अतीन्द्रिय

आनन्दकी पहिचान नहीं हुई है। वह कहनेको मोक्षमार्गी है परन्तु वह साक्षात् संसारमार्गी है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव इस कषायके बलको निर्बल करनेके लिये कषायकी कलुषताको कर्मपुद्गलोंका मैल है ऐसा समझता है व आत्माके स्वभावको सर्वप्रकार-कषाय कालिमासे रहित पूर्ण वीतरागी, परमानन्दी, पूर्ण ज्ञाताद्दष्टा, अमूर्तीक, निरंजन निर्विकार, असंख्यात प्रदेशी, चिदाकार, अविनाशी, शुद्ध, परम ब्रह्म, परमात्मा ऐसा भलेप्रकार जानता है व निश्चय भी रखता है। गाढ़ निश्चय रखकर वह भव्य जीव एकांतमें बैठकर आत्मा व अनात्माका भिन्न २ विषय विचार करता है। मैं शुद्ध स्फटिक पाषाण रूप हूं। या निर्मल जलके समान हूं। सर्व अन्य द्रव्य व अन्य भाव मुझसे भिन्न हैं। इस प्रकार बार बार भावना भानेसे यह देशनालब्धिके फलको प्राप्त करता है। कर्मोंकी स्थितिके ७० भाग कर देता है। गाढ रुचि जैसे जैसे बढ़ती है स्थिति और भी कम होती जाती है। अन्तर्मूहर्त तक अनंतगुणी समय २ वृद्धि होनेवाली विशुद्धताको बढ़ाते हुए जब वह करणलब्धिमें विचरण करता है तब यकायक दर्शन मोह व अनंतानुबन्धी चार कषायका उपशम होजाता है और यह जीव अन्धकारसे प्रकाशमें आजाता है। मिथ्यात्व भूमिकाको लांघकर सम्यग्दर्शनकी ऊँची भूमिपर आरूढ़ होजाता है। तब जब व्यवहार नयको गौण कर निश्चय-नयसे देखता है तब सर्व ही विश्वकी आत्माओंको परम शुद्ध परम सुखी परमात्मा स्वरूप देखता है। तब वहां छोटे बड़ेका भेद, स्वामी सेवकका भेद, पूज्य पूजकका भेद सब मिट जाता है। एक अभेद

अद्वैत तत्व इसके उपयोगके सामने आकर खड़ा होजाता है। वह समताके समुद्रमें मगन होजाता है। अपनी ओर लक्ष आते ही स्वानुभूतिकी कला चमक जाती है। इस कलाके प्रभावसे यह निरन्तर आत्मानन्दका भोग करता हुआ परम तृप्त रहता है।

८३–संज्वलन क्रोध।

स्वतंत्रता प्रेमी सज्जन परतंत्रताकारक सर्व ही भावोंको पहचान कर उनके नाशका दृढ़ संकल्प करता है। २५ कषायोंसे कर्मका बंध होता है। कर्मकी शृंखलाएं आत्माको भव–बंधनमें जकडे रहती हैं। उन कषायोंके क्षयके विना आत्मा स्वाधीन नहीं होसकता। उनहीमें संज्वलन क्रोध भी है। यह क्रोध जलकी रेखाके समान शीघ्र ही मिट जानेवाला है। इसलिये यदि और अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान क्रोधका उदय न हो तो यह संज्वलन क्रोध संयम भावको बिगाड़ नहीं सकता है। तो भी यथाख्यात चारित्रके प्रकाशमें बाधक है। परन्तु जब यही संज्वलन क्रोध अनंतानुबन्धी आदिके साथ२ उदय आता है तब तो यह स्थायी द्वेषभावको रखनेमें सहाई होता है। मिथ्यात्वी जीव अपने स्वार्थके विराधकपर तीव्र द्वेष करके उनका बिगाड़ करनेपर उतारु हो जाता है व बिगाड़ कर भी देता है। परकी हानि होनेसे संतोष मानता है। जिसपर द्वेष हो जाता है उसको दीर्घ-काल तक भूलता नहीं है। अवसर पाकर कष्ट देने लगता है। अन्तरङ्गका क्रोध जनित द्वेषभाव हर समय कर्म बन्धके कारण पड़ जाता है।

कभी कभी ऐसा मिथ्यात्वी साधुपद धारण कर लेता है, बाहरसे

बड़ा शांत भाव झलकता है परन्तु भीतरसे द्वेषभावकी कालिमाको धो नहीं सकता है। यदि कोई अपमान करे व इसके कहे अनुसार किं न करे तो वह तीव्र क्रोध भाव करता है व यही चाहता है f इसका बिगाड़ होजावे तब ही इसे शिक्षा मिलेगी। वर्ष दो वर्ष बीतनेपर भी द्वेषभाव भावोंसे दूर नहीं कर पाता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव जिनवाणी सुनकर यह दृढ़ निश्चय करता है कि आत्माका स्वभाव निष्कषाय है, वीतराग है, इसका स्वभाव कषायोंका विपाक मलीन कर देता है अतएव इन कषायोंकी जड़को खोदकर फेंक देना चाहिये। उसे श्रीगुरु द्वारा यह भी शिक्षा मिलती है कि शुद्धात्माके मननसे जो वीतरागताका अंश प्रकट होता है वही अंश सत्तामें बैठे हुए कर्मके अनुभागको सुखाता है तब वह बहुत ही प्रेमसे अध्यात्म ग्रन्थोंका पठन करता है, वीतराग सर्वज्ञ भगवानकी भक्ति करता है, निर्ग्रन्थ आत्मज्ञानी गुरुओंकी शरणमें बैठता है व एकांतमें बैठकर अपने आत्माके निश्चय स्वरूपकी भावना भाता है कि यह आत्मा बिलकुल शुद्ध द्रव्य है। यह ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, वीर्य, सम्यक्त आदि गुणोंका सागर है। सिद्ध भगवानके समान यह मेरा आत्मा भी पूर्ण गुणोंका धारी है। मेरे ही मंदिरमें शाश्वत चिदाकार वीतराग आनंदमई प्रभु विद्यमान है। वह अपने आत्माको पवित्र गंगाजलके रूपमें स्थापित करता है व दिनमें कभी तीन, कभी दो, कभी एक दफे अपने उपयोगको इसी गंगाजल स्वरूपी शांत निर्मल सुखप्रद आत्मामें डुबाकर उसे निर्मल करता है। ात्माके मननके प्रतापसे यह एक दिन करणलब्धिको पाकर सम्य-

ग्दर्शन गुणको झलका देता है। तब इसे अपने ही आत्मा प्रभुका साक्षात्कार होजाता है, आत्मदर्शन होजाता है, यह आत्माके रसका स्वाद वेदने लगता है। यह शुद्धात्म-प्रेमी होजाता है, संसारसे पूर्ण वैरागी होजाता है। क्रमशः स्वतंत्र होनेका शस्त्र पाकर परम सन्तोषी हो जाता है।

८४-संज्वलन मान।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारसे निश्चय कर चुका है कि मुझे आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिये। इसलिये बाधक कारणोंको विचारता है जिससे कर्मबन्धकी परतंत्रताकी बेड़ी आत्माके साथ बंधती है। पच्चीस कषायोंमें संज्वलन मान भी है। इसके उदयसे परिणामोंमें ऐसा विकार व मलीन भाव रहता है जिससे यह आत्मा यथाख्यात चारित्र सम्बन्धी वीतरागताका लाभ नहीं कर सकता है। अबुद्धिपूर्वक परजनित भावमें अहंकारसा रहता है जो पानीके भीतर लकीरके समान होता है व मिट जाता है।

अनंतानुबन्धी मानके साथ जब इस कषायका उदय मिथ्यादृष्टी जीवके साथ होता है तब उसके भीतर दीर्घकाल स्थायी मानभाव रहता है। शुभ क्रियामें शुभ क्रियाका मैं कर्ता हूं, अशुभ क्रियामें मैं अशुभ क्रियाका कर्ता हूं यह अहंकार भावोंमें जागता रहता है। मिथ्यात्वी अपनेको धनी, निर्धन, रोगी, निरोगी, बालक, युवा, वृद्ध, प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित, नीच, ऊंच, रागी, द्वेषी, क्रोधी, परोपकारी, व सुन्दर, असुन्दर, तपस्वी, अतपस्वी, विद्वान, निपुण आदि सबसे

मान करता है। आठ कर्मोंके उदयसे या निमित्तसे जो अपनी अंतरंग व वहिरंग अवस्थाएं होती हैं, उनमें यह अहंकार कर लेता है। कभी मंद मानभावसे सदा ही लिप्त रहता है।

ऐसा आत्मानुभव विहीन मिथ्यात्वी मुनिपद धार करके भी मैं मुनि, मेरी बाह्य क्रिया मुझे भवसागरसे तार देगी, इस अहंकारसे अंधा बना रहता है, कभी भी आत्मज्ञानके प्रकाशको नहीं पा सकता है।

यह मिथ्यात्वी जीव कषायोंकी कालिमाको अपने आत्मासे छुड़ानेके लिये उत्सुक होजाता है। श्री गुरुसे समझता है कि शुद्धात्माका मनन ही कषायोंके व मिथ्यात्वके मलको धोनेको समर्थ है। अतएव यह श्रीगुरुके उपदेशानुसार अपने ही आत्माको शुद्ध निश्चय दृष्टिसे परमात्माके समान देखता है। पूर्ण निश्चय कर लेता है कि मैं केवल एक आत्मा ही हूं, पूर्ण ज्ञानका समुद्र हूं, अपार वीतरागताका सागर हूं, स्वाभाविक अतीन्द्रिय आनंदका पयोनिधि हूं, एकाकी स्वतंत्र हूं, अमूर्तीक हूं, सर्व अन्य आत्माओंसे भिन्न हूं, यद्यपि स्वभावसे सब सदृश हैं तथापि सत्ता सबकी निराली है। सर्व सूक्ष्म स्थूल पुद्गलोंसे, सर्व प्रकारके शरीरोंसे, आकाश, काल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायसे निराला हूं, मैं बन्ध व मोक्षकी कल्पनासे रहित हूं, अपने गुणोंसे अभेद हूं। इस तरह अपने ही शुद्धात्माकी भावना करते करते वह किसी समय मिथ्यात्व विषको वमन कर डालता है तब स्वयं ही अपने आत्माका दर्शन प्राप्त कर लेता है। उसे आत्माका अनुभव हो जाता है, सम्यग्दर्शन जग जाता है, वह परम कृतार्थ होकर अपनेको स्वतंत्र ही जानता है, परम सुखी रहता है।

८५–संज्वलन माया।

एक स्वतंत्रताप्रेमी व्यक्ति परतंत्रताकारक भावोंको तलाश करके उनके संहारका बीड़ा उठाता है। जानता है कि पाप व पुण्य कर्मोंकी जंजीरें जबतक नहीं काटेंगे, आत्मा स्वतंत्र नहीं हो सकेगा।

आठों कर्मोंकी जंजीरोंको बांधनेवाले कषायभाव हैं। उन्हींमें यह संज्वलन माया भी है। इसके उदयसे बहुत सूक्ष्म कपटकी तरंग पानीमें लकीरके समान भावोंमें उठती है फिर तुर्त मिट जाती है; यथार्थ शुद्ध चारित्रको मलीन कर देती है।

अनंतानुबन्धी माया कषायके साथ जब इस संज्वलन मायाका उदय होता है, तब एक मिथ्यात्वी संसारासक्त प्राणीमें स्वार्थसाधनके लिये कपटका व्यवहार झलकता है, उसकी बुद्धि इष्ट वस्तुके लाभके लिये आतुर हो जाती है। वह इसलिये मायाचार करके बहुत अनर्थ करता है। अपने विश्वासपात्रको भी ठग लेता है। उसके भावोंमेंसे दया भाव निकल जाता है। वह घोर कपटके कारण पशु जातिमें दीर्घकाल भ्रमण करता है। उसके मिथ्यात्व कर्मकी जड़ मजबूत हो जाती है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव किसी महात्मा गुरुसे कषायोंके निवारणकी औषधि समझता है। वह औषधि यथार्थ ज्ञान तथा वैराग्य है। यथार्थ ज्ञान तो यह है कि इस जगतमें हरएक द्रव्य निराला है। मेरा आत्मा भी एकाकी, परम शुद्ध, रागादि मलसे रहित, परमानंदमय, अमूर्तीक, निरंजन, निराबाध, परम निराकुल, सर्व सांसारिक क्षणिक अवस्थाओंसे रहित, अजर, अमर है। यही परमेश्वर, परमब्रह्म, परमात्मा देव है, यही एक परम शरण है, यही एक सर्वोत्तम पदार्थ है, यही एक परम मंगल

स्वरूप है। परम कृत्यता इसी सत्य स्वभावमें है। वैराग्य यह है कि संसारका कोई भी पद मेरा इष्ट नहीं है, सर्व ही पद आपत्ति मूलक हैं, नाशवंत हैं, कोई पद आदरणीय नहीं। निराकुलताके साथ जीवनको सतत वितानेके लिये एक निज शुद्ध आत्मीक पदका निवास ही कार्यकारी है।

इस ज्ञान वैराग्यके मसालेको लेकर वह भद्र मिथ्यादृष्टी जीव एकांतमें बैठकर भेदविज्ञानके द्वारा स्वपरका भिन्न भिन्न स्वरूप मनन करता है। मैं ज्ञानी, वीतरागी, परमानंदमय हूं। शरीर व पाप पुण्य सब मुझसे निराला है, इस भेदविज्ञानके अभ्यासके बलसे उस भद्र मिथ्यात्वीका विष वमन हो जाता है, अन्धकारसे निकलकर प्रकाशमें आ जाता है। सम्यग्दर्शनरूपी रत्नको पाकर यह एक अनुपम जौहरी बन जाता है। उसको आत्मारूपी रत्नकी परीक्षा आ जाती है। वह जड़ पुद्गलके विचित्र प्रकारके कूड़ेके भीतर पड़े हुए आत्मारूपी रत्नको अलग देख लेता है। उसे ज्ञानदृष्टिसे सर्व ही आत्माएं परमात्मा तुल्य दीखती हैं। यह परम निराकुलतासे आत्मानंदका स्वाद लेता है और अपनेको कृतार्थ मानता है। अपने शुद्धात्माके दर्शन करके परम तृप्ति पाता है। और दृढ़विश्वास रखता है कि मैं तो वास्तवमें स्वतंत्र हूं। कर्म जंजीरें शीघ्र कटकर गिर जायंगी।

८६–संज्वलन लोभ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच-जालके विचारसे उदासीन होकर स्वतन्त्रता प्राप्तिके उपायोंको विचार रहा है। जिन २ भावोंसे कर्मकी

शृङ्खलाएं आत्माके भीतर बंधती हैं, उन उन भावोंको मिटाना ही स्वतन्त्रता-प्राप्तिका उपाय है।

पचीस कषायोंमें संज्वलन लोभ भी है। उसका उदय सूक्ष्म-सांपराय दशवें गुणस्थान तक रहता है। कुछ राग अंशका मैल प्रगट रहता है, जिससे पूर्ण नमूनेदार वीतरागभाव नहीं होने पाता। यद्यपि यह कषाय पानीकी लकीरकी तरह तुर्त मिट जानेवाली है, तथापि इसका होना ज्ञानावरणादि कर्मबन्धका हेतु है। अनन्तानुबन्धी लोभ-कषायके साथ जब इसका उदय मिथ्यादृष्टि जीवको होता है तब वह विषयभोगोंका तीव्र लोलुपी होता है। इस हेतु विषयभोगकी सामग्री व धन प्राप्त करनेमें वह न्याय अन्यायको, दया व प्रेमको, हित अहितको भूल जाता है। चाहे कितना भी बड़ा पाप करना पड़े, उसे ग्लानि नहीं आती है।

वह धनका ऐसा गुलाम बन जाता है कि धनका संग्रह करना ही उसका एक व्यसन होजाता है। न तो वह उचित कार्योंमें धन खरचता है न दान धर्ममें लगाता है। कोई २ विषय-लम्पटी विषय-भोगोंमें व नामवरी होनेमें खूब धनका व्यय करते हैं। ऐसे कितने भी जैनी नामके लिये मंदिर बनवाते, बिम्बप्रतिष्ठा कराते, गजरथ चलाते, यात्रा संघ निकालते, कोई २ मुनि व श्रावकके व्रत भी पालने लगते हैं। आशा यह होती है कि पुण्यके फलसे स्वर्गमें मनोज्ञ विषयभोग प्राप्त करूं। ऐसे जीव कषायके बंधनमें और भी अधिक जकड़ जाते हैं। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुके मुखारविंदसे धर्मकी अमृतमई वाणीका पान कर परम सन्तोषित होजाता है। और यह

दृढ़ संकल्प कर लेता है कि किसी तरह कर्मबन्धनसे मुक्त होजाऊं। उसको श्री गुरु बताते हैं कि बन्धके काटनेका मुख्य शस्त्र सम्यग्दर्शन है।

इसकी प्राप्तिका उपाय भेदविज्ञानका मनन है।

इस उपदेशको मान्य करके वह भव्य परिणामी आत्मा व अनात्माका भिन्न २ विचार करता है।

आत्मा स्वभावसे निर्मल है, ज्ञातादृष्टा है, अविनाशी है, परम वीतराग है, परमानंदमय है, अमूर्तीक है, अनंतबलका धनी है, परम कृतकृत्य है, केवल है, अपनी सत्ताको भिन्न२ रखता है। मेरे आत्माके साथ अनादिसे संग रखनेवाले कार्मण व तेजस शरीर बिलकुल मुझसे भिन्न पुद्गल द्रव्यके द्वारा निर्मापित हैं। तब उनके सर्व कार्य या फल भी मुझसे भिन्न हैं। सर्व शुभ व अशुभ भाव भी व सर्व तीन लोक सम्बन्धी जीवसे बाहरी व भीतरी अशुद्ध अवस्थाएं भी मुझसे भिन्न हैं। मैं सिद्ध पुरुष परमात्मा हूं, उसके सिवाय कुछ नहीं हूं। इस तरह भेद विज्ञानके सतत अभ्याससे एक समय आता है तब करण परिणामोंके द्वारा यह मिथ्यात्वी भी वमन कर सम्यक्ती होजाता है। स्वतंत्रताकी सड़क पर जानेकी स्वच्छन्दता पाजाता है। सतत आनन्दमय होकर जीवन सुखी रहता है।

८७–रति नोकषाय।

एक स्वतंत्रताप्रिय मानव परतंत्रताकारक कारणोंको विचार करके मिटानेका प्रयत्न कर रहा है। जिन भावोंसे कर्मोंका बन्ध होकर संसारमें भ्रमण करना पड़े उन कारणोंको मिटाना ही एक बुद्धिमान्‌का परम कर्तव्य है।

पच्चीस कषाय बन्धकारक भाव हैं। उनमें रति नोकषाय भी है। रतिके उदयके साथ लोभ कषायका भी उदय रहता है। लोभकी सहायतासे यह काम करती है। इसीसे इसे नोकषाय कहते हैं। इसके उदयसे जलरेखाके समान रागभाव होता है व मिट जाता है। अप्रमत्त ध्यानमें लीन साधुओंको व श्रावकोंको यह ध्यानसे गिरा नहीं सक्ती है, इतनी निर्बल है। परन्तु प्रमत्त साधुओं व श्रावकोंको यह ध्यानसे हटाकर शिष्योंमें, पुस्तकोंमें, या कुटुम्बमें व मित्रोंमें रतिवान बना देती है, वीतरागभावसे गिरा देती है। मिथ्यात्वी जीव अनन्तानुबन्धी लोभके उदयके साथ जब रति नोकषायका उदय पाता है तब यह विषयोंकी इच्छानुकूल सामग्री पाकर आसक्त होजाता है, उन्मत्त होजाता है, धर्मको व आत्मोन्नतिको बिलकुल भूल जाता है। उसे पांचों इंद्रियोंके विषय ही प्यारे लगते हैं। उनकी शक्तिके लिये, उनकी रक्षाके लिये, बाधकको हटानेके लिये यह महान पाप करते हुए संकोच नहीं करता है, सातों व्यसनोंमें फँस जाता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव इस नोकषायके अनुमानको मिटानेके लिये श्रीगुरुसे शिक्षा पाता है कि वीतराग भावका लाभ करो, उसके लिये भेदविज्ञानके द्वारा आत्माके शुद्ध स्वभावका मनन करो, तब यह भव्यजीव एकांतमें बैठकर मनन करता है कि यह मेरा आत्मा अन्य आत्माओंसे भिन्न है। पुद्गलके परमाणु व स्कंधोंसे जुदा है, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्योंसे भिन्न है। कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मसे, रागादि भाव कर्मसे, शरीरादि नोकर्मसे भिन्न है। यह ज्ञानका सागर है, शांतिका उदधि है, आनंदका समूह

है, परम अमूर्तीक है, अविनाशी है, असंख्यात प्रदेशी होकर भी मेरे शरीरके आकार है, शरीर मंदिर है, उसमें आत्मादेव विराजमान है। शुद्ध स्फटिक भाव है या शुद्ध जलमय है। ऐसा ध्याते २ करण-लब्धिको पाता है तब सम्यक्ती होकर आत्माका दर्शन पाकर परम संतोषित होजाता है। फिर तो यह जब चाहे तब अपनी आत्म—गंगामें स्नान करके परमानंदका लाभ करता है।

८८—अरतिके कषाय।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताके विकासके लिये परतंत्रता कारक कर्मोंके क्षयका व संवरका उद्यमी होकर कर्मबंधके कारणोंका विचार करके उनके मिटानेका उद्योग कर रहा है।

पचीस कषाय भावोंमें अरति नोकषाय भी बड़ी हानिकारक है। इसके उदयसे एक प्रकारका अरुचिकर भाव होजाता है, जिससे धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थोंके साधनमें उपयोग नहीं लगता है। आलस्य रूप अरति भाव पैदा होजाता है। यह एक तरहका अरति ध्यानमय भाव है। इसका जब उदय अप्रमत्त गुणस्थावर्ती व आठवें गुणस्थानवर्ती साधुके होता है, वह इतना मन्द होता है कि साधुके ध्यान करते हुए इनका स्वाद नहीं आता है परन्तु केवलज्ञानी इसके उदयसे प्राप्त मलीनताको जानते हैं। छठे प्रमत्त व पांचवें देशविरत गुणस्थानवर्ती साधुके भीतर यह ऐसा विकार उत्पन्न करती है कि एक अन्तर्मुहूर्त क अधिकके लिये उनका मन भी व्यवहार धर्म व कर्मसे उदास होजाता है। परन्तु साधुके जलरेखाके समान तुर्त मिट जाती है। श्रावकके बालकी रेखाके समान कुछ काल पीछे मिटती है।

मिथ्यात्वीके अनन्तानुबंधी भाव व क्रोधके साथ जब इसका उदय होता है तब वह धार्मिक कार्योंसे तीव्र अरुचि करता है। आलस्यमें डूबकर धनको नहीं कमाता। वे शरीरकी रक्षाके व नामके भोग भी नहीं करता है।

जिन किन्हीं बाहरी आदमियोंके कारण संकट होनेसे उदासी आई है उनके नाशका विचार करके तीव्र पापकर्म बांधता है। जीवनको वृथा खोकर वह अज्ञानी पशु आयु बांधकर एकेंद्रियसे पंचेद्रिय तक तिर्यंच होजाता है।

भद्र मिथ्यात्वी जीव श्री गुरुसे आत्मकल्याणका मार्ग जानकर व मोहके दमनका उपाय एक आत्माका मनन है, जो श्रेय विज्ञानके द्वारा किया जाता है, ऐसा समझ कर निरंतर एकांतमें तिष्ठकर भेद-विज्ञानके द्वारा यह विचारता है कि मेरी आत्मा स्वयं भगवान, अविनाशी, अमूर्तीक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंतबली, परम सुखी, परम शांत, परम कृतकृत्य, परम सन्तोषी है। मेरे ही शरीर मंदिरमें आत्मदेव विराजमान हैं। वह उनको रोककर बारबार आत्माके भीतर बुद्धिको प्रवेश करता है। इस उपायसे करणलब्धि द्वारा सम्यग्दर्शनको झलका कर आत्माका साक्षात्कार पाकर निश्चय कर लेता है कि मैं अवश्य स्वतंत्र होजाऊंगा, परम सन्तोषी होजाता है।

८९–शोक नोकषाय।

एक ज्ञानी परतंत्रताकारक भावोंको विचारकर उनसे बचनेका उद्यम कर रहा है। कर्मोंका संयोग स्वरूपके पूर्ण भोगमें बाधक है।

अतएव कर्मबन्धनको काटकर स्वतंत्र होना जरूरी है । पच्चीस कषा-योंमें शोक भी बहुत ही बाधक है । इष्टवियोगसे अनिष्ट संयोगसे व पीड़ासे परिणामोंमें शोकका उदय होजाता है तब प्राणी असाता-वेदनीय कर्मको बांधता है । वास्तवमें शोक करना मूर्खता है ।

यह शोक नोकषाय संज्वलन कषायके साथ आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक रहता है । परन्तु वहां उतना कम होता है कि ध्यानी साधुके अनुभवमें नहीं आता है ।

प्रवृत्ति मार्ग अविरत सम्यक्ती देशविरति व प्रमत्तविरत साधु-ओंको धर्मकी श्रद्धा सहित होता है । उनके शोकका उदय किसी इष्ट वस्तुके न होनेपर हो जाता है । साधुओंके तो जलरेखाके समान तुर्त मिटनेवाला होता है । तथापि कुछ देरतक किसी गुरु या शिष्य या पुस्तकके खो जानेका ख्याल रहता है । बालू रेतके समान शोक रहता है । आरम्भी गृहस्थोंको चेतन व अचेतन परिग्रहके वियोगपर भी शोक हो जाता है । यही हाल व्रत रहित गृहस्थोंका होता है । जिनका शोक हलकी रेखाके समान देरमें मिटनेवाला होता है ।

सम्यग्दृष्टी भेदविज्ञानके मननसे शोकके मैलको धो डालता है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानीको अनंतानुबंधी कषायके साथ शोकका उदय बड़ा ही शोकित बना देता है । वे इष्ट पदार्थके वियोगमें घबड़ाकर प्राण तक दे देते हैं व मरते समय कष्टसे मरकर पशुगतिमें चले जाते हैं। शोकके कारण उन मानवोंका जीवन बहुत ही निरर्थक बीत जाता है। वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों शुद्ध पदार्थोंके लिये पंगु हो जाते । शोक कषाय कर्मका जोर हटानेके लिये भव्य मिथ्यादृष्टी जीव

श्रीगुरुसे उपाय समझते हैं कि भेदविज्ञानका मनन ही कषायके अनुभागको सुखाता है।

तब वे एकान्तमें बैठकर आत्माका स्वभाव अनात्मासे भिन्न विचार करते हैं कि आत्मा स्वभावसे अमूर्तीक, ज्ञाता, दृष्टा, परम शांत, परमानंदमई, निर्विकारी, अनन्तबलका धनी है। इसकी सत्ता अन्य आत्माओंसे, सर्व पुद्गलोंसे, धर्म द्रव्यसे, अधर्म द्रव्यसे, आकाशसे, कालाणुओंसे निराली है। यह ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंसे, रागद्वेषादि भाव कर्मोंसे, शरीरादि नोकर्मोंसे निराला है। जैसा मेरा आत्मा है वैसा ही सर्व प्राणियोंका आत्मा है। वह ज्ञानी होकर सम भावको जागृत करता है। इस तरह वीतरागताके अंशोंको बढ़ाकर वह करणलब्धिको पाकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है। तब इसे मोक्षमार्ग मिल जाता है। स्वानुभवकी अग्नि जलानेकी रीति विदित हो जाती है। इसी उपायसे यह जीवनको आनन्दमय बनाकर तृप्त रहता है और धीरे धीरे स्वतंत्रताकी ओर बढ़ता जाता है।

९०—भय नोकषाय।

एक ज्ञानी अपने आत्माको स्वतन्त्र करनेका उद्यमी होता हुआ परतन्त्रताकारक कर्मोंके बन्धनोंसे छूटना चाहता है। जिन भावोंसे कर्मोंका बंधन होता है उनको विचार करके उनके दूर करनेका प्रयत्न करता है।

नोकषायोंमें भय नोकषाय भी बहुत ही कायर बना देती है। इसका उदय आठवें गुणस्थान तक रहता है। तौभी साधुको सातवें व

आठवें गुणस्थानमें यह अपनी मंदताके कारण भय संयुक्त नहीं करता है। तौ भी छट्टे गुणास्थानवर्ती प्रमत्तविरत साधुके भीतर कभी कभी भयका झलकाव होजाता है। परन्तु वह जलकी रेखाके समान तुर्त मिट जाता है। तौभी साधु आत्माका वीर स्वभाव विचार कर भय व कायरतासे अपनेको डरपोक नहीं बनाते हैं। कठिन स्थानोंपर निर्जन बनोंमें ध्यान लगा देते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव अनन्तानुबन्धी कषायके उदयके साथ भय कपायके उदयसे सदा भयभीत रहता है। उसीको सात प्रकारका भय सताता है—

(१) इसलोक भय—इस लोकमें मुझे लोग हसेंगे व क्या न क्या कहेंगे, इस भयके कारण करनेयोग्य धर्म व उपकारी कामोंको भी टाल देता है।

(२) परलोक भय—परलोकमें कहीं दुर्गति न हो इसका भय रखके दुःखोंसे डाता है। इस डरसे धर्मका काम करता है।

(३) वेदना भय—शरीरमें कहीं रोग आ पड़े तो मैं क्या करूंगा।

(४) अरक्षा भय—मेरा रक्षक कोई नहीं, कौन मेरी रक्षा करेगा।

(५) अगुप्ति भय—मेरा माल कोई ले जायगा तो मैं क्या करूंगा।

(६) मरण भय—यदि कहीं मरण आजायगा तो मुझे सब कुछ छोड़ना पड़ेगा, इसलिये मरणसे डर करके इष्ट पदार्थोंसे बड़ा स्नेह करता है।

(७) आकस्मिक भय—कहीं कोई पानीकी बाढ, आदि ?कायक आपत्ति न आजावे, इन भयोंके कारण कायर होकर मिथ्या- ी कभी २ अनुचित उपाय भी भय निवारणके लिये करने लगता

है। उसे आत्माके अमरत्वका निश्चय नहीं होता है तब मरणको ही अपना मरण समझ लेता है। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे कषायके नाश करनेकी दवा समझता है कि एक ही दवा कषाय मिटानेकी है, और वह उपाय आत्माका मनन है।

इसलिये वह भव्य जीव एकांतमें बैठकर थिरताके साथ अपने आत्माके स्वभावको परसे भिन्न विचारकर मैं ज्ञाताद्रष्टा, आनंदमई, परम शांत, अविनाशी शुद्ध आत्मा हूं। कर्मोंके संयोगवश जो आत्मामें रागद्वेषादि भाव या अशुभ या शुभ भाव होते हैं ये सब मेरे निज स्वभाव नहीं हैं। न पाप पुण्य कर्म मेरे हैं, न यह कोई शरीर मेरा है। मेरा तो मेरा ही स्वभाव है। वह अभेद व अखण्ड है, अमिट व अविनाशी है, परम वीतराग है। इस तरह मनन करते करते वह कभी मिथ्यात्व कर्मको उपशम करके सम्यग्दृष्टी होजाता है। तब वह ज्ञानी होकर परम निर्भय होजाता है। उसके भीतर बड़ी श्रद्धा रहती है कि उसका आत्मा सदा भयरहित है। उसे कोई भी नाश नहीं कर सक्ता है। इस सम्यक्तके प्रभावसे वह अपना जीवन परम सुखी बना लेता है।

९१–जुगुप्सा नोकषाय।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्चजालोंसे छूटकर यह मनन करता है कि स्वतंत्रताका लाभ कैसे किया जाय। स्वतंत्रताके बाधक कर्मोंका संयोग है। उन कर्मोंका सम्बन्ध रागादि कषाय भावोंसे होता है तब उनका क्षय रागादि रहित वीतरागभावसे होता है। इन २५ प्रकार

कषायोंमें जुगुप्सा नोकषाय भी है जिसके उदयसे अपने भीतर बड़प्पनका व परकी तरफ ग्लानिका भाव होता है ।

यद्यपि इन नोकषायका उदय आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक रहता है तथापि अप्रमत्त दशामें वह इतना कम है कि ध्याता मुनिके मनमें कुछ भी विकार नहीं पैदा होता है। प्रमत्तविरत छठे गुणस्थान तक यह ग्लानिका भाव पैदा कर देता है। साधुके भीतर यह जलमें लकीरके समान होता है जो तुर्त मिट जाता है।

मिथ्यादृष्टीके इसका उदय अनंतानुबंधी मानके साथ होता है। तब वह अपने रूप, बल, धन, विद्या, अधिकारका व अपने कुल व जातिका महान अभिमान करके दूसरोंको बहुत तुच्छ दृष्टिसे देखता है। गरीब दीनोंकी तरफ कठोर भाव रखकर उनका तिरस्कार करता है। उपकार करना तो दूर ही रहा, वह अपनेको बड़ा पवित्र समझता है। दूसरोंको अपनेसे योग्य आचरण रखनेपर भी अपवित्र समझता है।

सम्यग्दृष्टी अविरत व देशविरत भावधारीके भीतर भी इस नोकषायका उदय हो जाता है। वह श्रद्धानकी अपेक्षा इस भावको कर्मकृत जानकर त्यागनेयोग्य समझता है। चारित्रकी अपेक्षा कभी २ ग्लानि भाव कुछ देरके लिये आ जाता है, उसको यह भेदविज्ञानके शस्त्रसे काटनेका उद्योग करता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरुके द्वारा कषायोंके जीतनेका उपाय समझते हैं। वह उपाय एक अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपपर मनन है। वह निरन्तर एकांतमें बैठकर यह मनन करता है कि मैं शुद्धात्मा हूं, ज्ञाता दृष्टा निर्विकार हूं, परम अतींद्रिय हूं, वीतराग हूं, परमानंदमई

हूं, मेरे स्वभावमें रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म नहीं हैं, मैं एकाकी अनन्त गुण पर्यायवश परमात्मा परमेश्वर हूं। इस तरह मनन करते हुए वह सम्यग्दर्शनके बाधक कर्मोंको हटा देता है और आत्माके प्रकाशका दर्शन पाकर परम तृप्त व आनंदित होजाता है। स्वतंत्रता मिल ही गई ऐसी गाढ़ रुचि होजाती है।

९२–स्त्रीवेद नोकषाय।

स्वतंत्रताका अभिलाषी जीव कर्मोंकी शृंखलाको तोड़ना चाहता है। कर्मकी जंजीरें कषायोंके वेगसे जकडी जाती हैं। इन कषायोंका क्षय करना जरूरी है।

२५ कषायोंमें स्त्रीवेद नोकषाय भी है। इसका उदय नौमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होता है, परन्तु नौमेमें इतना भेद होता है कि शुक्ल ध्यानधारी शुद्धोपयोगीके भावोंमें कोई विकार नहीं पैदा होता है। छट्टे गुणस्थानवर्ती साधुके तीव्र उदय संभव है। तब मुनिके संज्वलन लोभके उदयके साथ कुछ विकारभाव पैदा होजाता है। परन्तु वह जलमें रेखाके समान तुर्त मिट जाता है। मिथ्यादृष्टी जीवके अनन्तानुबन्धी लोभके उदयके साथ जब इस वेदका उदय होता है तब वह स्त्री सम्बन्धी कामविकारसे आकुलित होजाता है। और नाना प्रकारके हाव भाव चेष्टा करके पुरुषके साथ रमण करनेकी कुत्सित भावना किया करता है। जिससे वह शांत ब्रह्मचर्यके भीतर रमण नहीं कर सकता है। कामविकार मनको क्षोभित करके अन्धा बना देता है। तब एक स्त्री परपुरुष रत होजाती है। स्त्रीवेदका तीव्र

उदय बाहरी निमित्तोंके आधीन होता है। कामप्रभावसे प्रेरित स्त्री वैसे काम प्रेरक निमित्त बना लेती है, नानाप्रकारका शृङ्गार करती है व स्त्री भूषणोंको पहनती है, बाहरी खोटी चेष्टा बताती है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव इस कामविकारके पैदा करनेवाले कषायके प्रयत्नके लिये श्री गुरुसे आत्मज्ञानकी औषधि समझता है और एकांतमें बैठकर भेदविज्ञानके द्वारा अपने आत्माके स्वभावका मनन करता है।

मेरा आत्मा स्वभावसे शुद्ध, अविनाशी, ज्ञाता, दृष्टा, परम शांत, निर्विकार, परमानन्दमई है। यही वास्तवमें परमात्मा है। यह स्पर्श, रस, गन्ध वर्णसे रहित है। रागद्वेषादि भावोंसे रहित है। संसारकी दशाओंसे रहित है, पाप पुण्यके संयोगसे रहित है। यह जैसा शुद्ध है वैसे सब आत्माएं शुद्ध हैं। ऐसा विचार करके समभावका अभ्यास करता है। इसीके अभ्याससे उसका सम्यक्त रोधक कर्म उपशम होता है और वह आत्माका साक्षात्कार पाकर सम्यग्दृष्टी होजाता है, परम तृप्त व परम सुखी होजाता है।

९३–पुरुषवेद।

एक ज्ञानी आत्मा अपनी प्यारी स्वतंत्रताके लाभ हेतु बाधक कारणोंको विचार करके हटानेकी चेष्टा करता है। कर्मोंके बंधके मूल कारण मोहनीय कर्मके भेद हैं। चारित्र मोहनीयके पच्चीस भेदोंमें पुरुषवेद भी है जिसके उदयसे कामविकार ऐसा पैदा हो जाता है, जो यह प्राणी स्त्रीसे कामसेवन करना चाहता है। इसका उदय अनि-

वृत्तिकरण नौमें गुणस्थानके संवेद भाग तक है, परन्तु सातवेंसे यहांतक इतना मंद उदय जलमें रेखाके समान है कि साधुके परिणाममें विकार नहीं होता है; क्योंकि यहां शुक्लध्यान होता है या सातवेंमें उत्तम धर्मध्यान होता है। छठे गुणस्थान तक सम्यग्दृष्टीके भी कामविकार उठ खड़ा होता है, उसे साधु ज्ञान वैराग्यके बलसे मिटाते हैं।

गृहस्थी श्रावक भी कामविकारको निंदनीय समझता है व काम भावको मिटाना चाहता है, परन्तु स्त्रीके निमित्त होनेपर व पुरुषवेदके तीव्र उदयसे लाचार हो, स्त्रीसेवनके प्रपञ्चमें पड़ जाता है। इस कार्यको अपराध जानता है, क्योंकि इस समय स्वात्माराधनसे दूर रह जाता है।

यह मिथ्यादृष्टि अनन्तानुबंधी लोभके उदयके साथ साथ पुरुष-वेदका तीव्र उदय पाकर आपेसे बाहर होजाता है। उसको श्रद्धान भी यही है कि विषयसुख सच्चा सुख है। अतीन्द्रिय सुखकी रुचिसे शून्य है, इसलिये स्व स्त्री, पर स्त्री, वेश्याका विवेक छोड़कर अपनी वेदना शांत करके पशुके समान आचरण करता है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरुसे ज्ञान प्राप्त करके अतींन्द्रिय सुखकी चाह पैदा करते हैं और सत्तामें बांधे हुए कर्मोंकी शक्ति कम करनेके लिये उपाय समझता है, वह उपाय एक वीतराग भावका ही लाभ है।

वीतराग भाव एक गुण है, जो आत्माके स्वभावमें रहता है। इसलिये उस वीतराग भावके लिये यह मुमुक्षु जीव अपने आत्माके मूल द्रव्यका स्वरूप विचारता है कि यह आत्मा अमूर्तीक, ज्ञातादृष्टा है परम शांत है, निर्विकार है, परमानंदमय है, सम्यक्त गुणोंका व

अनन्तवीर्य गुणका धारी है, परम निराकुल है। शुद्ध स्फटिकके समान है। यही ईश्वर, परमात्मा, प्रभु, निरंजन व जिनेन्द्र देव है। यही सिद्ध है, यही अरहंत परमात्मा है। सब ओरसे उपयोगको खींचकर इसे अपने शुद्ध स्वरूपमें मननकी धारावाही चेष्टा करता है। इसीसे करण-लब्धिको पाकर झट ही सम्यग्दर्शनके बाधक कर्मोंका उपशम करके आत्मज्ञानी, आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टी होजाता है और तब संसारसे छूट करके स्वतंत्रताके पथपर चलने लगता है। और सच्चे सुखका भोग करता है।

९४–नपुंसक वेद नोकषाय।

एक ज्ञानी आत्मा अपनेको पराधीन देखकर अतिशय उदासीन है व इस प्रयत्नमें है कि स्वाधीनताका लाभ करना ही चाहिये। पराधीनताका कारण कर्मोंका बंधन है। कषायोंसे ही कर्मोंमें स्थिति व फलदान शक्ति पड़ती है। इन कषायोंके विजयसे ही स्वतंत्रताका लाभ है। २५ कषायोंमें नपुंसक वेद भी है। इस वेद नोकषायका उदय नौमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके वेद भाग पर्यंत होता है। परन्तु ८ वेंसे शुक्लध्यान व निर्विकल्प समाधि व शुद्धोपयोगकी धारा बहने लगती है। उस धारामें बहुत ही अल्प कामका विकार ध्यानसे ध्याताको पतन नहीं कर सक्ता, न कामभाव ही उठ सक्ता है। तथापि केवल-ज्ञान गम्य वेदके उदयकी मलिनता है सो जलमें रेखाके समान है।

छठे गुणस्थान तक वेदका उदय विकारभावको प्रगट पैदा करता है। परन्तु यह शीघ्र ही मिट जाता है। साधुजन भेदविज्ञानसे

व वैराग्यसे काम विकारको जीतते हैं। पांचवें गुणस्थानमें काम विकार उत्पन्न होकर कुछ अधिक देर ठहरता है। चौथेमें और अधिक ठहरता है। ज्ञानी ब्रह्मचर्य व्रतके स्मरणसे इस विकारको यथाशक्ति जीतनेका प्रयत्न करते हैं।

मिथ्यादृष्टी मोही जीवके भीतर अनन्तानुबन्धी लोभके उदयके साथ इस वेदका जब उदय होता है तब यह नपुंसक वेदधारी असैनी पंचेन्द्रियोंके समान मूर्छित होकर स्त्री पुरुषकी मिश्रित कामचेष्टा करके विकारी भावोंसे तीव्र कर्मबंध करता है और एकेन्द्रियादि पर्यायमें चला जाता है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे धर्मका उपदेश सुनता है। कामभावको आत्मीक शांतिका परम वैरी जानता है। यह भी समझता है कि जबतक तीव्र कर्मोंका अनुभाग सत्तामें होगा तबतक उनका उदयमें आकर भावोंको विकारी बनाना शक्य है। यहां भी श्रीगुरु समझाते हैं कि अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपके मननसे सत्तामें बैठे हुए कर्मोंका रस सूख जाता है, तब यह उद्यम करके यह मनन करता है कि मैं एक अकेला आत्मा हूं, परम शांत हूं, परम निर्विकार हूं, परमानंदमय हूं, पूर्ण ज्ञानदर्शनका सागर हूं, अनंत बलशाली हूं, परम अमूर्तीक हूं, शरीररूपी मंदिरमें औदारिक, तैजस, कार्मण शरीरोंके भीतर परम तेजस्वी सूर्य समान ईश्वर स्वरूप विराजमान हूं। ऐसा बार बार मनन करनेसे यह जीव अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्मोंको निर्बल कर देता है। वे ढीले पड़कर मुरझा जाते हैं, तब वह सम्यक्ती होकर अपनी सम्पदाका आप स्वामी बन जाता है, पर संपत्तिसे बिलकुल उदासीन होजाता है।

९५—सत्य मनोयोग।

ज्ञानी आत्मा विचारता है कि अपनी प्यारी स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो। कर्मोंका बन्ध परतंत्रताकारक है। कर्मोंके बन्धनके कारक मिथ्यात्व, अविरत कषाय व योग हैं। यद्यपि कषायसे कर्मोंमें स्थिति व अनुभाग पड़ता है, परन्तु योगोंसे ही कर्मका आस्रव होता है व प्रकृति प्रदेश बन्ध पड़ता है।

आत्मामें एक कर्मको आकर्षण करनेकी शक्ति है जिसको योग-शक्ति कहते हैं। यह शरीर नामकर्मके उदयसे काम करता है। जब आत्माके प्रदेश सकंप होते हैं। मनके विचार होते हुए, वचनोंके बोलते हुए, कायसे कोई काम करते हुए, आत्मा सकंप होगया है। इन ही कर्मोंका आना प्रकृति व प्रदेश बन्ध होता है। इसलिये योगोंका हलन चलन भी शत्रुओंके बुलानेके कारण हैं। जहां मन, वचन, कायके योग नहीं चलते हैं वहां कर्म नहीं आते हैं। मनके चार प्रकार योगोंमें सत्य मनोयोग है। यह सत्य मनोयोग सैनी पंचेंद्री जीवको होसकता है जब किसी सत्य बातका विचार किया जाता है।

यह सत्य मनोयोग संकल्प विकल्पकी चंचलताकी अपेक्षा १२वें क्षीण गुणस्थान तक होता है व द्रव्य मनोयोगकी चंचलताकी अपेक्षा तेरहवें सयोग केवली गुणस्थानमें भी होता है। जब यह योग कषायकी कालिमासे मैला नहीं होता है तब मात्र सातावेदनीय कर्मका आस्रव आता है वह भी ईर्यापथ होता है। कर्म आते हैं व चले जाते हैं, ठहरते नहीं हैं। मिथ्यादृष्टिका अभिप्राय मिथ्या वासनासे वासित होता है। इसलिये उसका सत्य मनोयोग भी विशेष कर्मबंधका

ही कारण होता है। योगोंकी थिरताके लिये ज्ञानी सम्यक्ती जीव अपने शुद्ध आत्माका चिन्तवन करते हैं। वे एकाग्र हो मनको आत्माके स्वभावमें लय कर देते हैं जिससे शांत भाव पैदा होजावे और वीतरागताका कर्मोंके सुखानेमें कारण हो। योगोंको थिर करनेका अभ्यास ही योगाभ्यास है।

शुद्ध भावना ही शुद्ध योगका कारण है। मैं शुद्ध ज्ञाताद्दष्टा, अविनाशी, अमूर्तिक, परमानन्द मय हूं, रागद्वेष मोहसे रहित हूं, यही भावना एकाग्रताका उपाय है। इसी भावनासे ही भद्र मिथ्यादृष्टिसे करणलब्धिकी प्राप्ति होती है व सम्यक्त्वका लाभ होता है। मैं शुद्धात्मा हूं अन्य कोई नहीं हूं, यह भाव मोक्षका बीज है, परमानन्द दाता है। यही करनेयोग्य है, और सब त्यागने योग्य हैं।

९६—असत्य मनोयोग।

ज्ञानी आत्मा किसी प्रकारसे परतंत्रताको मिटाकर स्वतंत्र होना चाहता है। वह जानता है कि कर्मोंके बंधनोंसे आत्मा परतंत्र रहता है। कर्मोंके आनेको रोकना जरूरी है। आस्रवका कारण देहका सकंप होना है। मन योग चार प्रकारका होता है। असत्य मनोयोग भी बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक रहता है। अबुद्धिपूर्वक असत्य विचारका संस्कार रहता है क्योंकि ज्ञान अल्प है। केवलज्ञान नहीं हुआ है। सैनी पंचेद्रिय जीव किसी प्रयोजनवश असत्यका विचार करते हैं। मिथ्यादृष्टी जीव असत्य कल्पनाओंसे जगतके मायाचार पूर्वक घोर अन्याय फैलाते हैं। महान कर्मका बंध करते हैं। सम्यग्दृष्टी चौथेसे

छठे गुणस्थान तक भव्योंके भीतर ज्ञानके कर्मोंसे असत्य विचार हो जाते है, तब इतने अंश वे भी हानिकारक ही हैं, असत्य विचार ही रहा करे। बुद्धिपूर्वक आत्माकी झलकके लिये यह मिथ्यादृष्टि जीव श्रीगुरुसे यह समझकर कि आत्माकी शुद्ध भावोंके मननसे सत्तामें बैठे हुये दूषित होते हैं, यह भव्य जीव एकांतमें बैठकर निश्चयनयके द्वारा जन्मको परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा, अविचारी, आनन्दमय, वीतरागी, अमूर्तीक, शुद्ध, परम पवित्र, निरंजन, निर्दोष शुद्ध जलके समान ध्याता है। तब परिणामोंकी उन्नति होती जाती है। कुछ काल प्रमाद करनेसे वह करणलब्धिके परिणामोंको प्राप्त कर लेता है। और यकायक अन्धकारसे प्रकाशमें आजाता है, सम्यक्ती होकर सुखी हो जाता है।

९७-उभय मनोयोग।

ज्ञानी जीव अपने आत्माके सच्चे स्वरूपको पहचानकर उसकी कर्मबंध रूप दशासे उदासीन होरहा है। व यही दृढ़ भावना करता है कि मैं शीघ्र स्वतन्त्र होजाऊँ। कर्मोंका बन्ध योगोंसे व कषायोंसे होता है व कर्मोंका सब योग निरोधरूप शुद्धात्मानुभवसे होता है। पन्द्रह योगोंमें उभय मनोयोग भी है। इस योगमें सैनी प्राणी ऐसी वार्तोको विचार करता है जिनमें सत्य व असत्य अभिप्राय मिला हुआ है। कषायकी प्रेरणासे ऐसा अभिप्राय छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होसक्ता है। इसके आगे बारहवें गुणस्थान तक यह योग है, सो केवलज्ञानके अभावमें अज्ञानजनित है, केवलज्ञानीके उभय मनोयोग नहीं होसक्ता है।

छठे गुणस्थानवर्ती साधु किसी व्यवहार धर्मकी प्रभावनाके हेतु कभी उभय मनोयोगसे प्रवृत्ति कर सक्ते हैं। आरम्भी श्रावक व अविरत सम्यग्दृष्टी गृहस्थ न्यायपर चलते हुए भी कभी कभी मिश्रित मनोयोग कर लिया करते हैं। सत्यके साथ असत्यको मिलानेका अभिप्राय करना पड़ता है तौभी ये निन्दा गर्हासे मुक्त हैं। मिथ्या-दृष्टी अज्ञानीसे सारा सत्य है वह तो अपना लौकिक स्वार्थ अन्याय-पूर्वक भी करता रहता है तब जूठ सच मिला हुआ बहुतसा विचार करता है। कषायोंकी तीव्रतासे घोर पापकर्म बांधता है।

भद्र मिथ्यादृष्टि जीव श्रीगुरुसे भेद विज्ञानका मंत्र सीखता है, जिससे उस आत्माका असत्य स्वभाव सर्व परभावोंसे भिन्न नजर आता है। प्रतीति पूर्वक वह लगातार मनन करता है कि मैं आत्मा हूं, निर्विकार हूं, ज्ञाता दृष्टा, परम शांत, परमानंदमय हूं। मेरा कोई सम्बन्ध किसी भी अन्य आत्मासे किसी पुद्गलके परमाणुसे व धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्योंसे रागद्वेषादि भावकर्मोका शरीरादि कुटुंब व मित्रोंसे कोई भी नहीं है। सर्व परसे उदास होकर तब सम्यग्द-र्शनके सन्मुख रहनेवाला भद्र जीव वार वार अपने ही आत्माका मनन करता है, जब धीरे २ कषायका बल घटता जाता है। एक समय आजाता है जब यह सम्यग्दर्शन रूपी रत्नका प्रकाश घटता जाता है तब यह परम संतोषी होजाता है तब इसको स्वतंत्रता देवीका स्वसं-वेदन प्रत्यक्षसे नित्य दर्शन होता है। यह शीघ्र ही पूर्ण स्वतंत्र हो जायगा। वास्तवमें शुद्धात्माका मनन ही परम कार्यकारी है, यही स्वतंत्रताका स्रोत है, यही परम मंगलकारी है व यही सब तरहसे

करने योग्य काम है। जो अपने आत्मीक घरमें विश्राम करते हैं वही सुखी हैं।

९८–अनुभय मनोयोग।

एक ज्ञानी आत्मा अपने अनादिकालीन शत्रुओंके नाशके लिये उद्यम कर रहा है! जिन कारणोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उनको पहचानकर उनके मिटानेका प्रयत्न करना जरूरी है। १५ योगोंमें अनुभय मनोयोग भी है। किसी ऐसी बातका विचार करना जिसको सत्य व असत्य कुछ भी नहीं कह सकते, अनुभय मनोयोग है। बुद्धि-पूर्वक यह योग छठे प्रमत्त गुणस्थान तक होता है। अबुद्धिपूर्वक इसका सम्बन्ध बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक है। यद्यपि तेरहवें सयोग गुणस्थानमें भी यह है, तथापि श्रुतज्ञान व मतिज्ञान न होनेसे कुछ कार्यकारी नहीं है। द्रव्य मनोयोग है इस अपेक्षा भाव मन भी कहा हो, ऐसा दीखता है वहां मनके संकल्पविकल्प नहीं है।

अनुभय मनोयोग मिथ्यादृष्टीके भी होता है, परन्तु उसका आशय मिथ्यात्व सहित है। इससे उसके भीतर जो किसी बातके जाननेकी इच्छा होती है या कुछ प्रगट करनेकी इच्छा होती है, उसमें विषय कषायोंकी पुष्टिका ही अभिप्राय रहता है, इससे वह संसारवर्द्धक ही कर्मास्रव करता है।

सम्यग्दृष्टी चौथेसे छट्ठे गुणस्थान तक जो प्रश्नादि करनेका विचार करता है उसमें अवश्य रत्नत्रयका साधन ही है। कषायवश कभी यह आत्मकार्यके सिवाय कामोंके सम्बंधमें भी विचार करता

है। उस समय भी उपयोगकी चंचलता उसकी कामनाके सिवाय होती है। इसलिये वह संसारवर्धक बंधका पात्र नहीं होता है।

भव्य मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरुसे यह समझता है कि अनुभय मनोयोग भी कर्मके उदयका कार्य है, आत्माका स्वभाव नहीं अतएव त्यागनेयोग्य है, ग्रहण करनेयोग्य है। अपने ही आत्माका सर्वस्व है जो पूर्ण ज्ञान, दर्शन. वीतराग व आनंद स्वभाव है, जो आत्मा बिलकुल अमूर्तीक है, सर्व सांसारिक विकारोंसे बाहर है। कर्मबंध चौदह गुणस्थानोंसे भी प्रतीत है। केवल स्वसंवेदनगम्य एक शुद्ध आत्मीक भाव है। इसी भावकी भावना करनेसे पूर्वबद्ध कर्मोका आस्रव रोकता है, आत्माके मननके प्रतापसे मिथ्यात्व विषका वमन हो जाता है। सम्यग्दर्शनरूपी रत्न प्रगट होजाता है। इस रत्नके प्रगट होतेही ज्ञानका सच्चा प्रकाश होजाता है, तब स्वतंत्रताका दर्शन अपने ही भीतर होने लगता है, यही मोक्षका सोपान परम सुखका स्थान है।

९९–सत्य वचन योग।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वतंत्रताका लाभ चाहता हुआ परतंत्रताकारक कर्मोसे पीछा छुड़ाना चाहता है। नए कर्मोके आनेको रोकनेके लिये उनके कारण आश्रव भावोंका विचार करके उनसे वैराग्यभाव लाता है। १५ योगोंमें सत्य वचन योग भी है।

जहां सत्य, पर पीडा रहित, हितकारी अभिप्राय सहित वचन कहा जावे वह सत्य वचन है। सत्य वचनको कहते हुए आत्माके प्रदेशोंका सकम्प होना व कर्म नोकर्म आकर्षण शक्तियोगका काम

साक्षात्कार हो जाता है। यह परम तृप्त होजाता है। आनन्दामृत पीनेकी कला प्रगट होजाती है। तब स्वतंत्रतादेवीका दर्शन करके परम सन्तोषी रहता है।

१००—असत्य वचन योग।

एक स्वतंत्रता वांछक ज्ञानी भलेप्रकार जानता है कि जबतक कर्मबंधके कारक भावोंको नहीं रोका जायगा तबतक परतंत्रताकारी कर्मोंका आना बन्द नहीं होगा।

१५ योगोंमें असत्य वचन योग भी है। परपीड़ाकारी व परको अहितकारी वचन कहना असत्य वचन कहलाता है। उसके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंकी चंचलता होकर कर्माकर्षण करनेवाली भाव योग शक्ति कर्मोंको खींचती है।

यह असत्य वचन योग अबुद्धिपूर्वक बारहवें क्षीण मोह गुण-स्थान तक रहता है। प्रमादके वशीभूत होनेसे सम्यग्दृष्टी, श्रावक व साधुसे भी कभी असत्य वचन निकल जाता है। ये ज्ञानी महात्मा-गण अपने दोषको दोष जानते हैं। निन्दा गर्हा करके प्रतिक्रमण करते रहते हैं।

मिथ्यादृष्टी अज्ञानी विषयासक्त असत्य वचनोंसे स्वार्थ साधन करता हुआ पर प्राणियोंको बहुत कष्ट देता है। दयाभाव रहित तीव्र कठोर भाव सहित होता है। इसलिये वह असत्य वचन योगके द्वारा तीव्र कर्मोंका बंध करता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी श्री गुरुसे समझता है कि जबतक सत्तामें बैठे

हुए कषाय कर्मोंका अनुभाग न सुखाया जायगा तब तक असत्य भाषणका मैल दूर नहीं हो सक्ता है । वह यह भी समझता है कि इसका उपाय शुद्धात्माका मनन है । भेद विज्ञान द्वारा अपने आत्मामें परसे भिन्न यथार्थ आत्मद्रव्य पहचानना चाहिये कि यह आत्मा स्वभावसे परमात्माके तुल्य पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्रका धनी है । यह अविनाशी अमूर्तीक असंख्यातप्रदेशी शरीर-व्यापक एक अनुपम द्रव्य है । यह न रागी है न द्वेषी है न मोही है । यह तो परम वीतरागी है । इस तरह निज आत्माका मनन करते करते करणलब्धिके परिणामोंका लाभ होता है तब भद्र मिथ्यादृष्टी सम्यक्त-बाधक प्रकृतियोंको उपशम करके सम्यग्दृष्टी होजाता है । अंधकारसे प्रकाशमें आजाता है । स्वतंत्रताको निश्चयसे अपने पास ही रखकर परम संतोषी होजाता है ।

१०१—उभय वचन योग ।

ज्ञानी आत्मा अपने स्वाभाविक स्वतंत्रताका परम प्रेमी होकर बाधक कारणोंको हटाना चाहता है । विना विरोधी दलके दमनके किसीको स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती है । कर्मवर्गणाएं यद्यपि पुद्गल हैं तथापि जीवोंके राग द्वेष मोहादि भाव सुखोंके निमित्तसे अपनी उपादान शक्तिकी ऐसी प्रगटता करती है कि जीवके ज्ञानादि गुणोंका घात करती है व उसे शरीरमें कैद रहनेका साधन जोड़ देती है । इन कर्मवैरियोंका नवीन संग्रह न हो इसलिये अशुभ भावोंको विचार कर दमन करना जरूरी है ।

१५ योगोंमें उभय वचन योग भी है। सत्य वचनके साथ असत्यका मेल उभय वचनयोग है। इसका ठिकाना बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक है। छद्मस्थ होनेसे सातवेंसे बारहवें तक अबुद्धिपूर्वक उभय वचन योग संभव है। बुद्धिपूर्वक उभय वचन योग छठे प्रमत्त गुणस्थान तक है। सम्यग्दृष्टी गृहस्थ या प्रवृत्तिमार्गी मुनि किसी न्याय व धर्मयुक्त प्रयोजनकी सिद्धिके लिये, धर्मप्रचार व शिष्योंको सुयोगपर लानेके लिये असत्यको मिलाकर सत्य बोलते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टी व्रत रहित होनेपर अर्थ व काम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये कभी कभी उभय वचनसे काम लेता है। परन्तु फिर अपनी निंदा गर्हा करता है।

मिथ्यादृष्टी स्वच्छंद होकर विषय कषायकी पुष्टिके लिये उभय वचन बोलता हुआ बड़ा आनंदित होता है जब उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इस कारण वह अज्ञानी तीव्र कर्मका बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टी संसारवर्धक कर्मको नहीं बांधता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव सत्तामें बैठे हुए कर्मोंकी जड़ काटनेका मंत्र श्रीगुरुसे सीख लेता है, जिससे वह आस्रव भावोंको ही प्राप्त न होसकें। यह मंत्र एक भेदविज्ञानपूर्वक निज आत्माका मनन है। वह एकांतमें बैठकर श्रद्धापूर्वक यह मनन करता है कि मैं मात्र एक ही शुद्धात्मा हूं। सर्व कर्मजनित विकारोंसे दूर हूं. अविनाशी ज्ञातादृष्टा एक निराला तत्व हूं, न परभावका कर्ता हूं न परभावका भोक्ता हूं। अपने ही शुद्ध गुणोंमें नित्य वर्तन करनेवाला हूं। मेरा संबंध किसी भी परद्रव्य, परगुण, परपर्यायसे नहीं है। मैं एक अभेद द्रव्य हूं। केवल स्वानुभवगम्य हूं। इस तरह नित्य मनन करते रहनेसे वह भी

करुणालब्धिके परिणामोंको प्राप्त करके सम्यग्दृष्टी होजाता है, स्वतंत्रताको प्राप्त कर पूर्ण विश्वासपात्र हो जाता है। तबसे जब चाहे तब अतींद्रिय आनंदका लाभ करता रहता है।

१०२–अनुभय वचनयोग।

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताका प्रेमी होकर आत्माके बाधक कर्मशत्रुओंके विजयका उद्यम कर रहा है। जिन क्रियाओंसे व परिणामोंसे कर्मोका संचय होता है उनका स्वरूप विचारकर उनसे वैराग्यभाव ला रहा है। १५ योगोंमें अनुभय वचनयोग भी है, जहां सत्य व असत्यकी कोई कल्पना मायाचार या आर्जव भावपूर्वक न की जासके। प्राकृतिक रूपमें वचनोंका प्रयोग हो वही अनुभय वचन है। इस अनुभय वचनके होते हुए भी आत्माके प्रदेश परिस्पन्द होते हैं व कर्म आकर्षणकारक योग शक्ति काम करती है। द्वेंद्रियसे पंचेन्द्रिय असैनी तक सबके अनुभय वचनयोग पाया जाता है। मन रहितके सत्य असत्यकी कल्पना नहीं होती है। केवली अरहन्तकी दिव्य ध्वनि भी अनुभय वचनयोग है।

केवलीके भाव मन सम्बन्धी संकल्प विकल्प नहीं होता है। कर्मोदयसे प्रकृति रूपसे वाणी खिरती है जैसे–सोते हुए प्रायः मानव बहकने लगते हैं। सैनी पंचेन्द्रियोंके भी अनुभय वचनयोग होता है। जब कोई वाणी ऐसी हो कि जिसमें सत्य व असत्यकी कोई कल्पना न हो जैसे अयाचिणी भाषा-यहां आज्ञा देना, याचनीय भाषा-मुझे कुछ दीजिये, सूचनात्मक भाषा-उसने यह सूचना की है आदि ।

सम्यग्दृष्टी जीवोंकी भूमिका ज्ञानमई होजानेसे उनके सर्व ही योगों जो आस्रव होता है वह संसारवर्द्धक नहीं है। किन्तु मिथ्या-दृष्टी जीवोंकी भूमिका अज्ञानसे रंगी हुई होती है, इसलिये उनका कर्मास्रव संसारवर्द्धक सांपरायिक होता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे धर्मोपदेश सुनकर आत्मा अनात्माका विवेक प्राप्त करता है। आत्माको द्रव्य दृष्टिसे सिद्ध भग-वानके समान परम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा परमानन्दमय निर्विकार परम वीत-राग, अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, गुणपर्यायवान, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्या-त्मक जैसाका तैसा जानता है। और यह भी समझता है कि वचनोंसे उनका स्वरूप संकेत रूप भाव कहा जाता है। जब इंद्रियोंको व मनको रोककर आपसे आपमें ठहरा जाता है तब ही वह आत्मतत्व अपने अनुभवमें आजाता है। इस शिक्षाको गांठ बांधकर वह भद्र जीव नित्य दो घड़ी एकांतमें बैठकर आत्मा अनात्माका पृथक् पृथक् विचार करता है। इस भेदविज्ञानके अभ्याससे एक दिन वह सम्य-ग्दर्शन गुणका प्रकाश कर लेता है तब वह यथार्थमें स्वतंत्रतादेवीका दर्शन पाकर कृतकृत्य होजाता है। वह सांसारिक भूमिसे उल्लंघकर मोक्षभूमिमें चलने लगता है।

१०३–औदारिक काययोग।

ज्ञानी आत्मा इस बातकी पूर्ण ही उत्कंठा कर चुका है कि आत्माको स्वतंत्र कर देना चाहिये। स्वतंत्रताका बाधक आठ कर्मोका संयोग है। प्राचीन कर्म जो आत्मध्यानसे हटाये जा सकते हैं। परन्तु

नवीन कर्मोंके आनेको रोकनेके लिये उन कारणोंको जानना चाहिये जिनसे कर्मोंका आस्रव होता है।

पन्द्रह योगोंमें औदारिक काययोग भी है। औदारिक शरीरके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका सम्बन्ध होकर योगशक्ति द्वारा कर्मोंका ग्रहण होता है।

यह औदारिक काययोग निगोद एकेंद्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके, सर्व मानवोंके तेरहवें सयोग केवली जिन गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है। कपाय मिश्रित योग सांपरायिक आस्रव करता है। कषाय रहित योग केवल ईर्यापथ आस्रव करता है जिससे एक समयकी स्थितिवाले सातावेदनीय कर्मोंका ही आस्रव होता है।

मिथ्यादृष्टि मर्यादासक्त बहिरात्मा अज्ञानी जीवोंका अभिप्राय मलीन व विषयभोगोंकी तरफ झुका होता है। वे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओंसे बाधित होकर अपना हित साधन करते हैं। वहां आत्महित कुछ भी नहीं होता है, इसलिये कषाय सहित औदारिक योग कषायके प्रमाणसे स्थिति अनुभाग बंध कराता है।

सम्यग्दृष्टी जीवोंका भावानुराग स्वतंत्रताकी ओर होता है इससे वे संसार-भ्रमणकारी बंध नहीं करते हैं। वीतरागी सम्यग्दृष्टियोंके बुद्धिपूर्वक कषाय सहित औदारिक योग होता है जिससे अल्प बंध होता है। सराग सम्यग्दृष्टिके अशुभ शुभ दोनों ही उपयोग समान हैं। तदनुसार बंध होता है। मिथ्यात्व व अनंतानुबन्धी कषायके विना संसारका कारण बंध नहीं होता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे धर्मका उपदेश सुनकर संसारसे

भयभीत होजाते हैं और संसारनाशक औषधि एक मुख्य सम्यग्दर्शन है ऐसा समझकर उसकी प्राप्तिका यत्न करते हैं। भेद विज्ञान ही सम्यक्त होनेका उपाय है।

इसलिये वह प्रयत्न करके यह भावना निरन्तर करता है कि मैं आत्मा द्रव्य हूं, बिलकुल अकेला हूं, मेरा प्रदेश समूह अखण्ड है, मैं कभी बना नहीं, कभी बिगड़नेका नहीं। मेरा सम्बन्ध अनादिसे अनंतकाल तक मेरे ही ज्ञान, सुख, वीर्य, चारित्रादि गुणोंसे है। मैं इन गुणोंको पीये बैठा हूं, मैं वास्तवमें अपने गुणोंका अभेद पिंड हूं, मेरे साथ पुद्गलका कोई सम्बन्ध नहीं है। पुद्गलमय ही सर्व पांचों शरीर हैं। रागादि विकार पुद्गलकी कलुषता है। मैं पूर्ण वीतरागी व पूर्ण आनंदमय हूं। मुझसे सर्व अन्य आत्माएं व अन्य रूप पांचों द्रव्य निराले हैं। मैं तो स्वरूपसे परम शुद्ध हूं। मैं ही परम आत्मा हूं, इस तरह ध्याते २ एक दिन आता है जब वह सम्यक्ती होजाता है, तब जो आनन्दका अनुभव पाता है वह वचन अगोचर है। वह स्वतंत्र होनेका पूर्ण विश्वासी होजाता है।

१०४–औदारिक मिश्र काययोग।

ज्ञानी स्वतंत्रताका प्रेमी होकर उन सब कारणोंको विचारता है जिनके कारणसे यह संसारी जीव कर्मवर्गणाओंका आस्रव करके बंधनमें प्राप्त होता है।

१५ योगोंमें औदारिक मिश्र काययोग भी है। यह तिर्यंच व मानवोंको अपर्याप्त अवस्थामें चाहे एक श्वासके १८ वार जन्म मरण

करानेवाले लब्ध्यपर्याप्त अवस्थामें हो, चाहे शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने तक निर्वृत्य पर्याप्त अवस्थामें हो, प्राप्त होता है। एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक काल नहीं है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती समुद्घात केवलीको भी यह प्राप्त होता है। कार्मण शरीरसे मिश्रित औदारिक शरीरको मिश्र कहते हैं। उसके निमित्तसे आत्माके प्रदेश चंचल होकर योगशक्तिके परिणमन द्वारा कर्मोंका व नोकर्मोंका आस्रव होता है। कषायका उदय भी साथ साथ पहले दूसरे व चौथे गुणस्थानमें होनेपर सांपरायिक आस्रव होता है। केवलीके कषायका उदय न होनेपर ईर्यापथ आस्रव होता है। जिससे एक समयकी स्थितिरूप सातावेदनीय कर्मका ही आस्रव होता है।

मिथ्यादृष्टि जीवके अज्ञान व अनंतानुबंधी कषायकी भूमिका न होनेसे संसार कारणीभूत बंध होता है। सम्यग्दृष्टिके भीतर पूर्ण व यथार्थ तत्वज्ञान होता है व पूर्ण वैराग्य होता है। वह सिवाय निजात्म स्वरूप लाभके और किसी वस्तुको नहीं चाहता। उसका योग परिणमन कर्मोदयसे उसकी वांछा विना होता है अतएव वह अल्प स्थिति व अनुभाग सहित कर्मोंका बंध करता है।

भद्र मिथ्यादृष्टि जीव कर्मास्रवके निरोधका उपाय एक सम्यक्तका लाभ है ऐसा श्री गुरु परम दयालुसे सुनता है तब वह संसारके भ्रमणमें भयभीत होकर भेदविज्ञानकी भावना भाता है कि मैं द्रव्य दृष्टिसे सिद्ध भगवानके समान शुद्ध हूं। भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादिसे सर्वथा निराला हूं। मैं अनंतदर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य, अनंत सुख, परम शुद्ध चारित्र, परम शुद्ध

सम्यक्त आदि सर्व ही शुद्ध गुणोंका एक अमिट व अखंड भंडार हूं। इस प्रकारके सतत मननसे वह एक समयमें सम्यक्तबाधक कर्मोंका उपशमन करके सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश कर देता है, अंधकारसे प्रकाशमें आ जाता है, अतीन्द्रिय आनंदका भोग पाकर परम कृतार्थ हो जाता है।

१०५-वैक्रियिक काययोग।

ज्ञानी आत्मा परतंत्रताकारक कर्मबंधनोंके द्वारको रोकना चाहता है। नव योगोंमें वैक्रियिक काय योग भी है। देव व नारकी पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिक शरीरके आलम्बनसे अपने आत्माके प्रदेशोंको सकम्प करते हुए योग शक्तिकी प्रबलता या मंदताके अनुसार कर्म्म व नोकर्मवर्गणाओंको आकर्षण करके स्वयं अपने आत्माके बाधक बन्धनोंको दृढ़ करते हैं। जहां तक कषायोंका औदयिक भाव रहता है वहांतक कर्मोंका संचय होता है। सम्यग्दृष्टि देव व नारकी नहीं चाहते कि राग द्वेष करना पड़े। वे तो एक ज्ञान चेतनाके सुंदर वीतराग आसनपर निश्चित तिष्ठ करके परमानन्दका भोग करना चाहते हैं। सर्व सांसारिक पर्यायोंको वे तुच्छ, हेय, व अनर्थकारी देखते हैं। उनकी एक मात्र लौ सिद्ध पदवीपर रहती है। तथापि रोगी मानवको न चाहते हुए भी जैसे रोगकी वेदना सहना व उसका इलाज करना पड़ता है वैसे सम्यग्दृष्टी तत्वज्ञानियोंको न चाहते हुए भी कषाय रोगकी वेदना सहनी पड़ती है व उपाय करना पड़ता है। अतएव वैक्रियिक योगसे वर्तन करते हुए क्रीड़ादि करते हुए अल्प स्थिति व अनुभागको लिये हुए कर्मोंका बन्ध करते हैं।

जब कि मिथ्यादृष्टी देव विषयोंको पाकर परम सन्तोष मानते हैं। अनन्त रागी हो भोग करते हैं। इष्ट पदार्थके वियोगमें महान् शोक करते हैं। संसारासक्त होनेसे दीर्घ स्थिति व तीव्र अनुभागवाले पापकर्म बांधते हैं। नारकी मिथ्यादृष्टी विषयोंकी कामनासे रातदिन आतुर रहते हुए इष्ट वस्तु न पाकर संतापित रहते हैं व संक्लेश परिणामोंसे तीव्र कर्मबंध करते हैं।

भद्र मिथ्यादृष्टी, श्री० गुरुसे कर्मके छेदनको कुल्हाड़ीके समान प्रज्ञाकी प्राप्ति कर लेता है। एकांतमें बैठकर मनन करता है कि मैं तो केवल एक शुद्ध आत्म द्रव्य हूं। मैं ज्ञायक भी हूं, ज्ञेय भी हूं, मैं अपनी ही शुद्ध परिणतिका ही कर्ता हूं व अपने ही वीतराग विज्ञानमय धर्मसे प्रकाशित अपने ही अतीन्द्रिय आनन्दका भोक्ता हूं। मैं पुद्गलसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता हूं, अतएव ज्ञानावरणादि कर्म निराले हैं, शरीरादि नोकर्म निराले हैं, रागद्वेषादि भाव कर्म निराले हैं व सर्व अन्य आत्माएं व धर्माधर्माकाशकाल चार अमूर्तिक द्रव्य ये सब निराले हैं। इन्द्रियजन्य सुख असन्तोषकारी हैं, तृष्णावर्द्धक हैं, विषके समान त्याज्य हैं। ऐसी भावना करनेसे यह काललब्धिको पाकर अनंतानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्व कर्मका उपशम करके सम्यग्दृष्टी होजाता है, स्वतंत्रताका स्वामी बन जाता है, सिद्धपदको अपनेमें ही देखकर परम सन्तोषी होजाता है।

१०६–वैक्रियिक मिश्र काययोग।

ज्ञानी जीव कर्म-शत्रुओंके बाहर करनेका निश्चय कर चुका है।

उसके उपायोंको ध्यानमें लेते हुए उसका आगमन रोकना जरूरी है। कर्मोंके आस्रवके कारण ५७ आस्रव हैं। उनमें १५ योग भी हैं।

वैक्रियिक मिश्र काय योग भी देव व नारकियोंको निवृत्य पर्याप्त अवस्थामें आत्माके प्रदेशोंको सकम्प करानेमें निमित्त कारण है। जब आत्माके भीतर हलन चलन पैदा होती है तब योग शक्तिका काम होता है। वह शक्ति कर्मवर्गणाओं व नोकर्मवर्गणाओंको आकर्षण करती है। योगोंके साथ कषायोंकी कलुषता भी होती है। इससे स्थिति व अनुभाग बन्ध पड़ जाते हैं। सम्यग्दृष्टी देव व नारकियोंके भी इस प्रकारके योगसे कर्मोंका आस्रव होता है। उन ज्ञानियोंके भीतर पूर्ण सम्यग्ज्ञान व पूर्ण वैराग्य रहता है। उनकी भूमिका ज्ञान-चेतनासे निर्मापित है। वे निरन्तर इस धारणा ज्ञानसे विभूषित रहते हैं कि मैं तो एक केवल शुद्ध आत्मा द्रव्य हूं। मेरा सम्बन्ध न तो किसी जीवसे है न पुद्गलके किसी भी तरहके परमाणुसे है। वे असंयत गुणस्थान सम्बन्धी भावोंको रखते हुए मंद कषायके कारण अल्प स्थिति व अनुभागका बन्ध करते हैं। आत्माके स्वभावके घातक ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म हैं। इनका बन्ध बहुत थोड़ी स्थितिका व मन्द अनुभागका पड़ता है। वह सम्यग्दर्शन गुणके प्रकाशकी महिमा है।

मिथ्यादृष्टी देव नारकियोंको भी यह काय योग होता है। उनकी भूमिका अज्ञानचेतनासे मलीन है। वे निरन्तर कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतनामें फंसे रहते हैं। वे परमुखी होते हैं, प्राप्त पर्यायमें आसक्त होते हैं। इसलिये तीव्र कषायके कारण घातीय कर्मोंमें स्थिति

व अनुभाग अधिक प्राप्त करते हैं। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव किसी आत्मज्ञानी गुरुसे यह मंत्र सीख लेता है जिस मंत्रके मननसे मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबन्धी कषायका बल क्षीण किया जावे। यह एक भेदविज्ञान है। वह मुमुक्षु इसलिये नित्य ही एकांतमें बैठकर मनन करता है कि मैं तो एक शुद्ध आत्मा द्रव्य हूं। कार्मण, तैजस व औदारिक शरीरसे केवल संयोग सम्बन्ध है। रागादि विकार मोहनीय कर्मका मल है। मैं तो सिद्ध भगवानके समान शुद्ध हूं। सर्व ही परकृत भावोंसे शून्य हूं। ज्ञान, चारित्र व आनन्दका सागर हूं। इस तरह विना स्वरूपपर प्रेम करनेसे व पर स्वरूपसे उदास रहनेसे एक समय आजाता है कि जब सम्यक्त घातक कर्म दशांता है और सम्यक्त गुणका प्रकाश हो जाता है। स्वतंत्रताका बीज मिल जाता है।

१०७–आहारक काययोग।

ज्ञानी आत्मा पूर्ण स्वतंत्रताका चाहनेवाला है। परतंत्रताकारक कर्मबन्धनोंका सम्बन्ध बिलकुल नहीं चाहता है। उसको जैसे पापकर्म शत्रु दीखते हैं वैसे ही पुण्यकर्म। वह शुभ योगोंसे भी वैसे ही उदास है जैसे अशुभ योगोंसे। इन योगोंमें आहारक काय योग भी है। यह प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थानवर्ती साधुके उस समय होता है जब उसने आहारक ऋद्धिकी प्रगटताकारक पुण्य कर्मका बन्ध, सातवें व आठवें गुणस्थानमें कर लिया हो। इस शक्तिके प्रतापसे साधु एक हाथप्रमाण पुरुषाकार पुतला आहारक वर्गणाओंसे बनाता है, जो मस्तकसे आत्माके प्रदेशोंको लिये हुए फैलकर निकलता है। मूल शरीरको न छोड़ते हुए आत्माके प्रदेशोंकी डोरको

लिये हुए वह शरीर ढाईद्वीप भरमें किसी अरहंतके या श्रुतकेवलीके दर्शनार्थ जाता है। यदि कोई सूक्ष्मतत्व सम्बन्धी शंका होती है तो देखते ही मिट जाती है। इसकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है। यदि केवली या श्रुतकेवलीका समागम उस कालमें नहीं हुआ तो फिर दूसरा पुतला उससे बन जाता है। अंतर्मुहूर्तके भीतर वह लौटकर खिर जाता है। प्रदेश मूल शरीरप्रमाण होजाते हैं।

इस कालमें आहारक योग होता है। आहारक शरीरके निमित्तसे आत्माके प्रदेश सकम्प होते हैं। योगशक्ति तब कर्म व नोकर्मको ग्रहण करती है। घातीय कर्मोंका बन्ध तो इस पुण्यमय आहारक योगके समयमें भी होता है। सम्यग्दृष्टी जीव शुद्धात्माके अनुभवमें बाधक समझकर इस कर्मके बन्ध योग्य योग व कषायको भी नहीं चाहता है। यह मिथ्यादृष्टी जीव भी पूर्ण स्वतंत्रताका प्रेमी होकर श्री गुरुसे कर्मशक्ति दमनकारक मंत्र सीखकर उस मंत्रका वारवार मनन करता है कि मेरा आत्मा स्वभावसे पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यका धनी परम अमूर्तीक सर्व विकारी भावोंसे शून्य परम वीतराग है, सिद्धके समान है। यही ईश्वर परमात्मा परब्रह्म परम शान्त व परम शुद्ध सर्व पाप व पुण्यकर्मोसे अलिप्त है। सांसारिक इंद्रियजन्य सुख त्यागने योग्य है, व परम आत्मीक अतीन्द्रिय सुख ही ग्रहण योग्य है। इस शुद्ध भावनाके प्रतापसे वह सम्यग्दर्शनका प्रकाश पा लेता है, तब अपनेको कृतकृत्य समझकर परम संतोषी होजाता है, तबसे स्वतन्त्रताके पथपर चलकर उन्नतिशील रहता है व सदा ही आनन्दका अनुभव करता है।

१०८–आहारक मिश्रकाययोग ।

ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि आत्माकी स्वतंत्रता यद्यपि आत्माहीके पास है तथापि जबतक इसके साथ पर पदार्थका संयोग है तबतक स्वतंत्रताके विकासमें भारी बाधा खड़ी हो रही है। कर्म-पुद्गलोंमें भी अचिंत्य शक्ति है। संसार अवस्थामें कर्म व आत्माका परस्पर ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि कर्मके फलसे आत्माके भाव विगड़ जाते हैं व भावोंके विकारसे कर्म बन्ध जाते हैं, जो उदयमें आकर कटुक फल प्रगट करते हैं। पुरुषार्थके द्वारा कर्मके बलको घटाया जा सकता है। व कर्मके बंधके कारणोंको रोका जा सकता है।

कर्मोंके आस्रवके कारण १५ प्रकारके योग हैं उन्हींमें एक आहार मिश्रकाय योग है। आहारक रिद्धिधारी प्रमत्त संयमी साधु जब आहारक शरीर बनाते हैं उसके बननेमें कुछ काल एक अन्तर्मुहूर्त लगता है। उतनी देर तक आहारक मिश्रकाय योग होता है। आहारकके साथ औदारिक मिश्रण होता है। जब तक आहारक शरीर न बने इस मिश्रकायके द्वारा आत्माके प्रदेश सकंप होते हैं तब योगशक्ति काम करती है। कर्म व नोकर्मवर्गणाओंको खींचती है। इस समय शुभोपयोग होनेसे कर्मका बन्ध भी साधुके होता है। अघातीयमें पुण्य प्रकृति व घातीयमें पाप प्रकृतियोंका बन्ध होता है। यह भी योग परतंत्रताका कारण है. इसलिये त्यागने योग्य है। आत्माकी स्वतंत्रता निश्चल स्वभावमें रहकर निजात्मानंदका उपभोग है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरुके द्वारा बंध व मोक्षके स्वरूपको

समझकर बंधसे उदासीन व मोक्षसे प्रेमालु होजाता है। तब यह श्रीगुरुसे बंधके निरोधका व बन्धके छेदका उपाय सीख लेता है। वह उपाय यही है कि भेदज्ञानपूर्वक अपने ही आत्माका मनन किया जावे व नित्य एकांतमें बैठकर विचारा जावे कि मेरा आत्मा एक निराला सत् पदार्थ है। अपने ही शुद्ध गुणोंका व अपनी ही शुद्ध पर्यायोंका समूह है। यह अपने गुणोंसे अभेद है। इसके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण इसकी अपूर्व महिमाको झलकाते हैं। मैं सदा ही शुद्ध हूं, एक हूं, परम वीतरागी हूं। यही भावना सम्यक्त घातक कर्मका रस सुखाती है और एक समय आता है जब सम्यक्त गुण प्रगट कराकर आत्माको स्वतंत्र पथगामी बना देती है।

१०९–कार्मण काययोग।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वतंत्रताको पानेके लिये परतंत्रताकारक कार्योंके आस्रवसे अपनेको बचाना चाहता है। इसलिये आस्रवके कारणोंका विचार करता है। १५ योगोंमें कार्मण योग भी है। कार्मण शरीरके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंके सम्यक्त होनेको कार्मण योग कहते हैं। तब योगशक्ति कर्मोंको व तेजस वर्गणाओंको विग्रह गतिमें आकर्षण करती है। केवली भगवान जब केवल समुद्घात करते हैं तब प्रतर द्वय और लोकपूर्ण तीन समय तक कार्मण योग रहता है। केवलीके कषायोंका उदय नहीं है, इससे ईर्यापथ आस्रव होता है। विग्रह गतिमें मिथ्यात्व, सासादन व अविरत सम्यक्त ऐसा पहला दूसरा व चौथा गुणस्थान होता है, तब जिन कषाय सहित

परिणामोंको लिये हुए जीव होते हैं उन परिणामोंसे कर्मोंका आस्रव होता है । रागद्वेष मोह भावकी चिकनई जबतक है तबतक कर्मोंका बन्ध हुआ करता है, परतंत्रताका जाल बनता रहता है ।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानीके भीतर मिथ्यादर्शनका मैल नहीं होता है, इससे उसका मोक्षमार्गसे गमन रुकता नहीं है । मिथ्यादृष्टीका संसार बढ़ता जाता है ।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरुसे कर्मास्रव निरोधक व कर्मछेदक मंत्र सीख लेता है । उसका नित्य मनन करता है । वह मंत्र यही है कि आत्माका स्वभाव निश्चयसे परम शुद्ध, ज्ञानदर्शनगुणोंसे पूर्ण, परम वीतराग, परमानंदमय, अधिकारी है । इसके साथ पुद्गलका संयोग सम्बन्ध होने हुए भी जैसे धान्यसे चावल अलग है, तिलकी भूसीसे तेल अलग है, सुवर्णसे रजत अलग है, काष्ठसे अग्नि अलग है, पानीसे दूध अलग है, इसी तरह आत्माका स्वभाव पुद्गलसे व रागद्वेषमई विकारोंसे व सर्व प्रकारके गुणस्थानादिसे अलग है । जो कोई इस आत्माके स्वभावका वारवार मनन करता है, आत्माका परम प्रेमी हो जाता है । संसारसे उदास हो जाता है । वह मन्द कषायसे प्राप्त विशुद्धताके बलसे अनन्तानुबंधी कषाय व मिथ्यात्वका बल घटाते घटाते एक दिन उनका शमन करके सम्यग्दृष्टी होजाता है तब अपनेको परम कृतार्थ समझकर सन्तोषी हो जाता है और सच्चा सुख पैदा करता है ।

११०-प्रकृति बन्ध।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताकी प्राप्तिका प्रेमी होकर कर्मोंके आस्रव द्वारा कोई विचार करके उनसे उदास होगया है। मिथ्यात्व पांच प्रकार, अविरति बारह प्रकार, कषाय पच्चीस प्रकार, योग १५ प्रकार। इस तरह ५७ आस्रव द्वार हैं। ये ही कर्मबन्धके भी कारण हैं। भावास्रव व भावबन्धमें कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि जो समय कर्मोंके आस्रवका है वही समय कर्मोंके बन्धका है। जिस गुणस्थानमें जहांतक बंध है व बन्ध व्युच्छित्ति है वहींतक आस्रव है व आस्रव व्युच्छित्ति है। आगे पीछेका समय नहीं है।

जिस समय कर्मवर्गणाएं खिचकर बंधती हैं, तब चार प्रकारका बंध एकसाथ होता है। कर्मोंमें प्रकृति या स्वभावका प्रगट होना प्रकृति बन्ध है। कितने काल तक उनकी कर्मरूप प्रकृति बनी रहेगी सो स्थितिबन्ध है। कर्मोंके भीतर तीव्र या मंद फल दान शक्ति पाना अनुभाग बंध है। किस कर्म प्रकृतिकी कितनी कर्म वर्गणाएं बंधीं सो प्रदेश बन्ध है। प्रकृतिबन्धमें मूल आठ प्रकारका स्वभाव विचारना चाहिये। चार स्वभाव तो ऐसे हैं जो आत्माके गुणोंको ढकते हैं, प्रगट नहीं होने देते। उन कर्मप्रकृतियोंको घातीय कर्मप्रकृति कहते हैं। चार स्वभाव आत्माके गुणोंको विकारी नहीं बनाते हैं परन्तु आत्माके लिये बाहरी सामग्री शरीरादिका संबन्ध अच्छा या बुरा मिलाते हैं. उनको अघातीय कर्मप्रकृति कहते हैं।

ज्ञानको ढकनेवाला ज्ञानावरण कर्म है। दर्शनको ढकनेवाला दर्शनावरण कर्म है। सम्यग्दर्शन या आत्मप्रतीति या वीतराग चारित्रको

रोकनेवाला मोहनीयकर्म है। आत्माके अनंत बलको ढकनेवाला अन्तरायकर्म है। ये ही चार घातीयकर्म हैं। जितना उनका पर्दा हटा होता है उतना आत्मीक गुण प्रगट रहता है। स्थूल शरीरमें कैद रहनेवाला आयुकर्म है। शरीरकी रचना बनानेवाला नामकर्म है। किसी कुलमें डालनेवाला गोत्रकर्म है। साता व असाताकारी पदार्थका लाभ करनेवाला वेदनीयकर्म है।

इन मूल प्रकृतियोंके द्वारा ही संसारी जीव भवभ्रमणमें कष्ट उठाते रहते हैं। इनके बंधका मूल प्रबल हेतु मिथ्यात्व भाव है। इसलिये भद्र मिथ्यादृष्टि जीव भेद विज्ञानके द्वारा अपने आत्माको बिलकुल एकाकी शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी, परमात्मा रूप, परमानंद-मय ध्याता है। बारबार आत्माके मननसे मिथ्यात्वका व चार अनंता-नुबन्धी कषायोंका बल क्षीण होता है और यकायक सम्यग्दर्शन ज्योतिका प्रकाश हो जाता है तब उस ज्ञानीको आत्माका साक्षात्कार हुआ करता है। वह स्वतंत्रताका यात्री होजाता है।

१११–स्थितिबंध।

ज्ञानी आत्मा परतंत्रता कारक बंधका स्वरूप विचार रहा है। स्थिति बंध उस कालकी मर्यादाको कहते हैं जो कर्म प्रकृतियोंमें प्रकृति रूप बने रहनेको होता है। जब कालकी स्थिति समाप्त होजाती है तब वह बंध प्राप्त कर्म अपनी प्रकृतिके स्वभावको छोड़कर केवल अबंध कर्मवर्गणाओंके रूपमें ही रह जाते हैं।

एक समय कभी आठों कर्मोंका, कभी आयु विना सात कर्मोंका

बन्ध नौमें गुणस्थान तक होता है। हरएक समय जितनी मूल व उत्तर प्रकृतियोंका बन्ध होता है उनके लिये कर्मवर्गणाओंकी संख्या नियत होती है। योगोंके द्वारा कम व अधिक वर्गणाएं आकर्षित होकर आती हैं। जिस कर्म प्रकृतिकी जितनी वर्गणाएं बन्धती हैं उनमें कषायोंकी तीव्रता व मंदताके अनुसार स्थिति पड़ती है। उस स्थितिके अनुरूप आबाधाकाल होता है। एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिपर सौ वर्षका आबाधाकाल होता है। इसी हिसाबसे कम-स्थितिका कम व अधिक स्थितिका अधिक आबाधाकाल होता है। आबाधाकाल पकनेके कालको कहते हैं। तब तक बन्ध प्राप्त कोई वर्गणाएं नहीं गिरतीं। आबाधाकालके पूरे होनेपर आबाधाकाल रहित जितनी स्थिति बन्धती है उस स्थितिके समयोंमें वर्गणाएं बंट जाती हैं। पहले अधिक फिर कम कम होते हुए अंतिम स्थितिके समयमें सबसे कम वर्गणाएं झड़ती हैं। इसलिये अंतिम समयमें झड़नेवाली वर्गणाओंकी स्थिति बन्धके समय उतनी पड़ती है। पहले झड़नेवाली वर्गणाओंकी एक एक समय कम मर्यादा समझनी चाहिये। यदि कोई परिवर्तन न हो तो स्थितिके समयोंमें बंटवारेके अनुसार वर्गणाएं गिरती रहेंगी। अनुकूल सामग्री होनेपर फल देकर नहीं तो विना फल दिये झड़ेंगी।

आयुकर्मके सिवाय सातों ही कर्मोंमें कषायकी तीव्रतासे अधिक व मंदतासे कम स्थिति पड़ती है, चाहे पुण्य प्रकृति हो या पाप प्रकृति हो। आयुकर्मका हिसाब यह है कि नर्क आयुकी स्थिति तीव्र कषायसे अधिक व मन्द कषायसे कम पड़ती है। परन्तु तिर्यंच,

मनुष्य व देव आयुकी स्थिति मंद कषायसे अधिक व तीव्र कषायसे कम पड़ती है । कषाय भावोंके ही कारण कर्मोंका ठहरना होता है । कषाय ही स्थितिबंधके लिये निमित्त कारण है ।

कषाय रहित जीवोंके न ठहरनेवाला ईर्यापथ आस्रव होता है । कषाय आत्माके शत्रु हैं ।

भद्र मिथ्यादृष्टीको श्री गुरुके प्रतापसे कषाय व मानका उपाय हाथ लग जाता है । वह भेदविज्ञानके द्वारा अपने आत्माको शुद्ध, निष्कषाय, परमानंदमय द्रव्य मानकर निरन्तर मनन करता है । शुभ अशुभ सर्व मंद व तीव्र कषायके भावोंको कर्म विकार समझकर उनसे वैरागी होजाता है। इसी आत्ममननसे वह एक सम्यग्दर्शनको पाकर परम कृतार्थ होजाता है, स्वतंत्रताका द्वार खोल लेता है ।

११२–अनुभाग बन्ध ।

ज्ञानी आत्मा परतंत्रताकारक कारणोंका वार वार विचार करके उनसे बचनेकी भावना करता है ।

चार प्रकार बंधमें जो एक ही साथ योग और कषायोंके अनुसार होता है । अनुभाग बंध उसे कहते हैं जिससे बंधती हुई कर्मवर्गणाओंमें तीव्र या मंद फलदान शक्ति पड़ती है । जैसे चावल पकते हुए अपने भीतर तीव्र या मंद स्वाद रखते हैं । कषायोंके भीतर जिन अंशोंसे स्थिति पड़ती है उनको स्थितिबन्ध अध्यवसाय स्थान कहते हैं। जिन कषायोंके अंशोंसे उन कर्मोंमें रस पड़ता है उनको अनुबन्ध अध्यवसान कहते हैं । घातीय चार कर्मोंमें रस प्रदानके

चार दृष्टांत हैं—लता रूप अर्थात् मंदतर, दारु या काष्ट रूप अर्थात् मंद, अस्थि या हड्डी रूप या तीव्र, पाषाण रूप अर्थात् तीव्रतर। अघातीय पाप प्रकृतियोंमें रस प्रदानके भी चार उदाहरण हैं। नीम, कांजीर, विष, हालाहलके समान मंदतर, मंद, तीव्र, तीव्रतर कटुक।

अघातिय पुण्य प्रकृतियोंमें रसके चार दृष्टांत हैं। गुड़, खांड, शक्कर व अमृतके समान मंदतर, मंद, तीव्र, तीव्रतर, मिष्ठ।

जिन वर्गणाओंमें जैसा रस पड़ता है वैसा उनका अच्छा या बुरा फल प्रगट होता है। मंद कषायोंके होनेपर घातीय चार कर्मोंमें और अघातीय पापरूप कर्मोंमें मंद अनुभाग व तीव्र कषायोंके होनेपर उनमें तीव्र अनुभाग पड़ता है। किन्तु अघातीय पुण्य रूप कर्मोंमें मन्द कषायोंके निमित्त होनेपर तीव्र व तीव्र कषायोंके द्वारा मंद अनुभाग पड़ता है। कषायोंका दमन ही बन्ध छेदका व बंधके निरोधका एक मात्र उपाय है।

जैसे तप्त शरीर शीतल जलके भीतर अवगाह पानेसे शांत हो जाता है वैसे कषायाविष्ट जीव परम शांत आत्माके स्वभावके भीतर मगन होनेसे शांत व वीतराग होजाता है। यही वीतराग परिणत सत्तामें बैठे कर्मोंकी शक्तिको बदल देती है। इसलिये भद्र मिथ्यादृष्टि जीव एकान्तमें बैठकर एकमात्र शुद्ध नयके द्वारा अपने आत्माको निरंजन, निर्विकार, परमानन्दमय, ज्ञातादृष्टा, शुद्ध ज्ञाता है। इसी भावनामें निरत होनेसे वह अपने सम्यक्त गुणका प्रकाश पा लेता है। आत्मानुभवकी कला मिल जाती है, स्वतन्त्र होनेकी युक्ति हाथमें आजाती है। वह अपनेको कृतार्थ मानके परम सन्तोषी होजाता है।

११३–प्रदेश बंध ।

ज्ञानी आत्मा परतंत्रताके निवारणके लिये कर्मबंधसे बचनेकी भावना भाता है। चार प्रकारके बंधमें प्रदेश बंध भी है। आत्माके प्रदेशोंमें सर्वत्र पूर्व बंधे हुए कर्मोंका संयोग कार्मण शरीर रूपमें रहता है। यह कार्मण शरीर सर्व आत्माके प्रदेशोंमें व्याप्त रहता है। नये कर्मोंका बंध इस ही कार्मण शरीरके साथ होजाता है। जितनी कर्म-वर्गणाओंका बंध होता है उस संख्याकी नियुक्तिको प्रदेश बंध कहते हैं।

एक समयप्रबद्ध मात्र कर्मवर्गणाएं समय २ आती हैं। वे संख्यामें अनन्त होती हैं। अनन्तके अनन्त भेद होते हैं। योगशक्तिके मन्द होनेसे समयप्रबद्ध कम संख्याका व योगशक्तिके तीव्र होनेपर समय प्रबद्ध अधिक संख्याका आता है। निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव कर्मवर्गणाओंको ग्रहण करता है। एक ध्यानारूढ़ योगी साधुके योगबल अधिक होता है तब उसके अधिक संख्याका समय प्रबद्ध बन्धता है। एक समयमें बांधे हुए कर्म आठ मूल कर्मोंमें या कभी सात मूल कर्मोंमें बैठ जाते हैं।

यदि आठ कर्मोंका बन्ध हो तो सबसे अधिक बंटवारा वेदनीय कर्ममें आएगा। उससे कम मोहनीय कर्ममें। उससे कम ज्ञानावरणमें। उतना ही दर्शनावरणमें। उससे कम अन्तराय कर्ममें। उससे कम गोत्रकर्ममें। उतना ही नाम कर्ममें। सबसे कम आयु कर्ममें बंट-वारा जायगा।

गोम्मटसार कर्मकांडमें प्रदेश बंधका जानने योग्य वर्णन लिखा है। कर्म प्रकृति बांधनेवाले अधिक कर्मोंका संचय करते हैं। अधिक

प्रकृति बांधनेवाले अधिक। क्योंकि उनके योगशक्ति हीन होती है। योगोंका काम तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान तक होता है। वहांपर अनंत कर्मवर्गणाएं आती हैं। परन्तु एक समय पीछे झड़ जाती है।

बन्ध हानिकारक ही है ऐसा विचार कर भद्र मिथ्यादृष्टी जीव बंधके नाशका मंत्र श्री गुरुसे सीख लेता है। वह मंत्र मात्र एक भेदविज्ञान है। मैं एक आत्मा अखंड, अविनाशी, पूर्णज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्रादि शुद्ध गुणोंका स्वामी हूं। मैं ही परमेश्वर, परमात्मा, परम निरञ्जन, प्रभु, परम शांत परम कृतकृत्य, परभावका अकर्ता व अभोक्ता हूं। मैं आठों कर्मोंसे व राग द्वेषादि भावकर्मोंसे व शरीरादि नोकर्मोंसे बिलकुल निराला हूं।

इस तरह जो अपने आत्माका मनन करता है उसका दर्शन-मोह क्षीण होने लगता है। वह कषायोंका रस सुखाता है। यह एक दिन सम्यग्दर्शनको पाकर मोक्षमार्गी होजाता है। तब स्वतंत्रताका पथ साक्षात्कार कर लेता है। जो मात्र एक शुद्धात्मानुभव रूप है, यही परमानंद पद परम हितकारी है। जो इसे पाता है वही परम धनी हो जाता है।

११४—सम्यग्दर्शन संवरभाव।

स्वतंत्रता प्रेमी स्वतंत्र होनेका उपाय विचार करता है। कर्मोंके आस्रव व बन्धके सम्बन्धमें मनन करके अब यहां संवरका विचार करता है। जिन भावोंसे कर्मोंका आस्रव व बंध रुकता है, उन भावोंको संवर भाव कहते हैं। उस भाव संवरसे जिन कर्म प्रकृतियोंका

आस्रव व बंध रुकता है उनके रुकनेको द्रव्य संवर कहते हैं । सबसे महान संवर भाव एक सम्यग्दर्शन है । यह आत्माका भिन्न गुण है । यह एक ही प्रकारका है परन्तु मलीनता व शिथिलताकी अपेक्षा इस सम्यक्तके तीन भेद है । परम निर्मल क्षायिक सम्यक्त है, जहां सम्यक्त विरोधी चार अनन्तानुबन्धी कषायका व दर्शन मोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंका कर्मद्रव्य सत्तामेंसे निकल जाता है । उपशम सम्यक्त निर्मल तो है परन्तु शिथिल है । यहां सातों प्रकृतियोंका उपशम केवल एक अन्तर्मूहूर्त मात्र रहता है । फिर उज्वलता कम होजाती है या बिलकुल जाती रहती है । तीसरा क्षयोपशम या वेदक सम्यक्त है । यहां छः प्रकृतियोंका उदय नहीं होता है किन्तु एक सम्यक्त मोहनीयका उदय होता है जिससे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टीप्रशंसा अन्य दृष्टि संस्तव ऐसे पांच तरहके अतीचार लगते हैं । तीनों ही प्रकारके सम्यक्त चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानमें होसकते हैं । इस सम्यक्तकी ज्योतिके प्रकाशसे ज्ञानीको अपना आत्मा सदा ही शुद्ध व मुक्त अनुभवमें आता है ।

वह ज्ञानी जगतके कर्मोंका व कर्मके उदयका साक्षीभूत रहता है। मन वचन कायकी किसी भी क्रियाका स्वामी अपनेको नहीं मानता है । वह जब चाहे तब आत्मस्थ होकर आत्मानन्दका स्वाद लेता रहता है, भीतरसे परम वैरागी होता है, चारित्रमोहनीय कर्मके उदयवश व्यवहार कार्य करता है । भावना यह रहती है कि कब वह कर्मरोग मिटे, कब मैं कर्मके विषयभोगसे छूटूं । ऐसा भावधारी गृहस्थ युद्ध व विषयभोग व नीति कार्य करता हुआ भी ऐसा महात्मा

होता है कि अपनी भीतरी भूमिकामें ४६ कर्म प्रकृतियोंको नहीं आने देता है। बन्ध योग्य १४८ मेंसे १२० प्रकृति गिनी गई हैं। क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्तमोहनीय दोका ही बन्ध नहीं होता है। पांच बन्धन, पांच संघात पांच शरीरोंमें गर्भित हैं। बीस वर्णादिमें चार गिने जाते हैं, सोलह नहीं। इसतरह २८ घटाकर १२० बन्धमें रह जाती हैं। सम्यक्ती ४१ प्रकृतियोंका बन्ध नहीं करता है। १ मिथ्यात्व + ४ अनन्ता०कषाय + सम० सिवाय ५ पांच संस्थान + वज्रवृषभ नाराच संहनन सिवाय ५ पांच संहनन + ४ जाति एकेन्द्रिसे चौइंद्रिय तक + २ षंड० व स्त्री वेद + ३ स्त्यानगृद्धि आदि निद्रा + १ स्थावर + १ सूक्ष्म + १ साधारण + १ अपर्याप्त + २ नरकगति व गत्या० + २ तिर्यंच गति व गत्या० + २ नारक व तिर्यंच आयु + १ दुर्भग + १ दुस्वर + १ अनादेय + १ उद्योत + १ आताप + १ नीच गोत्र + १ अप्रशस्त विहायोगति = ४१। आहारक २ का बंध यहां नहीं होता तब १२०—४३=७७ प्रकृतियोंका बंध ही होता है। यह कथन नाना जीवोंकी अपेक्षासे है। एक जीवकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानमें ६४, ६५ या ६६ का बंध होगा। ५ ज्ञान + ६ दर्शन + १ वेदनीय + १७ मोहनीय + १ आयु + १ गोत्र + ५ अंतराय + नामकी २८, २९ या ३० = ६४, ६५ या ६६।

यह सम्यक्ती कुगतिको नहीं बांधता है। धन्य है सम्यक्त जिसके प्रतापसे आस्रवका विरोध होता है और अपने आत्मप्रभुका दर्शन अपने देह—मंदिरमें सदा होता है। यह सम्यक्ती परम सन्तोषी रहता है। यह मुक्ति—कन्याका मुख सदा देखकर प्रसन्न रहता है।

११५–देशविरत संवर भाव ।

ज्ञानी आत्मा संवर तत्वका विचार कर रहा है। दूसरा संवरभाव देशविरत है। यहां पांचवें गुणस्थानमें श्रावक होकर बाहरी पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतोंको पालता है व व्यवहार चारित्रका विभाग दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्ताहार त्याग, रात्रि–भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग, इन ग्यारह प्रतिमाओंमें या श्रेणियोंमें करके यथाशक्ति पालता है। इस सब चारित्रको केवल निमित्त कारण मानता है।

उपादान साधन एक आत्मानुभवको ही झलकाता है। इसलिये उसका अभ्यास बढ़ाता है। इस गुणस्थानमें १० प्रकृतियोंका संवर कर देता है। अप्रत्याख्यान चार कषाय + वज्रवृषभ नाराच संहनन + औदारिक शरीर + औ० अंगोपांग + मनुष्यायु + मनुष्यगति + मनुष्य + गत्यानुयोग = १० ।

चौथे गुणस्थानमें ७७ का बन्ध होता था, यहां केवल ६७का ही होता है। यह बंध नाना जीवापेक्षा है। एक जीवकी अपेक्षा देश-विरत भावधारी मनुष्य या तिर्यंच ६० या ६१ का ही बन्ध करता है। अर्थात् ज्ञा० ५ + दर्शन ६ + वेदनीय १ + मोहनीय २३ + आयु १ + नाम कर्मकी २८ या २९ + गोत्र १ + अन्तराय ५ = ६० या ६१ ।

वास्तवमें जितना मोह कर्मका उदय है वह औदयिक भाव ही बन्धका कारण है। संवर भाव तो वह निर्मलता है जो रत्नत्रय धर्मके अभ्याससे प्राप्त है। स्वानुभवकी ज्योति ही संवर तत्व है। उसके

आलंबनसे ही यह श्रावक मोक्षमार्गी होरहा है। यह बड़ा उद्योगी है। सविकल्प ध्यानसे निर्विकल्प ध्यानमें चढ़ता रहता है। यह मनन करता है कि मैं एकाकी शुद्ध आत्मा द्रव्य हूं, मेरा संयोग किसी परद्रव्यसे नहीं है। न ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे न शरीरादि नोकर्मोंसे न रागादि भाव कर्मोंसे कोई सम्बन्ध है। मैं ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि अपनेसे न कभी छूटनेवाले गुणोंका अटूट व अत्यंत भण्डार हूं, परम कृतकृत्य हूं, अपने ही आत्माकी शुद्ध परिणतिका कर्ता हूं व शुद्ध अतींद्रिय आनंदका भोक्ता हूं। इस तरह मनन करते हुए वह यकायक एक अद्भुत अनिर्वचनीय आत्माके क्रीड़ावनमें पहुंच जाता है। वहां ऐसा गुप्त होजाता है कि जगतका कोई व्यवहार व मन, वचन, कायका वर्तन उसका पता ही नहीं पा सकते। यह सुखसागरमें मानो मगन होकर परम संतोषी हो जाता है।

११६–प्रमत्तविरत संवर भाव।

ज्ञानी संवर तत्वका विचार करता है और यह जानता है कि एक वीतराग भाव ही संवरका कारण है। यह वीतराग भाव तब ही प्राप्त होता है जब कि आत्मा पर भावोंसे उदासीन होकर निजी आत्माके शुद्ध भावमें लीन होता है, स्वानुभव प्राप्त करता है। यह स्वानुभव अविरत सम्यक्त चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होकर बढ़ता जाता है। देशविरतमें श्रावकके योग्य स्वानुभव था। छठे प्रमत्तविरत गुणस्थानमें प्रत्याख्यान चार कषायोंका भी उदय नहीं है, इसमें वीतरागताका अंश अधिक है। पांचवेंमें ६७ प्रकृतियोंका आस्रव था। यहां चार

प्रत्याख्यान कषायका आस्रव बंद होजाता है। केवल ६३ प्रकृतियोंका ही आस्रव होता है, यह नाना जीवोंकी अपेक्षासे है । एक जीवकी अपेक्षासे उस साधुके–ज्ञा० ५ + दर्श० ६ + वेदनीय १ + मोह ९ + आयु १ + नाम २८ या २९ + गोत्र १ + अंत० ५=५६ या ५७ प्रकृतियोंका ही आस्रव होता है। १२०–५९=६३ का बिलकुल नहीं होता है, ६१ का संवर है। यद्यपि ५६ का या ५७ का आस्रव है, तथापि जब वह साधु ध्यानमग्न होकर स्वानुभवमें होता है तब मंद अनुभाग व स्थितिको लिये घातीय कर्मोंको व तीव्र अनुभाग लिये अल्पस्थिति लिये अघातीय पुण्य प्रकृतियोंको बांधता है। शेष कालमें प्रकृतिके समय बंध अधिक स्थिति व अनुभागका होता है, पुरानेमें अनुभाग कम पड़ता है।

ज्ञानी संवर तत्वका विचार करता हुआ यह भले प्रकार जानता है कि जहां आत्मा आत्मारूप परिणमन करता है वहां ही वास्तवमें संवर तत्व है। आत्माके मननसे आत्मा आत्मारूप होजाता है।

आत्मा अपनी सत्ता आदिसे रखता है। यह किसीसे बना नहीं इसलिये यह कार्य नहीं है। यह किसी द्रव्यको उत्पन्न नहीं करता है इसलिये यह कारण भी नहीं है। यह हरएक उच्च आत्मासे, सर्व पुद्गलके भेदोंसे, आकाशसे, धर्मास्तिकायसे, अधर्मास्तिकायसे व असंख्यात कालाणुओंसे व कर्मकृत होनेवाले अपने भीतर रागादि विकारोंसे बिलकुल भिन्न है यह ज्ञायक पदार्थ है। सूर्यके समान स्वपर प्रकाशक है, चन्द्रमाके समान परम शांत है व आनन्दामृतका वर्षानेवाला है, आकाश समान असंग है व अग्निके समान तेजस्वी

है व पृथ्वीके समान परम क्षमावान हैं, स्फटिकमणिके समान स्वच्छ हैं, दर्पणके समान निर्विकार है। यही परमेश्वर है। यही परमात्मा है, ऐसा ध्यानमें लेकर जो जिसको ध्याता है वह परम संतोषी होकर निरंतर आनंदका स्वाद पाता है। बंध व मोक्षकी कल्पनासे रहित होकर स्वरूप-गुप्त रहता है।

११७–अप्रमत्तविरत संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताके लाभके लिये संवरके कारणोंका विचार करता है। वह जानता है कि जहांतक कर्मोंका संबन्ध है वहांतक आत्मा स्वतंत्र नहीं है। प्रमत्तविरत भावमें १२० कर्मोंमेंसे ६३का आस्रव होता था। सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें संज्वलन कषायके मंद उदयसे विशुद्धता व वीतरागता बढ़ गई है। इस कारण यहां अस्थिर, अशुभ, अयश, असाता, अरति, शोक, इन ६ का आस्रव नहीं होता परन्तु आहारक शरीर व अंगोपांग कर्मोंका आस्रव होता है। एक कषायकी अपेक्षा ज्ञाना० ५ + दर्श० ६ + वेदनीय १ + मोहनीय ९ नाम २८ या २९ या ३० या ३१ + गोत्र १ + अन्तराय ५ + आयु १=५६, ५७, ५८, ५९ का आस्रव होता है। १२० मेंसे ६१ का नहीं होता है।

स्वस्थान अप्रमत्तसे प्रमत्तमें व प्रमत्तसे स्वस्थानमें वारवार गमनागमन होता है। यह साधु इस अप्रमत्त भावसे प्रमाद रहित ध्यानस्थ रहता है।

भेदविज्ञानके प्रतापसे यह अपने आत्माको बिलकुल निराला

परम शुद्ध रागादि रहित, अखण्ड, ज्ञानानंदमय मनन करता है। यहां स्वसंवेदन ज्ञान होता है।

आपसे आपको आपके द्वारा वेदन करता है। यहां कोई बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं होते हैं। यह ध्याता अपने उपयोगको अपने ही आत्मामें ऐसा मग्न कर देता है कि ध्याता ध्येयका भेद नहीं रहता है। लवणकी डली जैसे पानीमें घुल जाती है वैसे यह स्वानुभवमें एकतान होजाता है। जबतक इस संवर भावमें रहता है तबतक अतींद्रिय आनन्दका अमृतपान करता है। यह परम निष्काम है। माया, मिथ्या, निदान शल्यसे रहित सच्चा निर्ग्रन्थ साधु है। अपनेको असंग, निरंजन, निर्लेप ही स्वादमें लेता है। इसको शुद्ध आत्माका निर्मल स्वाद आता है। यह मोक्षका मार्गी होकर भी मोक्षरूप ही मानो होरहा है।

इसको गाढ़ निश्चय है कि यह स्वयं परमात्मा व परमेश्वर है। यहां मन थिर है, वचन मौन हैं, काय थिर है। एक अकेला आत्मा ही नाम रहित लिंग रहित, कारक रहित, चिन्तवन रहित, जैसाका तैसा स्वादमें आरहा है। धन्य है स्वानुभव, यही संवर तत्व है, इसीका स्वामी परम रत्नत्रय विधिका साथी है, परम संतोषी है।

११८—अपूर्वकरण संवर भाव।

ज्ञानी स्वतंत्रताके लाभके लिये कर्मोंकी संगतिसे बचना चाहता है। इसलिये संवरतत्वका विचार करता है। अप्रमत्तविरत संवरभावमें १२० मेंसे ५९ प्रकृतियोंका ही आस्रव रह गया था। अब यह साधु उपशम या क्षपकश्रेणिपर चढकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान-

पर आगया है। समय २ परिणामोंकी अनन्तगुणी विशुद्धि करता जाता है। यहां देवायुका आस्रव बन्द होजाता है तब केवल ५८ का आस्रव नाना जीवोंकी अपेक्षासे होता है। एक जीवकी अपेक्षा ज्ञान० ५ + दर्श० ६ या ४ + वेदनीय १ + मोहनीय ९ + नाम २८, २९, ३०, ३१, या १ + गोत्र १ + अंत० ५ = ५५, ५६, ५७, ५८ या २६ अपूर्वकरणके प्रथम भाग तक दर्शनमें निद्रा या प्रचलाका बन्ध होता है, शेप भागोंमें २ घट जायगी।

जितनी २ कषायकी मंदता आत्मध्यानके प्रतापसे होती है उतना २ ही संवर भाव बढता जाता है। यहां ज्ञानावरणादि पाप प्रकृतियोंमें अनुभाग बहुत कम पड़ता है, स्थिति तो सर्व ही कर्मोंमें कम पड़ती है। यहां ध्याता शुक्ल ध्यानके प्रथम भेदको प्राप्त कर चुका है। शुद्ध भावमें लीन है। ध्याता बिलकुल आत्मस्थ है। अबुद्धिपूर्वक उपयोगका पलटना होता है, इसलिये आत्म द्रव्य ध्येयसे ज्ञानगुणपर या सिद्ध पर्यायपर आजाता है। शब्दका आलम्बन भी पलट जाता है। जैसे जीव झटसे आत्मापर आजावे। मन, वचन, काय योग भी पलट जाते हैं। तथापि ध्याताको पता नहीं चलता है। यहां इतनी कषायकी मंदता है कि ध्याताको उसका फल अनुभवगोचर नहीं होता है।

धन्य है आत्माका ध्यान। आत्माका द्रव्य स्वभाव बिलकुल शुद्ध है। सिद्धके समान है। कोई पर द्रव्यका, पर भावका, पर गुणका, पर पर्यायका सम्बन्ध नहीं है। अगुरुलघु सामान्य गुणके कारण यह आत्मद्रव्य सदा ही अपने अनन्तगुण व स्वभावोंको लिये

हुये उनमें तन्मय रहता है, न कभी किसी गुण या स्वभावकी हानि होती है। अपनी सत्ताको अखण्ड व अमिट रखता हुआ यह आत्मा अपने ज्ञानके प्रकाशमें सदा चमकता रहता है। कोई रागादि विकार व कामनाएं आत्माको स्पर्श नहीं करती हैं। यह ज्ञानी मन, वचन, कायके विकल्पोंको बुद्धिपूर्वक छोड़े हुये आत्मा हीके द्वारा अपने आत्मामें ही लीन है। निश्चल होकर आनन्दामृतका पान करता रहता है। यह परम सन्तोषी है व निर्विकारी है। मोक्ष महलकी तरफ बढा चला जारहा है।

११९–अनिवृत्तिकरण संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मके संयोगसे बचनेके लिये संवर भावका विचार करता है। अपूर्व करणमें प्रथम भागतक निद्रा प्रचलाका बंध था, आगे वही व छठे भागतक तीर्थंकर + निर्माण + प्रशस्त वि० + पंचेन्द्रिय जाति + तेजस शरीर + कार्मण शरीर + आहारक २ + समचतुरस्र संस्थान + देवगति + कुंदेवगत्या० + वैक्रियिक २ + वर्णादि ४ + अगुरुलघु + उपघात + परघात + उच्छ्वास + त्रस + बादर + पर्याप्त + प्रत्येक + स्थिर + शुभ + सुभग + सुस्वर + आदेय = ३० का बंध होता है, फिर ७ वें भागतक हास्य, रति, भय, जुगुप्सा ४ का प्रबन्ध होता है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें ५८–३६ तक बाइस प्रकृतियोंका ही बन्ध है। एक जीवकी अपेक्षासे ज्ञाना० ५ + दर्श० ४ + वेदनीय १ + मोह० ५, ४, ३, २ या १ + १ + गोत्र १ + अन्त० ५ = २२, २१, २०, १९, १८ का होता है। शेष १२० मेंसे ९८ का संवर है।

यहां ज्ञानी शुक्लध्यानके प्रतापसे परम विशुद्ध भावोंकी वृद्धि कर रहा है। उपशम श्रेणीपर मोहका उपशम, क्षपकश्रेणीपर मोहका क्षय कर रहा है। मोहका बंध नौमें तक ही होता है आगे नहीं। यह वीतरागी साधु शुद्धोपयोगमें लीन है। अबुद्धिपूर्वक उपयोगकी पलटन हो, परन्तु ध्याताको अनुभव केवल अपने एक शुद्ध आत्माका ही हो रहा है।

यह तो केवल अपने आत्मीक आनन्दरसका ही पान कर रहा है। वास्तवमें शुद्ध दृष्टिकी अपूर्व महिमा है। एक मलीन आत्मा भी शुद्ध नयके प्रतापसे अपने आत्माको सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्मसे भिन्न, एक अखण्ड व अभेद, चिदाकार, अमूर्तीक ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यका पिंड परम निर्मल देखता है इसी दर्शनसे धर्मध्यानी श्रेणीपर आकर शुक्लध्यानी होजाता है।

ज्ञानी विचारता है कि कब मैं इस अनिवृत्तिकरण सेवाभावकी प्राप्ति करूंगा। विवेक बुद्धि कहती है कि सब बंध व मोक्षकी चर्चाको छोड़कर व ग्रहण त्यागका विचार बंद करके एक मात्र आत्माके ही सन्मुख होकर, अपनी आत्मीक गुफामें तिष्ठकर मोनसे समभावको प्राप्तकर लेना चाहिये। यही उपाय है, यही स्वतंत्रताका साधन है। स्वतंत्रताका अनुभव ही स्वतंत्रताका उपाय है व परमानंदका दायक है।

१२०–सूक्ष्मसांपराय संवर भाव।

ज्ञानी आत्माके कर्मोंके भयानक आक्रमणसे बचनेके लिये उनके आगमनके कारणोंका विचार कर रहा है।

अनिवृत्तिकरण संवर भावमें २२ कर्म प्रकृतियोंका आस्रव होता था, वहांसे चढ़कर जब कोई महात्मा साधु उपशम या क्षपकश्रेणीवाला दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानपर आता है तब ५ प्रकृतियोंका—चार संज्वलन कषाय + पुरुष वेदका संवर रहता है। केवल १७ प्रकृतियोंका ही आस्रव होता है। एक जीवकी अपेक्षा विचार करें तो ज्ञा० ५ + दर्शना० ४ + वेदनीय १ + नाम १ + गोत्र १ + अन्त०, ५=१७का ही आस्रव यहां होता है। यहां मूल ६ कर्मोंका ही आस्रव है। आयु व मोहकर्मका बिलकुल संवर है। बहुत हलके लोभ कषायके कारण १७ कर्मका बन्ध होता है। ज्ञानी जानता है कि कषायका अंशमात्र भी मल है, सो हटानेलायक है। आत्माके शुद्ध तत्त्वका ज्ञान तथा उसीमें तीव्र रुचि सहित वर्तन अर्थात् शुद्धात्मानुभव ही कषायोंके दमनका एक अमोघ मंत्र है। यह बारबार भावना भाता है कि मेरा आत्मा एक अकेला है। उसकी सत्ता निराली है, अन्य अनंत आत्माओंकी सत्ता निराली है. सर्व पुद्गलके परमाणुओंकी सत्ता निराली है। इसी तरह ४ अमूर्तीक उदासीन व थिर द्रव्योंकी अर्थात् धर्म, अधर्म, काल, आकाशकी सत्ता निराली है। मैं एकाकी पूर्ण कांक्षा रहित हूं। मैंने अपनी स्वरूप संपदा आपमें ही पाली है। मुझे सर्व जगतकी वस्तुओंका, उनकी त्रिकालगोचर गुणपर्यायका ज्ञान है, उन्हींका दर्शन है, मैं स्वतंत्र अनुभवनेयोग्य आनन्दामृतका निरंतर स्वाद लेता हूं. मेरेमें अनन्त वीर्य है. मैं कभी थकनको नहीं वेदता हूं. मुझे अपने स्वरूपके रमणसे पूर्ण तृप्ति है। इसलिये मेरा प्रेम किसी परसे नहीं है। मेरे स्वरूप रमणमें कोई बाधक नहीं है। इससे मेरा

द्वेष किसीके साथ नहीं है। मैं कर्मोंसे भी निराला हूं, कर्मकृत विकारी भावोंसे भी निराला हूं, शरीरसे भी निराला हूं, मैं एकाकी जैसा हूं वैसे ही सर्व आत्माएं हैं, इस भावनाके बलसे मैं आपमें ही ठहरकर समताभावको ध्याता हूं, समरसमें मगन होता हूं, परमानंदका विलास करता हूं।

१२१–उपशांत मोह संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके निरोधके भावोंका विचार कर रहा है। दशवें गुणस्थानमें १७ प्रकृतियोंका आश्रव था। ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थानमें मोहके उदयका मल बिल्कुल नहीं रहा। इसलिये ज्ञा० ५ + दर्श० ४ + अंतराय ५ + यश १ + उच्च गोत्र १ इन १६ प्रकृतियोंका संवर है। केवल एक सातावेदनीयका ही आश्रव रह गया है। यह आश्रव ईर्यापथ कहलाता है। कर्म आते हैं, दूसरे समयमें चले जाते हैं, स्थिति नहीं पाते क्योंकि कषायके मल विना स्थिति नहीं पड़ती है।

यह उपशमक साधु कषायोंको दबाए हुए है। अंतर्मुहूर्तके पीछे कषायका उदय आनेसे यह दशवेंमें गिर जाता है। तब फिर १७ का आश्रव होने लगता है। यदि कदाचित् मरण होजाय तो विग्रह गतिमें चौथा गुणस्थान पाकर देवगतिमें चला जाता है तौभी यह सम्यग्दृष्टि है, आत्मज्ञानी है, उसने अपने स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया है। यदि कदाचित् मिथ्यात्व गुणस्थानमें गिर जावे तौ भी यह कभी न कभी निर्वाणका भोक्ता होजायगा। इस ज्ञानीको गाढ

निश्चय है कि मैं आत्मद्रव्य हूं, मेरे अनंत गुण व उनकी अंतिम पर्यायें सब मेरे ही पास हैं। मैं परम ज्ञान, परम दर्शन, परम चारित्र, परमानंदका धनी पूर्ण स्वतंत्र हूं। मेरा संयोग किसी भी पर भावसे या परद्रव्यसे नहीं है। कर्म पुद्गलोंके मुखमें पड़ा हूं तौ भी उसी-तरह निराला हूं जैसे कुन्दन स्वर्ण कीचमें पड़ा हुआ भी शुद्ध व निर्लेप है या हीरेकी कणी बालूके ढेरमें पड़ी हुई भी हीरा ही बनी रहती है, बालू नहीं होजाती है। मेरेमें एक अगुरुलघु गुण है जिसके प्रतापसे मैं कभी अपनी संपदाको न तो कम करता हूं न उसमें कुछ वृद्धि करता हूं। जितने गुण हैं उनको अखण्ड व शुद्ध अपनेमें पूर्ण रखता हूं। मेरेमें न कर्मबंध है न मुझे बंधके काटनेकी चिन्ता है। मैं सदा निर्बंध, निःकलंक, निरञ्जन, अव्याबाध, अविनाशी, अमूर्तीक, सत् पदार्थ ज्ञानानन्दमय हूं। ईश्वर या परमात्मा मैं ही हूं। इस तरह ज्ञानी आत्माके अपने द्रव्य स्वभावको जानता हुआ परम तृप्त रहता है। न कोई परसे बिगड़नेका भय है न किसी पदकी चाह है। आपसे ही आपमें अपने ही द्वारा आपके ही लिये आपको आप ही धारण करता है। निर्विकल्प भावमें रत है, यही स्वतंत्र भाव है व स्वतंत्रताका उपाय है।

१२२-क्षीणमोह संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके निरोधके लिये उन भावोंका विचार करता है जिनसे कर्मोंका संवर होता है। जो साधु क्षायिक सम्यग्दृष्टी होता हुआ व वज्रवृषभनाराच संहननका धारी होता हुआ क्षपकश्रेणी

पर आरूढ़ होता है वह दशवें गुणस्थानमें आता है। यहां योगोंका हलन चलन है। इससे केवल एक सातावेदनीय कर्मका ही आस्रव ११ वें गुणस्थानके समान होता है। ११९ प्रकृतियोंका आस्रव नहीं होता है। वह वीतरागी शुद्ध भावोंमें परम एकाग्र हो जाता है। दूसरे शुक्लध्यानको ध्याता है। वह कभी पतन नहीं करता है। यह शीघ्र ही केवलज्ञानी होनेवाला है। यही उत्कृष्ट अन्तरात्मा या महात्मा है। मोहकर्मरूपी राजाका क्षय कर चुका है। धन्य है आत्मज्ञानकी महिमा जिसके प्रतापसे एक अज्ञानी सज्ञानी हो जाता है। मिथ्यादृष्टी सम्यग्दृष्टी व असंयमी संयमी होजाता है। स्वतंत्रताको अपने आत्मामें ही पाता है। वह साक्षात्कार कर लेता है कि मैं कर्म-रहित, रागादि रहित, परम ज्ञान स्वरूप परमात्मा हूं। द्रव्य दृष्टिसे वह देखता है। अब उसे अपना आत्मा भी शुद्ध व परकी आत्मासे भी शुद्ध दीखता है। कोई हितकारी व अहितकारी नहीं भासता है, कोई इष्ट कोई अनिष्ट नहीं देखता है। जहां कहीं भी वह देखता है उसे एक शांत स्वरूपी आत्माका ही दर्शन होता है। वह विश्वव्यापी शांत ज्ञानमय सागरमें मगन होजाता है। संसारका सब आताप शमन होजाता है।

वह ज्ञानी एक शुद्ध भावकी पाषाणमय दृढ़ गुफामें तिष्ठ जाता है। वहींपर आप बिलकुल नग्न निर्ग्रंथ होजाता है। आठ कर्मोंका आच्छेदन करे, तेजस शरीरके संयोगको व औदारिक शरीरके बन्धनको, रागद्वेषादि भाव कर्मोंको बिलकुल फेंक देता है। शुद्ध स्फटिक मणिके समान आत्मीक प्रदेशोंको कर लेता है तब अपने निर्मल आत्मदर्पणमें सर्व विश्वकी वस्तुओंको वीतराग भावसे जैसे वे हैं

वैसा उनको देखता है। किसी पदार्थमें प्रीति व अप्रीति नहीं करता है। इस तरह वीतराग भावका उपासक नूतन कर्मोंको रोकता है व पुरातनको उदासीनभावसे क्षय करता है। स्वतंत्रतामय भावकी उत्कंठा ही स्ववंत्रताको प्रकाश करनेवाली है। जो आत्मज्ञानी हैं वे आत्मा-नन्द भोगते हुए सदा सुखी हैं।

१२३-अनित्य भावना संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके संवरका पूरा पूरा विचार कर रहा है। कर्मकी संगति आत्माकी स्वतंत्रतामें बाधक है। वह विचारता है कि बारह भावनाएं परिणामोंको कोमल करनेवाली हैं। आत्माके उपवनमें रमण करानेकी प्रेरणा करानेवाली हैं। अतएव उनका विचार भी करना उचित है। यह लोक जीव अजीव छः द्रव्योंका समुदाय है। ये सब द्रव्य परिणमनशील हैं। समय २ सूक्ष्म पर्याय सब द्रव्योंमें होती है, पर्याय पलट जाती है। समय २ पुरानी पर्यायका नाश व नई पर्यायका उत्पाद होता है। पर्याय इसलिये अनित्य है। मोही प्राणीकी दृष्टि सूक्ष्म पर्यायपर नहीं जाती है। वह तो जीव तथा पुद्गलकी मिश्रित स्थूल पर्यायोंको व अकेले पुद्गलकी स्थूल पर्यायोंको अपनी पांचों इन्द्रियोंसे विषयभोगके हेतुसे देखता है तब सुन्दर स्त्री, पुत्र, पुत्री, उपकारी मित्र, सुन्दर मकान, आभूषण, वस्त्र, माला, सुगंध, गीत, आदि व खेल तमाशे रागरंग अच्छे लगते हैं। उनको लेकर विषयभोग करता हुआ उनको थिर रखना चाहता है व अनिष्ट चेतन पदार्थोंको देखकर द्वेषभाव पैदा करके उनका सम्बन्ध

नहीं चाहता है। पुण्यके उदय विना इष्ट पदार्थोंका समागम नहीं रहता है तथा सर्व चेतन व अचेतन स्थूल पर्याएं क्षणभंगुर हैं। विजलीके चमकारके समान हैं। उनका वियोग हो जानेपर अज्ञानी जीव शोक करता है व पुनः उनका समागम होनेके लिये तृष्णातुर बन जाता है। जैसे २ पदार्थ मिलते हैं और भी अधिक तृष्णाकी दाहको बढ़ा लेते हैं।

एक दिन अज्ञानीको निराश होकर स्वयं मर जाना पड़ता है। रागद्वेषसे तीव्र कर्मोंका बंध करता है।

जगतमें यौवन जरासे रोगसे क्षय होता है। धन अनेक कारणोंसे जाता रहता है। कुटुम्ब अपने २ आयु कर्मके आधीन है, वियोग होजाता है। सर्व संयोग देखते २ स्वप्नके समान हो जाता है। ऐसा विचार कर ज्ञानी आत्मा सर्व ही स्थूल व सूक्ष्म पर्यायोंको नाशवंत मानकर उनसे मोह त्याग देता है। द्रव्य दृष्टिको सामने रखकर देखता है तब सर्व ही छः द्रव्य परम शुद्ध स्वभावमें दिखते हैं। धर्म अधर्म आकाश काल तो सदा ही शुद्ध रहते हैं। पुद्गलोंकी स्कंध पर्यायको अनित्य जानकर परमाणुरूपसे देखकर समभाव लाता है। सब आत्माओंको परम शुद्ध देखकर रागद्वेष मिटा देता है। जैसा मैं ज्ञानानंदमय परम वीतराग हूं वैसे ही सर्व आत्माएं हैं। ऐसा देखकर समताके सागरमें मगन होजाता है, परम संवरभावको पा लेता है। इसी भावमें मगन होकर आनन्दका अद्भुत स्वाद लेकर परम संतोषी रहता है।

१२४-अशरण भावना संवर भाव ।

ज्ञानी जीव कर्मोंको आत्माका शत्रु समझकर उनके आगमनके विरोधका उपाय विचार रहा है ।

अशरण भावनामें विचारता है कि संसारी जीवको जब आयु-कर्मके समाप्त होनेपर शरीर छोड़ना पड़ता है तब कोई मरणसे बचा नहीं सकता। माता, पिता, भाई, बहन, सेना, वैद्य, शास्त्री देखते ही रहते हैं, कोई रक्षित नहीं कर सकता। मनोज्ञ स्त्री पुत्र संपदा होते हुए भी सबको छोड़कर जाना पड़ता है। इसी तरह जब तीव्र पापका उदय होता है व विपत्तियां या रोगादि क्लेश घेर लेते हैं तौभी उस जीवको कोई दु ख सहनसे बचा नहीं सकता। इसलिये संसार—भ्रमणमें यह जीव अशरण है। यदि कोई शरण है तो श्री अरहंत, सिद्ध, साधु हैं, जिनकी भक्तिसे पाप कटते हैं व पुण्यका लाभ होता है। अथवा अपना आत्मा ही अपना शरण है। जो कोई अपने आत्माकी शरणमें रहता है, सर्व पर शरणको त्याग कर एक अपने आत्मामें ही विश्राम करता है, वह कर्मोंके उदयमें भी या बाहरी असाताकारी निमित्त होनेपर भी आत्मीक सुख भोगता है, पाप कर्मको छुड़ाता है, संसारका नाश करता है। आत्माको ही शरण लेनेसे यह जीव सर्वकर्मसे रहित शुद्ध होजाता है। आत्मशरण ही असली शरण है।

आत्मा ही परम तत्व है, परम पदार्थ है, परम द्रव्य है, परम अस्तिकाय है, परम आनन्दधाम है, परम चारित्रवान है, सम्यक्त निधान है, परम वीर्यवान है, परम ज्ञानवान है, परम दर्शनवान है, परम ज्ञान चेतनाका निधान है। परम भगवान है, परम समयसार है,

परम रमताराम है, सहज स्वभाववान है, परम पारणामिक भाववान है, परम शांतिका स्थान है, परम समताका सागर है, गुणोंका रत्नाकर है, अज्ञान तत्वनाशक दिवाकर है, परमामृतवर्षक चन्द्र प्रभाकर है। सर्व मन, वचन, कायके विकल्पोंसे दूर है। ऐसे स्वानुभवगम्य आत्मामें जो रमण करता है वही सर्व अशरणकारक कारणोंको मेटकर आपसे ही अपना शरणभूत होकर नित्य सूर्य स्वयं प्रकाशता है। यही भावना अशरण भावना है व संवरतत्व है, जिससे समसुख होता है।

१२५–संसार भावना संवर भाव।

यह ज्ञानी जीव कर्मोंके निरोधके उपायोंका विचार कर रहा है। तीसरी संसार भावना है। जहां जीव कर्मोंके उदयके आधीन हो व चारों गतियोंमें भ्रमण करे, सो संसार है। हरएक गतिमें इन्द्रिय-भोगकी लालसासे भोग करनेका उद्यम करे। कहीं भोग पाकर कहीं न पाकर अतृप्त भावमें ही मरण करके दूसरी गतिमें चला जावे, कहीं पर भी तृप्ति न पावे। देवगतिके व नारायण चक्रवर्तीके भोगोंसे भी जब तृप्ति नहीं तब संसारके भीतर कहीं भी तृप्ति नहीं है। इसीलिये संसारको केलके खंभके समान असार कहते हैं। अज्ञानी मोहीको कहीं भी सत्य सुख नहीं मिलता है। मोहके नशेमें चूर होकर इसने देहसे प्रीति करी तब देह बारबार प्राप्त हुई।

अनादिकालके चक्रमें इसने अनंतवार पांच परिवर्तन किये हैं। कर्मपुद्गलका कोई परमाणु शेष नहीं जो इसने बारबार ग्रहण करके त्यागा न हो, यह द्रव्य परिवर्तन है। लोकाकाशका कोई प्रदेश बाकी नहीं

है, जहां इसने जन्म न लिया हो, यह क्षेत्र परिवर्तन है। उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालके बीस कोड़ाकोड़ी सागरका कोई समय नहीं बचा जहां बारबार जन्म मरण न किया हो, यह काल परिवर्तन है। नरक तिर्यंच मनुष्य व ग्रैवेयिक तक देवगतिमें, इस तरह चार गतिमें कोई भव शेष नहीं जिसका बारबार धारण न किया हो, यह भव परिवर्तन है।

मिथ्यादृष्टिके संभवित आठों प्रकारके कर्मोंके बंधके कारण योग व कषाय भावोंमें कोई स्थान शेष नहीं रहा जो इसने धारण न किया हो, यह भाव परिवर्तन है। संसारमें कहीं भी शांति नहीं परन्तु जो आत्मज्ञानी हैं वे संसारकी किसी भी दशामें रहें सदा ही सुखी रहते हैं।

आत्मज्ञानीको परवस्तुके आधीन नहीं किंतु स्वाधीन आत्मिक सुख मिलता है। वह संसारके सुखको खारा पानी पीना समझता है। ज्ञानी संसारके कारण राग द्वेष मोहभावोंसे प्रेम छोडकर एक अपने ही आत्मासे परम प्रेम करते हैं। वे आत्माको ही परमात्मा, परमेश्वर, चिदानंद, सुखसागर, परम निश्चल, परम वीतराग, निर्विकारी, सर्वांग-शुद्ध, अमूर्तीक, परम तत्व जानके उसीमें विश्राम करके आनन्दामृतका पान करते हैं। वे मुक्तिके प्रेमी होकर निरंतर निज आत्माकी शुद्ध भावना करते हैं। परम संतोषसे व समभावसे रहते हैं। संसारसे उदासीन रहकर भी परम पुरुषार्थी बने रहते हैं। वे ही संवर.ज्ञान रहकर कर्मोंके भयानक आक्रमणसे बचते हैं।

१२६–एकत्व भावना संवर भाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंकी परतंत्रता मिटानेके लिये उन संवर भावोंको विचार करता है जिनसे कर्मोंका आना रुकता है ।

एकत्व भावनाका विचार करता है कि यह जीव कर्मोंके बंधमें पड़ा हुआ अकेला ही भ्रमण करता है, अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही पाप कर्मका फल दुख व पुण्य कर्मका फल सुख भोगता है । कोई इसके पापको बटा नहीं सकता है । यदि कुटुम्बके मोहमें सब मोही जीव अनेक पाप कर्म करके धन सामग्री लाता है तो इस पाप कर्मका फल उस ही अकेलेको भोगना पड़ेगा, कुटुम्ब सहायक नहीं होसक्ता । मरतेके साथ कोई मरता नहीं । संसारमें विपत्तियां एक अकेलेको ही झेलना पड़ती हैं । अपनेको अकेला अपने भावोंसे बंधनेवाले पाप पुण्यका अधिकारी समझकर परके मोहमें पड़कर पाप संचयसे बचाना चाहिये व किसी भी परसे मोहभाव न रखना चाहिये । सबकी सत्ता निराली है । अपनी भलाई बुराईका आप ही आधार हैं । कुटुम्ब परिवार मित्रादि शरीरके हैं आत्माके नहीं । व्यवहारसे भी यह आत्मा अकेला है, निश्चयनयसे भी अकेला है । अपने आत्माका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अन्य आत्माओंके सर्व, पुद्गलोंके, धर्मद्रव्यके, अधर्मद्रव्यके, आकाश द्रव्यके असंख्यात कालाणु द्रव्योंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे न्यारा है । अपने आत्माका द्रव्य अखण्ड अभेद अनन्त गुण पर्यायोंका पिण्ड है; कभी बिगड़ नहीं सक्ता है ।

अपने आत्माका असंख्यात प्रदेशरूपी क्षेत्र निराला है । यद्यपि एक एक प्रदेशके अनन्त पुद्गलोंका संयोग है तौभी उनके क्षेत्रसे इस

आत्माका क्षेत्र भिन्न है। अपने आत्माके भीतर रहनेवाले गुणोंका समय २ परिणाम अपनेमें ही है। यही अपना स्वकाल है। अपने आत्माके भाव अनेक हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, ये तो सामान्य गुण हैं व शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, अनन्त-वीर्य अनंत आनंद, शुद्ध सम्यक्त, वीतराग चारित्र आदि विशेष गुण हैं। आत्माके सर्व गुण द्रव्य इस एक आत्मामें हैं, परमें नहीं हैं, पर आत्माके गुणरूप अपने आत्मामें नहीं हैं। सिद्ध परमात्माके समान अपना आत्मा है तौभी सिद्धकी सत्ता निराली है। अपने आत्माकी सत्ता निराली है। इस तरह अपना एकत्व विचार करके ज्ञानी अपने ही भीतर विश्राम करता है, परम संतोषित रहता है, शांतभावमें मगन रहता है, परमानन्दका स्वाद पाता है। अपनी स्वतंत्रताका अनुभव करना ही एकत्व भाव है, यही परम शरण है, यही ज्ञानीका कर्म है।

१२७—अन्यत्व भावना संवर भाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके आक्रमणसे बचनेके लिये उनके संवरके उपायोंको विचार कर रहा है।

अन्यत्व भावना भी संवरका उपाय है। इसका विचार व्यव-हार व निश्चय दोनों नयोंसे करना उचित है। व्यवहारनयसे हमारे व्यक्तित्वसे हमारा परिवार कुटुंब निराला है। स्त्री पुत्रादि सब जुदे हैं। मित्र, शत्रु, सेवक, धन, धान्य, मकान, वस्त्रादि सब भिन्न हैं। चेतन व अचेतन पदार्थोंका संयोग होकर वियोग हो जाता है। अन्य कोई भी अपना नहीं है, जिसे अपना करके माना जावे। पुण्यके उदयपर

मनोज्ञ संयोग रहता है, पापके उदयपर विघट जाता है। सब ही जनोंका संयोग स्वार्थके आधीन है। स्वार्थ सधता न होनेपर जिनको अपना जानते थे वे सब पर हो जाते हैं। ज्ञानी जीवको परपदार्थोंसे मोह न करना चाहिये। निरपेक्ष प्रेमभाव रखके शक्तिके अनुसार उनकी सेवा करनी योग्य है। उनको अपना उपकारी बनानेके लिये नहीं। जब कोई अपना नहीं है तब प्रीति करना आगामी दुःखका कारण है। आपनेको अकेला समझकर अपने हितका विचार अपनेको ही करना योग्य है।

निश्चयनयसे विचारें तो मेरा आत्मा अपनी सत्ता जुदी रखता है। इससे अन्य सर्व आत्माएँ हैं, सर्व पुद्गल हैं, धर्मादि चार द्रव्य हैं, आठों कर्म पुद्गल हैं, उनका फल भी पुद्गलमय है, रागादि विकार भी कर्मके उदयसे होते हैं, आत्माके निज स्वभावसे भिन्न हैं।

मेरा नाता किसी भी परद्रव्यसे रञ्चमात्र नहीं है। मैं अन्य हूं अन्य सर्व मुझसे अन्य हैं। मुझे तब अपने ही सत्वमें रहना चाहिये। स्वसमयमें ही आचरण करना चाहिये। अपने ही ज्ञानानंद रूप अटूट धनमें संतोषित रहना चाहिये। परकी तृष्णा हटाना चाहिये। परको पर जान सर्व मोहका त्याग करना चाहिये। अपने आनंद स्वभावका निश्चय रखके परम वैराग्यमय होकर अपने स्वभावमें रमण करना चाहिये। राग, द्वेष मोहको सर्वथा त्याग देना चाहिये। वीतराग विज्ञानमय स्वभावको अपना जानकर उसीका ज्ञान चेतना एक होकर स्वाद होना चाहिये। परसे उपयोग हटाकर अपने आनंद स्वभावमें लीन होकर अद्वैत भावका धनी होना चाहिये। अपना एकत्व विचार

कर सर्वका अपनेसे अन्यत्व विचार कर समदृष्टि होना चाहिये । अन्यत्व भावनाके प्रभावसे भेदविज्ञानकी कला पैदा करनी चाहिये । यही कला स्वानुभव करानेवाली है । ज्ञानी जीव इस भावनाके बलसे अपनेमें परका अभाव जानकर आपमें संतोषित रहकर परमानंदका भोग करते हैं।

१२८–अशुचि भावना संवर भाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके संवर भावोंका विचार कर रहा है । वीतराग भावकी धारणा अशुचि भावना परम उपयोगी है। अज्ञानी शरीरको आत्मारूप मानकर शरीर व उसके भीतर प्राप्त एक व अनेक इन्द्रियोंके लोभमें मोही होकर शरीरके संयोगोंमें शांति करता है व शरीरको हानिकारक बातोंसे द्वेष करता है। शरीरके भीतर विराजित आत्माको बिलकुल भुलाए रहता है । शरीरको चिर मानकर शरीरकी क्रियामें ही जीवनको खो देता है। शरीर परमाणुओंके संग्रहसे बना है। आहार, पानी, वायुके द्वारा पुष्टि पाता है । आयु कर्मके आधीन है। कर्मभूमिके मानवोंकी अकाल मृत्यु भी होजाती है । बालक व वृद्ध दशा बहुत ही कष्टप्रद है। आत्मा पराधीन है। युवावयमें यह अज्ञानी विषयांध होजाता है । यह शरीर महान अपवित्र है ।

पिताका वीर्य व माताके रुधिरसे इसकी उत्पत्ति है। भीतर मल, मूत्र, पीब, रुधिर, अस्थि, मांसादिसे व अनगिनती कृमियोंसे पूर्ण है। नौ द्वारोंसे व करोडों रोम छिद्रोंसे मल ही निकलता है। पवित्र जल, वस्त्र, पुष्पकी माला, चन्दनादि सब ही पवित्र पदार्थ शरीरके संयोगसे अपवित्र होजाते हैं। नर्कमय यह शरीर है। ऊपरकी त्वचाके

हटा लेने पर यह परम ग्लानियुक्त विदित होता है। स्वयं अपनेको भी घृणा आवे।

यह शरीर महान अपवित्र है। इसका संयोग पवित्र आत्मासे रखना किसी भी तरह प्रशंसनीय नहीं है। इस शरीरके द्वारा ही आत्मा ऐसा पुरुषार्थ कर लेता है जो फिर शरीरका संयोग कभी नहीं हो। इसलिये इस शरीरको सेवकके समान रखकर इसके द्वारा अपने ही आत्माका अनुभव करना चाहिये। यह आत्मा निश्चयसे परम पवित्र परमात्मा है, ज्ञाता दृष्टा है, अविनाशी है। सर्व ही रागादि भावोंसे रहित है। शुद्धोऽहं, सिद्धोऽहं, निरंजनोऽहं, ऐसी भावना करते रहनेसे जब थिरता होती है तब स्वानुभव जागता है। यही शरीरसे छूटनेका उपाय है। स्वानुभव परमानंदमय है, परम शांतिदाता है, परम धर्म है।

१२९–आस्रव भावना संवरभाव।

ज्ञानी आत्माके कर्मोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेके लिये कर्मोंके निरोधके उपायोंको विचारता है।

बारह भावनाएं परम उपकार करनेवाली हैं। आस्रव भावनामें कर्मास्रवके कारण भावोंका विचार है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये चार प्रसिद्ध आस्रव भाव हैं। आत्मा व अनात्माका यथार्थ श्रद्धान न होना व सांसारिक सुखको उपादेय मानना, आत्मीक सुखकी रुचि न प्राप्त करना, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओंमें फंसे रहना व रातदिन विषयभोगकी रुचि रखनी व इसी रुचिके आधीन होकर धर्मका साधन करना। सुदेव, सुगुरु व सुधर्मको न

मेरेमें कर्मके विकार क्षुधादिभाव हैं, न मेरेमें कोई अशुभ भाव है न कोई शुभ भाव है, न कोई गुणस्थान है न मार्गणास्थान है।

मैं एक ज्ञाता दृष्टा अविनाशी परम वीतरागी परमानन्दी एक-चित्त धातुकी मूर्तिसमान अखण्ड द्रव्य हूं। इसी भावनाकी दृढ़ताके प्रभावसे वह आत्मानुभवको प्राप्त कर लेता है। यही सच्चा संवरभाव है। यही आनंदप्रद अमृतका पान है। उसीके प्रभावसे मोहकी सेनाका संहार किया जाता है। आत्मीक खडगको चलानेका निरंतर अभ्यास करता है वीर सिपाहीके समान कर्मशत्रुओंको दूरसे रोकता रहता है। वीर भावमें मगन होकर परमानंद भोगता है।

१३१–निर्जरा भावना संवर भाव।

ज्ञानी आत्माके ऊपर कर्मोंका आक्रमण मेटनेके लिये संवर भावोंका विचार कर रहा है।

निर्जरा भावना बड़ी उपयोगी है। ज्ञानी विचारता है कि यद्यपि पूर्वमें बांधे हुए कर्म अपने समयपर पक कर के गिर जाते हैं, उसी समय रागद्वेषादि भावोंके निमित्तसे और नए कर्म बन्ध जाते हैं। जैसे तालावमें एक तरफसे पानी निकलता है, दूसरी तरफसे नवीन पानी आता है, तब वह तालाव भरा ही मिलता है। यदि तालावको खाली करना हो तो नये पानीका आना रोकना पड़ेगा व पुराने पानीके निकालनेके लिये एक छिद्र और करना पड़ेगा, जिससे पानी जल्दी निकल जावे।

इसी तरह आत्माको कर्मोंसे मुक्त करनेके लिये सविपाक

निर्जरासे काम नहीं चलेगा। अविपाक निर्जराकी जरूरत है। बहुतसे कर्मोंको पकनेके पहले झडा देना चाहिये। इसका उपाय तप है। वीतराग भावोंकी वृद्धिसे कर्मोंका रस सूख जाता है व कर्म झड़ जाते हैं। आत्मध्यानकी आगमें ऐसी शक्ति है कि एक अन्तर्मुहूर्तमें सर्व घातीय कर्म क्षय होजाते हैं व आत्मा परमात्मा अरहन्त जिन होजाता है। आत्मध्यानके लिये अपने आत्माकी वारवार भावना करनी योग्य है। व्यवहारनयसे यह अपना आत्मा कर्ममूढ़ताओंमे मिला अशुद्ध दिखता है। परन्तु जैसे मलीन जलको जलके स्वभावकी दृष्टिसे देखा जावे तो जल निर्मल ही दिखता है। उसी तरह अपना आत्मा निश्चयनयसे या शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे परम शुद्ध दिखता है। यही साक्षात् देव है, परम ज्ञानी है, सर्वदर्शी है, परम वीतराग है, परमानंदमय है, परम श्रद्धावान है, अनंत वीर्यवान है, अमूर्तीक है, स्वयं सिद्ध है, असंख्यात प्रदेशी है, अखण्ड है, अनंत गुण पर्यायोंका निधान है, यही कर्मविजयी जिनेन्द्र है, यही ब्रह्मज्ञानी है, यही ज्ञानापेक्षा विष्णु है, यही मंगलरूप शिव है, यही निर्विकार है, यही परम कृतकृत्य है। सर्व तृष्णा व अविद्यासे परे है। जो इस दृष्टिसे अपने आत्माकी भावना एकतान हो करता है वही अकस्मात् आत्मध्यानका लाभ कर लेता है। यही निर्जरा तत्व है। इस तत्वके मननसे कर्मोंका संवर होता है। ज्ञानी आत्माके गंभीर सुखमई सागरमें मगन होकर परम अमृतका पान कर तृप्त रहता है।

१३२–लोक भावना संवर भाव ।

ज्ञानी कर्मोंके आस्रवके निरोधके कारणोंका विचार कर रहा है। लोक भावनामें विचार करता है कि लोक उस आकाशको कहते हैं जहां हरएक स्थान पर जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व कालाणु पाए जावें। छः द्रव्योंके समुदायको लोक कहते हैं। सर्व ही द्रव्य सत् हैं, सदासे हैं व सदा ही रहेंगे। इसलिये यह लोक सत् है। सर्व ही द्रव्य परिणमनशील हैं। स्वभाव या विभाव पर्यायोंको रखते हैं। हरएक सूक्ष्म पर्याय एक समयमात्र रहती है, फिर दूसरी हो जाती है, इस कारण छःों द्रव्य अनित्य भी हैं वैसे ही यह लोक भी अनित्य है। इस नित्य अनित्यमय लोकका कोई एक कर्ता नहीं है। यह छः द्रव्य अकृत्रिम हैं तब लोक भी अकृत्रिम है। ऊर्ध्व, मध्य अधो ऐसे तीन भेद हैं। अधोलोकमें नर्क हैं, मध्यमें मनुष्य तिर्यञ्च हैं। ऊर्ध्वमें स्वर्गादि व अंतमें सिद्धक्षेत्र है। सिद्धक्षेत्रमें अनंत सिद्ध भगवान अपने स्वभावमें मगन नित्य परमानन्द योगी विराजमान हैं। लोकके भीतर जितनी आत्माएं हैं वे भी सब स्वभावसे सिद्धके समान शुद्ध हैं परन्तु उनकी पर्याय या दशा कर्म पुद्गलोंके संयोग वश राग द्वेष मोहसे मलीन व आकुलित हो रही है। तथापि यदि किसी अशुद्ध आत्माको शुद्धता प्राप्त करनी हो तो उसे अपने केवल एक मूल स्वभावका ही मनन करना चाहिये जिससे संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य आजावे व अपने ही शुद्ध स्वभावके लाभका गाढ़ उत्साह प्राप्त हो जावे।

अतएव शुद्ध निश्चयनयको सामने रखकर अपनेको एक अखंड,

अमूर्तीक, चैतन्यमई, अविनाशी पदार्थ मानकर यह मनन करना चाहिये कि मैं सदा ही निर्मल हूं, मेरा कोई सम्बन्ध आठ कर्मोंसे, शरीरादि नोकर्मोंसे व रागादि भाव कर्मोंसे नहीं है। मैं परम वीतरागी हूं, परमानंद हूं, अनंत वीर्यवान हूं, ज्ञान चेतनका स्वाद लेनेवाला हूं, परम कृतकृत्य हूं, निरञ्जन निर्विकार हूं। इस तरह मनन करते हुए ज्ञानी अभ्यासके बलसे जब कभी स्वरूपमें स्थिति प्राप्त कर लेता है तब स्वानुभव पालेता है। यही निश्चय मोक्षका मार्ग है, यही स्वतंत्रताका उपाय है, संवर भाव है।

१३३–बोधिदुर्लभ भावना संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओंके आगमनके द्वारको रोकना चाहता है, इसलिये संवरके कारणोंका विचार करता है।

बारह भावनाओंमें बोधिदुर्लभ भावना बहुत ही उपकार करनेवाली है। आत्मानुभवकी शक्तिको या आत्मज्ञानको या सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, रत्नत्रयकी एकताको बोधि कहते हैं। इसका लाभ होना बहुत दुर्लभ है। यह परमानन्दमई अमृत पिलानेवाली धारा है। आत्माको पवित्र करनेका मसाला है। सम्यग्दर्शनके लाभ होते ही इसका लाभ होता है। एकेन्द्रियसे असैनी पंचेन्द्रिय पर्यंतके जीव इस बोधिको नहीं पासकते हैं। क्योंकि उनके भीतर ज्ञानकी प्रगटता मनके सहायके बिना ऐसी नहीं होती है जिससे वे अपने आत्माको जो इन्द्रियोंका विषय नहीं है उसको पहचान सकें। व यह समझ सकें कि यह आत्मा अज्ञानसे अपनेको पाप व पुण्यजनित

यह धर्म तो आत्माके द्वारा आत्मामें ही प्रकाश होता है। मनका विचार, वाणीका प्रकाश, कायका वर्तन व इन तीनोंके आश्रित मुनि व श्रावकका चारित्र देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, सन्ध्या, तप व दान आदि बाहरी निमित्त होते हैं। ज्ञानी इन कारणोंके मध्यमें स्वानुभवका खोजी होकर स्वानुभवको पाकर परम सुखी हो जाता है। स्वानुभव धर्म परम अनुपम जहाज है, इसीपर आरूढ़ होकर मोक्षके पथिक भव-सागरसे पार होजाते हैं।

स्वानुभव धर्मकी जय हो। यही स्वतंत्रताका उपाय है। यही ध्यानकी आग है, जो विकारोंके कारण कर्मोंको क्षणमात्रमें जला डालती है। इस धर्मका धारी ही धर्मात्मा है।

१३५-उत्तम क्षमा-संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताके लिये परम उत्सुक है। स्वतंत्रता आत्माका निज धर्म है। अनादिकालसे पुद्गलका संयोग है इसलिये कर्मोंके आक्रमणसे स्वतंत्रता दब रही है।

कर्मरूपी शत्रुओंका विजय करना उचित है। इनके आनेको रोकनेके लिये संवर भावोंकी जरूरत है। उन संवर भावोंमें उत्तम क्षमाकी प्रधानता है। क्रोध इसका वैरी है। जब क्रोध आक्रमण करता है तब इस संवर भावका पराजय होजाता है—कर्मोंका आना प्रारम्भ हो जाता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी वीर मोक्षसाधक बड़ी सावधानीसे उत्तम-क्षमाकी ढालसे क्रोधके वेगको रोक देता है। दूसरोंके द्वारा दुर्वचन कहे जानेपर, मारपीट होनेपर, लौकिक या धार्मिक पदार्थके नष्टभ्रष्ट

किये जानेपर क्रोध बड़ी तीव्रतासे उछलता है। उत्तम क्षमाके साथ एक भावसे आलिंगन करनेवाला चेतन राम ऐसा स्वानुभवके स्वादमें मगन होता है कि उसके दृढ़ शुद्धोपयोग पर क्रोधके बम्बगोलोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वे उत्तम क्षमाके वज्रसे स्वयं छिन्नभिन्न हो दूर गिर पड़ते हैं। जो कोई स्वानुभवके किलेसे बाहर होता है वह भावनाके शांत प्रयोगोंसे क्रोध शक्तिको जीतता है।

मैं आत्मा अमूर्तीक चेतनामय परम वीतराग आनन्दमय हूं, मेरी सम्पत्ति भी अमूर्तीक चेतनामय है। न तो आत्मापर जड़ स्वरूप कुशब्दोंका स्पर्श हो सकता है न किसी हाथ पग या शस्त्रका स्पर्श हो सकता है, न कोई जड़ स्वरूप संपत्ति आत्माकी है, दूसरा तो केवल जड़को ही नष्टभ्रष्ट कर सकता है। मेरी ज्ञान दर्शन सुख वीर्य संपत्तिका कोई बिगाड़ नहीं कर सकता। निर्मोही सम्यग्दृष्टी इस तरह क्रोधको विजय कर उत्तमक्षमाके साथ बड़ा ही प्रेम रखता है। इसीके प्रतापसे परम शांत निज आत्मीक आनन्द-सरोवरमें मगन रहकर परम सन्तोषका लाभ करता है।

१३६-उत्तम मार्दव संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रताकी प्राप्तिके लिये स्वतंत्रताके बाधक कर्मोंके क्षयका व उनके आगमनके निरोधका उपाय विचार कर रहा है। उत्तम मार्दव भी एक बढ़िया संवर भाव है। परम कोमलता आत्माका स्वभाव है—आत्मामें मान कषायकी रंचमात्र कठोरता नहीं है। जब मान कषायका उदय होता है तब अज्ञानी

आत्मा अपने स्वभावसे भिन्न पर वस्तुओंकी निकटतामें बावला होकर कभी शरीरकी जातिका, कभी शरीरके कुलका, कभी शरीरके रूपका, कभी शरीरके बलका, कभी शरीरको उपकारी लक्ष्मीका, कभी शरीरको लाभकारी अधिकारका, कभी शरीरकी पांच इन्द्रिय और मनकी सहायतासे प्राप्त अनेक प्रकारकी विद्याओंका व कलाओंका, कभी शरीरको सुखानेवाले अनेक प्रकारके तपोंका घमण्ड करके अपनेको ऊंचा व दूसरोंको नीचा देखता है। इस अन्धकारसे मलीन होकर नानाप्रकार कर्मोंका संचय करता है।

ज्ञानी आत्मा शरीरको ही अपने आत्मासे जुदा जानता है तब शरीरके संयोगसे प्राप्त सर्व विभूतियोंको भी पर जानता है। इन शरीरादिका संयोग वियोगके सन्मुख है, नाशवंत है, ज्ञानी इनके सम्बन्धका कोई अहंकार नहीं करता है, ज्ञानी अपनी अविनाशी आत्मामें व उसकी अविनाशी विभूतियोंमें ही परम सन्तोषको रखता है। उसकी अहंबुद्धि अपनी ही न छुटनेवाली न मिटनेवाली सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज सुख, सहज वीर्य, सहज शांति, सहज सम्यक्त आदि परमोत्तम गुण-रत्नोंकी संपदाओंमें होती है। इनके सिवाय आठ कर्मोंके उदयादिसे प्राप्त नाशवंत विभूतियोंमें ज्ञानी परम उदासीन रहता है। सत्कारके किये जानेपर वैसे ही समभाव रखता है। जब ज्ञानी उत्तम मार्दवके भावमें एकतान हो, स्वानुभव रसका पान करता है तब सत्कार व तिरस्कारका कोई विकल्प ही नहीं होता है। परम संवर भावमें आरूढ़ रहता है। कदाचित् स्वानुभवके बाहर हुआ तो शुद्ध आत्माके स्वरूपकी भावनासे मानके कारणोंका विजय करता

है। आत्मामें परकृत मानापमान प्रवेश ही नहीं करते हैं। मैं एकाकी, परमब्रह्म, परम पुरुष परमात्मा हूं, इस भावमें तन्मय होकर मानका अभाव करता हुआ परम तृप्तिको पाता है।

१३७-उत्तम आर्जव, संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वातंत्रताकी प्राप्तिके लिये परतंत्रताकारक कर्म-पुद्गलोंके आस्रवके निरोधका उपाय विचार रहा है। दशलक्षण धर्ममें **उत्तम आर्जव** भी परम संवर भाव है। उत्तम या उत्कृष्ट या श्रेष्ठ ऋजुता या सरलता या सहज स्वाभाविकता हरएक आत्माका अपना ही गुण है। उसमें कोई प्रकारकी विकारता या कुटिलता या वक्रता नहीं है। यह एक साम्यभाव है, जहां राग द्वेष मोहकी या अज्ञानकी या वीर्यहीनताकी कोई विकृति नहीं है, परम अखंड ज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्दका आत्मा एक परम गंभीर रत्नाकर है, जहां आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमें या निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतामें ठहरता है। परमें प्रवृत्तिका अभाव करता है। स्वानुभवमय हो जाता है। परम निराकुलतासे आनन्दामृतका पान करता है। वहां उत्तम आर्जव धर्म झलकता है। मायाचार पिशाचिनीका आक्रमण कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं कर सकता। जो अज्ञानी हैं, संसारासक्त हैं, धन कण परिग्रहमें मोही हैं, पांचों इन्द्रियोंके सुखके लोभी हैं, वे परपदार्थोंका संयोग मिलानेके लिये मनमें मायाचारको बिठाकर हिंसात्मक भावोंमें परिणमन करते हैं। परको ठगनेके लिये विषभरे मिष्ट वचन बोलते हैं। कायसे वंचना करके व्यवहार करते

हैं। परको अपना विश्वास दिलाकर प्रेम दिखाकर ठग लेते हैं। पर पीड़ाकारी वर्तनसे व कुभावोंसे अशुभ कर्मोंका आस्रव करते हैं। संसारमें कर्माधीन होकर स्वाधीनता खोकर घोर कष्ट पाते हैं। उत्तम आर्जव धर्मको मायाकी मलीनतासे अशुचि कर लेते हैं।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव मायाके दोषसे अपनेको बचाते हैं। जब वे सर्व परसे विमुख होकर अपने शुद्धात्माके स्वभावमें रमण करते हैं, निर्विकल्प समाधिका लाभ करते हैं तब उदय प्राप्त माया कषाय यों ही उस ज्ञानीकी शांत छविको देखते ही भाग जाती है, निर्जीर्ण हो गिर पड़ती है। जब ज्ञानी स्वानुभवसे बाहर होता है तब यदि माया कषायका उद्वेग होता है तो वह ज्ञानी शुद्धात्माकी भावनारूपी खड्गसे उसके वेगसे अपनेको बचाता है। उस ज्ञानीकी यह भावना होती है कि जिस सुखके लिये सर्व संसारी प्राणी तृषातुर हैं वह सुख तो मेरे ही आत्माका स्वभाव है। मुझे विना किसी पर द्रव्यकी मददके स्वयं प्राप्त होता है। मैं उस सत्य सुखको पाकर परम कृतार्थ व सन्तोषी हूं। फिर मैं पर वस्तुकी चाह करके क्यों मायाचार करके हिंसक बनूं। अज्ञानी इन्द्रिय-सुखको ही सुख मान करके भूलसे भूले हुए मायाचारी होकर कर्मोंकी परतन्त्रतामें बन्धते हैं। ज्ञानी स्वसुखमें सन्तोषी रहकर उत्तम आर्जव धर्मका स्वाद लेते हैं, संवर भावसे मायाके द्वारा होनेवाले कर्मास्रवोंसे बचते हुए व शांत रसका पान करते हुए स्वतंत्रताके मार्गपर बढ़ते जाते हैं।

१३८-उत्तम सत्य-संवर भाव ।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रताके विरोधी पुद्गलमई कर्मोंको जानकर उनके आगमनको रोकनेके लिये, उनके संवरके कारण भावोंका मनन कर रहा है। दशलक्षण धर्ममें उत्तम सत्य आत्माका स्वभाव परम संवर भाव है, उत्तम सत्यरूपी सूर्यके सामने किसी भी असत्यमय अन्धकारके आनेकी संभावना नहीं है। जैसा जो पदार्थ है, जैसा उस पदार्थका मूल स्वभाव है; वही उसका उत्तम सत्य धर्म है। आत्मा एक अभेद अखण्ड अमूर्तीक पदार्थ है, स्वानुभवगम्य है। मनके तर्कोंसे, वचनके जल्पोंसे, कायके संकेतोंसे परे है, नय प्रमाण निक्षेपोंके विचारसे बाहर है। एक ज्ञायक परम वीतराग आनंदमय पदार्थ है। जो आत्माके यथार्थ अनुभवसे बाहर हैं, आत्मज्ञान रहित हैं, वे मन, वचन, काय द्वारा शास्त्रोंकी या अनुभवी गुरुकी सहायतासे आत्माके सत्य स्वभावको पहचाननेका उद्यम करते हैं तब गुण, गुणी, या धर्म धर्मी भेद करके पुद्गलादि पांच द्रव्योंसे भिन्न, स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप व गुण पर्याय सत् स्वरूप आत्माको समझते हैं कि यह नित्य अनित्य व एक अनेकरूप है। परिणमनशील होनेसे अनित्य व गुण व स्वभावको सदा स्थिर रखनेकी अपेक्षा नित्य है, अखण्ड अभेद होनेसे एक है, अनेक गुणोंको व्यापकरूप रखनेसे अनेक है। निश्चयनयसे यह परम एकत्वमें लीन व परम शुद्ध है। जो कोई ज्ञानी अपने आत्माके सत्य स्वभावको जानकर उसमें मगन होता है वहां अज्ञान व माया कषायके उदयका कोई असत्य विकार प्रगट नहीं होता है।

अज्ञानी जीव आत्माके उत्तम सत्य धर्मको न जानकर विनाशीक व असत्य इंद्रियसुखकी तृष्णासे मोहित होकर धनादि पर वस्तुओंकी कामना करते हैं, उनके लाभके लिये असत्य मायाचार पूर्ण विचार करते हैं, असत्य मायावी वचन बोलते हैं। असत्य मायापूर्ण क्रियाएं करते हैं, अपने सत्य धर्मको व पर प्राणियोंको कष्ट देकर उनके भाव व द्रव्य प्राणोंकी हिंसा करके कर्मोंका संचय करके भवमें भ्रमण करते हैं। ज्ञानी अपने सत्य स्वभावमें संतोषी रहते हैं। किसी भी परभावकी पुण्य या पापकी या किसी भी परपदार्थकी, इन्द्र चक्रवर्तीकी विभूतिकी वा खंड ज्ञानकी व नाशवंत सुखकी कामना नहीं करते हैं। जब वे ज्ञानी अपने उत्तम सत्य धर्ममें आरूढ़ होकर परम एकत्वमें लीन हो आत्मानंदका स्वाद लेते हैं तब कोई असत्य मन वचन कायके विकल्प ही नहीं उठते हैं, कर्मोंके आक्रमणसे बचे रहते हैं। जब कभी ज्ञानी जीव आत्माके उपवनसे बाहर होते हैं तब पूर्वबद्ध कषायोंके उदयसे असत्य कल्पनाओंका आक्रमण होने लगता है तब वे उत्तम सत्य धर्मकी भावनासे उसे निरोध करते हैं। मैं एकाकी, असंग, परम शुद्ध व निरंजन परमात्मतत्त्व हूं, परम निस्पृह हूं, मुझे कोई परसे कोई प्रयोजन नहीं, यही भावना परम सन्तोषप्रद व सुखदाई है।

१२९—उत्तम शौच-संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रताकी प्राप्तिके लिये अपने स्वभावके विराधक कर्मोंका संबंध मेटना चाहता है, उनके आगमनके द्वारोंको बन्द करना चाहता है।

दश लक्षण धर्ममें उत्तम शौच परम संवरभाव है। आत्मा परम शुचि है। इसमें किसी प्रकार लोभकी मलीनता नहीं है। आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारोंसे परम पवित्र है। यह आत्मा अपने अनेक पवित्र गुणोंका व स्वभावोंका समूह रूप अभेद व अखंड व अमिट अविनाशी द्रव्य है। इसके अमूर्तीक असंख्यात प्रदेश चिदाकार परम पवित्र हैं। इस तरहका इसका क्षेत्र पवित्र है। इसके शुद्ध गुणोंका समय समय परिणमन भी शुद्ध है। इस तरह इसका काल पवित्र है। इसके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य सम्यक्त चारित्र आदि सर्व ही भाव पवित्र हैं। अपवित्रता परद्रव्यके प्रवेशसे व संपर्कसे आती है। आत्मा सत् पदार्थ है। इसमें अपने आत्मचतुष्टयकी सत्ता है। इसके भीतर अन्य अनन्त आत्माओंकी अनंत परमाणु व नाना प्रकार कार्मण, तैजस, आहारक व भाषा व मनोवर्गणादि स्कंधोंकी, धर्मास्तिकायकी, अधर्मास्तिकायकी, आकाश द्रव्यकी व असंख्यात कालाणुओंकी सत्ता नहीं है। इस सत्ताका द्रव्य क्षेत्र काल भाव एक सत्ताधारी आत्मामें नहीं है।

इसलिये निश्चयसे या वस्तु—स्वभावसे हरएक आत्मा परम पवित्र है। रागद्वेष मोहादि अशुद्ध भावोंका तो कहीं पता नहीं है। हरएक आत्मा परम तृप्त है, अपने अतीन्द्रिय आनन्दमें मगन है, परम सन्तोषी है, परम कृतकृत्य है। इस तरह उत्तम शौच धर्म आत्माका स्वभाव है। जहां इस शौच धर्मका साम्राज्य होता है वहां कोई कर्मका आश्रव नहीं हो सक्ता। अज्ञानी जीव अपने अटूट व अनन्त ज्ञानानंदके भंडारको भूलकर सांसारिक सुख व मानके भूखे होकर

महान लोभ कषायके वशीभूत हो जाते हैं। अपनी उपयोगकी भूमिकाको मलीन कर डालते हैं तब विश्वभरकी सम्पदाकी कामना करते हैं। लोभसे मलीन होकर न्याय अन्यायके विचारको, अहिंसा व दयाके भावको भूल जाते हैं। जगतके प्राणियोंको घोर कष्ट देते हैं। कर्मोंकी पराधीनतामें बन्ध जाते हैं। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव वस्तुस्वभावको पहचानते हैं। निर्मोही व वैराग्यवान होते हुए पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे लाचार होकर मन, वचन, कायसे वर्तन करते हैं तब कुछ कर्म आता है परन्तु सम्यक्त्वके प्रभावसे वह संसारमें दीर्घकाल रुलानेवाला नहीं होता है।

ज्ञानी जीव जब अपने उत्तम शौच धर्मको सम्हाल करके अपने स्वभावमें तन्मय होकर परम संतोषसे अपने शुद्ध आत्मिक आनन्दका स्वाद लेता है तब लोभ कषायका आक्रमण व्यर्थ जाता है। कर्मोंका बहुत कुछ संवर करता है। जब कभी यह ज्ञानी अपने आत्मिक उपवनसे बाहर होता है तब लोभ कषायके वेगोंको रोकनेके लिये पवित्र भावना भाता है। मैं एकाकी, निर्भय, अमूर्तीक, परम वीतराग व परम ज्ञानी, परमानंदमय, सर्व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्मसे रहित परम पवित्र परमात्मारूप परम संतोषी व परम धर्मी हूं। यही भावना संवरकी श्रेणी है।

१४०—उत्तम संयम—संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताके लाभके लिये परतंत्रताकारक कर्मोंसे अपनी रक्षा चाहता है। इसलिये उनके आगमनके द्वारोंको बन्द करनेके लिये संवरतत्वकी भावना करता है।

उत्तम संयम भी एक अपूर्व संवर भाव है। आत्मा स्वभावसे उत्तम संयमरूप ही है, यहां असंयमका कोई कारण नहीं है। आत्मा अमूर्तिक है, इंद्रियोंसे अतीत है। अतीन्द्रिय स्वाभाविक आत्मामें इंद्रियोंके विषयोंकी रागरूप कामनाएं संभव नहीं हैं।

वह तो अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनंदमें परम तृप्त है। असत्य व विभाव रूप इन्द्रिय सुखकी न तो कामना है न उसका कोई प्रयत्न है। आत्माके द्वारा प्राणोंका घात भी संभव नहीं है। पृथ्वी आदि छ कायके प्राणियोंके घातका विचार रागी मन करता है। घातका वचन वाणीसे होता है, घातकी क्रिया शरीरसे होती है अथवा घातका कारण कषायके उदयसे प्राप्त अविरत भाव है।

आत्मामें न तो पुद्गलके कारण रचे हुए मन, वचन कायके योग हैं न उनका हलन चलन है न मोहनीय कर्मका ही संयोग है। केवल शुद्ध आत्माद्वारा न तो अपने ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि शुद्ध प्राणोंका घात है न अन्य पृथ्वी आदि जंतुओंके प्राणोंका घात है, इस लिये आत्मा असंयमसे दूर परम संयम भावका धारी है।

आत्मा एक ऐसा अखंड व गुप्त दुर्ग है जिसमें किसी भी परभाव या द्रव्यकी शक्ति नहीं है जो उसमें प्रवेश करके कोई बाधा कर सके। आत्मा परम अव्याबाध है। उत्तम संयमके प्रभावसे कोई भी असंयम कृत आस्रव संभव नहीं है। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टी उस निश्चय व सत्य तत्वकी श्रद्धा रखते हैं वे इंद्रिय व प्राण असंयमसे दूर होकर व मन वचन कायकी क्रियाको बुद्धि पूर्वक निरोध करके भेद

विज्ञान पूर्वक शुद्धात्माके अनुभवमें रमण करते हुए संवर भावका उदय रखते हैं।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टी आत्मसंयमकी महिमाको न जानते हुए पांचों इंद्रियोंके सुखकी अभिलाषासे प्रेरित हो इंद्रियोंके भोगमें व भोगने योग्य पदार्थोंके संग्रहमें रात दिन लगे रहते हैं। तब मन वचन काय योगोंसे अपने व दूसरे प्राणियोंके प्राणोंका घात करते हैं, असंयमके कारण घोर पापकर्मोंका आस्रव करते हैं व स्वतन्त्रताका घात करके परतन्त्रताकी वेडीमें जकड़ते जाते हैं।

ज्ञानी जीव स्वानुभवकी कलासे उत्तम संयम भावमें दृढ़तासे स्थिर होकर असंयम कारक कषायके आक्रमणोंसे दूर रहते हुए निर्विकार भावसे स्वाभाविक आनंद-अमृत रसका पान करते हैं व स्वतंत्रताके मार्गपर बढ़ते चले जाते हैं। जब कभी वे ज्ञानी स्वानुभवके परम दृढ़ किलेसे बाहर होकर विहार करते हैं तब अवसर पाकर इंद्रिय असंयम व प्राण असंयम दोनों उसके ऊपर बड़े वेगसे चढ़ाई करते हैं तब यह ज्ञानी निश्चयनयकी भावना रूपी खड्गसे अपनी रक्षा करता है।

भावना यह है कि मैं एक अमूर्तीक अविनाशी निरंजन वीतराग आनंदमय परम पदार्थ हूं। मुझे किसी भी पदार्थसे रंच मात्र राग नहीं है। मैं अतींद्रिय आनन्दमें मगन हूं। मेरा स्वभाव परम शुद्ध है। यही भावना असंयमकी कीचसे रक्षा करनेवाली परम सखी है। व यही भावना स्वतंत्रताका लाभ करनेमें परम सहायक है व सदा सन्तोषकारक है।

१४१—उत्तम तप, संवर भाव।

ज्ञानी जीव स्वतन्त्रताके लाभके लिये उसके बाधक कर्मोंके आगमनके निरोधके लिये उपायका विचार कर रहा है। दशलक्षण धर्ममें उत्तम तप महान प्रभावशाली व प्रतापशाली धर्म है। उसके तेजके सामने किसी शत्रुके पास आनेकी हिम्मत नहीं होती। आत्माका तेज परम सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य है। इस तेजके प्रतापसे यह आत्मा अपने स्वभावमें ही तपा करता है या प्रज्वलित रहता है। इच्छाओंके निरोधको तप कहते हैं। यहां आत्मामें ऐसी अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्दमें तृप्ति है या सन्तोष है कि इसके किसी पराधीन इन्द्रिय विषयसुखकी या किसी मानादि पोषण करनेकी कामना खड़ी नहीं हो सकती है, न वहां मोहकर्मका संयोग है, जिसके कारण इच्छाका रोग उत्पन्न होता है। यह उत्तम तप स्वभावमें तपते रहना है—परम संवरभाव है। किसी भी कर्मके परमाणु-मात्रके आगमनका अवकाश नहीं है। यह महान तप है।

जो साधुजन कर्म रजके निरोधके लिये व संचित कर्म-रजके दूर करनेके लिये मन वचन कायका निरोध करके एकांतमें आसन जमाकर स्वात्मानुभव रूपी धर्मध्यान व शुक्लध्यान करते हैं उसी तपका फल यह परम उत्तम तप है जो आत्माका निज धर्म है। इस उत्तम तप धर्मको जो नहीं जानते हैं व जिन अज्ञानी जीवोंको स्वानुभव रूपी तपका पता नहीं है ऐसे द्रव्यलिंगी जैन साधु मोक्षकी कामना रखते हुए व मोक्षमें अनंत सुख पानेकी लालसा रखते हुए जैन सिद्धांतके व्यवहार तपको—उपवासादि ध्यान पर्यंत बारह प्रकारके तपको साधन

करते हैं परन्तु अतीन्द्रिय सुखका ज्ञान व स्वाद न पानेसे मिथ्या तर्कके ही साधक होते हैं ।

जो कोई अज्ञानी बहिरात्मा विषय सुखकी चाह रखकर इन्द्र, अहमिन्द्र पद, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलदेव पद या अन्य विषयभोग–संपन्न पदोंके हेतु नानाप्रकार शरीरके शोषण रूप तप करते हैं, वे कर्मोंको संचय करके भव भ्रमणमें ही रहते हैं । वे कर्मोंकी पराधीनतासे अधिक जकड़े जाते हैं । कभी भी स्वतंत्रताका लाभ नहीं कर सके हैं ।

जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मरसके स्वादी हैं वे सर्व प्रकारकी इच्छाओंको बंद करके एक स्वतंत्रता देवीकी ही उपासनामें मगन रहते हैं व इसीकी अंतरंग भावनासे प्रेरित हो मन वचन कायकी गुप्ति रूपी किला बनाकर उसीमें प्रवेश करके अपने शुद्धात्माके भीतर परम समभावसे एकतान होजाते हैं । उनके भीतर कर्मोंका प्रवेश होना बंद होता जाता है । ये संवरके मार्गपर आरूढ़ हैं । जब कभी वे आत्मसमाधिके किलेके बाहर होकर विहार करते हैं तब कर्मोंको प्रवेश होनेके अवसर मिलता है । उस समय वे ज्ञानी आत्माके स्वभावकी भावना भा करके उनसे बचनेका उद्यम करते हैं ।

मैं एकाकी परम शुद्ध निरञ्जन निर्विकार हूं, परम ज्ञानी हूं । अपने सहजानंदमें मगन हूं । सर्व जगतके विनाशीक पदार्थोंकी या भावों-की चाहनासे शून्य हूं । परम कृतकृत्य हूं । परम स्वतन्त्र हूं । सुख सत्ता चैतन्य इन चार प्राणोंको धारता हुआ सदा जीनेवाला हूं । यही । संवरकी उत्तम श्रेणी है व समसुख व शांतिकी प्रदाता है ।

१४२–उत्तम त्याग, संवरभाव ।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताके प्रकाशके लिये बाधक कर्मोंके आगमनके निरोधके कारणोंका विचार कर रहा है। दश लक्षण धर्ममें उत्तम त्याग एक अपूर्व संवर भाव है। यह आत्माका स्वभाव ही है। आत्मा अपने अखंड व ध्रुव स्वभावमें रहा हुआ अपने ही शुद्ध गुणोंको और शुद्ध पर्यायोंको रखता हुआ अपने ही ज्ञानानन्दके भोगमें परम तृप्त है। जो कुछ अपनी सत्तासे भिन्न है उस सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावका आत्मासे पृथक्पना है। हरएक आत्मा दूसरे आत्मासे, सर्व पुद्गलके परमाणु व स्कंधोंसे, धर्मास्तिकायसे, अधर्मास्तिकायसे, आकाशसे तथा काल द्रव्यके असंख्यात कालाणुओंसे जुदा है–उत्तम त्याग रूप ही है यदि त्यागके अर्थ दान किये जावे तौभी यह आत्मा परम दानी है। यह आप ही दातार है आप ही पात्र है। यह अपनी स्वानुभूतिकी रसोईसे आनन्दामृतका आहार बड़ी शुद्धतासे आपको दान करता है। संसार–रोग कभी न आवे इसके लिये यही परम औषधि दान है। ज्ञान द्वारा ज्ञानके वेदनका दान आपको देनेसे यही ज्ञानदान है। यही सर्व भव भवका निवारक परम अभय दान है। इसतरह चारों दानोंको देता हुआ यह उत्तम त्यागधर्मसे विभूषित है। ऐसे धर्मके सामने कोई कर्म–शत्रु प्रवेश नहीं कर सक्ता है–परम संवरका राज्य है।

वीतराग सम्यग्दृष्टी जब इस प्रकारसे उत्तम त्याग–धर्ममें स्थित होता है तब निर्विकल्प समाधिमें या स्वानुभवमें रमण करके आपसे ही आपको अतीन्द्रिय आनन्दका दान देता है, कर्मोंके आश्रवसे

करते हैं परन्तु अतीन्द्रिय सुखका ज्ञान व स्वाद न पानेसे मिथ्या तपके ही साधक होते हैं।

जो कोई अज्ञानी बहिरात्मा विषय सुखकी चाह रखकर इन्द्र, अहमिन्द्र पद, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलदेव पद या अन्य विषयभोग-संपन्न पदोंके हेतु नानाप्रकार शरीरके शोषण रूप तप करते हैं, वे कर्मोंको संचय करके भव भ्रमणमें ही रहते हैं। वे कर्मोंकी पराधीनतासे अधिक जकडे जाते हैं। कभी भी स्वतंत्रताका लाभ नहीं कर सक्ते हैं।

जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मरसके स्वादी हैं वे सर्व प्रकारकी इच्छाओंको बंद करके एक स्वतंत्रता देवीकी ही उपासनामें मगन रहते हैं व इसीकी अंतरंग भावनासे प्रेरित हो मन वचन कायकी गुप्ति रूपी किला बनाकर उसीमें प्रवेश करके अपने शुद्धात्माके भीतर परम समभावसे एकतान होजाते हैं। उनके भीतर कर्मोंका प्रवेश होना बंद होता जाता है। ये संवरके मार्गपर आरूढ़ हैं। जब कभी वे आत्मसमाधिके-किलेके बाहर होकर विहार करते हैं तब कर्मोंको प्रवेश होनेके अवसर मिलता है। उस समय वे ज्ञानी आत्माके स्वभावकी भावना भा करके उनसे बचनेका उद्यम करते हैं।

मैं एकाकी परम शुद्ध निरञ्जन निर्विकार हूं, परम ज्ञानी हूं। अपने सहजानंदमें मगन हूं। सर्व जगतके विनाशीक पदार्थोंकी या भावोंकी चाहनासे शून्य हूं। परम कृतकृत्य हूं। परम स्वतन्त्र हूं। सुख । चैतन्य इन चार प्राणोंको धारता हुआ सदा जीनेवाला हूं। यही । संवरकी उत्तम श्रेणी है व समसुख व शांतिकी प्रदाता है।

१४२—उत्तम त्याग, संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताके प्रकाशके लिये बाधक कर्मोंके आगमनके निरोधके कारणोंका विचार कर रहा है। दश लक्षण धर्ममें उत्तम त्याग एक अपूर्व संवर भाव है। यह आत्माका स्वभाव ही है। आत्मा अपने अखंड व ध्रुव स्वभावमें रहा हुआ अपने ही शुद्ध गुणोंको और शुद्ध पर्यायोंको रखता हुआ अपने ही ज्ञानानन्दके भोगमें परम तृप्त है। जो कुछ अपनी सत्तासे भिन्न है उस सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावका आत्मासे पृथक्‌पना है। हरएक आत्मा दूसरे आत्मासे, सर्व पुद्गलके परमाणु व स्कंधोंसे, धर्मास्तिकायसे, अधर्मास्तिकायसे, आकाशसे तथा काल द्रव्यके असंख्यात कालाणुओंसे जुदा है—उत्तम त्याग रूप ही है यदि त्यागके अर्थ दान किये जावे तौभी यह आत्मा परम दानी है। यह आप ही दातार है आप ही पात्र है। यह अपनी स्वानुभूतिकी रसोईसे आनन्दामृतका आहार बड़ी शुद्धतासे आपको दान करता है। संसार—रोग कभी न आवे इसके लिये यही परम औषधि दान है। ज्ञान द्वारा ज्ञानके वेदनका दान आपको देनेसे यही ज्ञानदान है। यही सर्व भव भवका निवारक परम अभय दान है। इसतरह चारों दानोंको देता हुआ यह उत्तम त्यागधर्मसे विभूषित है। ऐसे धर्मके सामने कोई कर्म—शत्रु प्रवेश नहीं कर सक्ता है—परम संवरका राज्य है।

वीतराग सम्यग्दृष्टी जब इस प्रकारसे उत्तम त्याग—धर्ममें स्थित होता है तब निर्विकल्प समाधिमें या स्वानुभवमें रमण करके आपही आपको अतीन्द्रिय आनन्दका दान देता है, कर्मोंके आश्र-

बहुत अंशमें बचा रहता है। सराग सम्यग्दृष्टी जीव प्राणी मात्र पर करुणा भावको धारण करके व व्रतीपर विशेष प्रेमालु होकर आहार, औषधि, ज्ञान व प्राणी रक्षा रूप अभयदान देता हुआ किसी फलकी कामना न रखता हुआ संसार भ्रमणकारी कर्मोंके आस्रवसे बचा रहता है। मिथ्यादृष्टी जीव बहुत भी पात्रदान व करुणा दान करे, प्राणी मात्रकी रक्षा करे, ईर्यासमिति पाले, विना कुछ स्वार्थके ज्ञान दान करे, औषधि वितरण करे, आहार दान करे तथापि शुद्धात्मीक रसको न पानेसे व अन्तरङ्गमें किसी विषयकी चाह रखनेसे—मान कषायके या लोभ कषायके या माया कषायके विकारसे मलीन होता हुआ संवर भावको न पाकर आस्रवको ही बढ़ाता हुआ परतंत्रताकी रस्सीसे बंधता है। क्योंकि-सम्यग्दृष्टिके समान इसके भावमें न यथार्थ ज्ञान है, न भेदविज्ञान है, न सहज वैराग्य है। यह अज्ञानी अनंतानुबन्धी कषायके रोगसे पीड़ित है। दानी होकर भी दानी नहीं है। उत्तम त्यागके अंशमें भी शून्य है। तत्वज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव व्यवहार-त्याग धर्मको गौण करके व बंधका कारण जानके निश्चय त्याग धर्ममें रत होते हैं। सर्व चिंताओंको दूर करके स्वानुभव रसका पान अपने आत्माको कराते हैं। ज्ञानानन्दका दान करते हुए कर्मोंके आक्रमणसे बचते हैं। जब कभी आत्मा समाधिमय घरसे बाहर होते हैं तब कर्मोंके आस्रवसे बचनेके लिये शुद्धात्माकी भावना भाते हैं। मैं एकाकी, परम निर्भय, परम ज्ञानी, परम वीतरागी, अनंत वीर्यका धनी, परमानन्दी हूं, आपसे आपको स्वानुभव रसका दान करता हूं। आप ही दातार हूं, आप ही पात्र हूं। यही भावना संवरकी श्रेणी व स्वतन्त्रता लाभकी परम औषधि है।

१४३-उत्तम आकिंचन-संवर भाव।

ज्ञानी जीव स्वतंत्रताका चाहनेवाला है। बाधक कर्म हैं, उनके आगमनके रोकनेका विचार कर रहा है। संवरका मुख्य उपाय दशलक्षण धर्ममें उत्तम आकिंचन धर्म भी है। यह आत्माका स्वभाव है। निःपरिग्रह भाव आत्मामें पूर्ण कलशकी तरह भरा है। आत्मामें अपने शुद्ध गुणोंका अवकाश है। वहां स्थान ही नहीं है जो पर वस्तुका राज अपना घर कर सके। एक ज्ञान स्वभावमें सर्व विश्व व्यापक है। इन्द्रिय व मनसे जिन पदार्थोंको अल्पज्ञानी क्रमसे ग्रहण करते हैं उन सबको तथा इन्द्रिय अगोचर सर्व पदार्थोंको आत्माका स्वाभाविक ज्ञान एक ही साथ विना क्रमके उनकी भूत भावी वर्तमान पर्यायोंके साथ स्पष्ट व यथार्थ जानता है। किसी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दके ज्ञानकी कमी नहीं है। इसलिये ऐसे पूर्ण ज्ञानमें और कुछ जाननेकी इच्छारूप परिग्रह हो नहीं सकता। आत्मामें सुख-स्वभाव भी पूर्ण है, जिससे हर क्षण आत्मानंदरूपी अमृतका भोग है। उस भोगसे ऐसी तृप्ति है व प्रसाद है कि फिर उससे किसी क्षणिक इन्द्रिय-सुखकी लालसा रंच मात्र भी उदय नहीं हो सकती। वीर्यके अनंत प्रकार गुणके कारण अपनी स्वाभाविक पुष्टता सदा रहती है जिससे निर्बलताजनित आकुलता बिलकुल हो नहीं सकती। पूर्ण अपरिग्रह भाव या आकिंचन्य धर्म शोभ रहा है। इस धर्मके सामने किसी कर्मशत्रुके आगमनका साहस नहीं हो सकता।

आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टी साधुगण इसी तत्वके विकासके लिये अंतरंग बहिरंग ग्रन्थको त्याग कर निर्ग्रन्थ हो जाते हैं। धन, धान्य,

वस्त्र, अलंकार सब त्याग कर प्राकृतिक नग्न रूपमें होकर विचरते हैं। अंतरंगमें सर्व विश्वके परद्रव्योंसे राग द्वेष मोह त्याग देते हैं। एकाकी विविक्त होकर मन वचन कायको रोककर केवल एक अपने ही आत्मद्रव्यको व उनकी गुण संपदाको अपनी मानकर उसके ही अवलोकनमें मगन हो जाते हैं। निर्विकल्प समाधिमें रत हो, अद्वैतभावको प्राप्त हो जाते हैं, परमानन्दका भोग करते हैं। इस संवर भावसे कर्मोंके आस्रवका निरोध करते हैं।

अज्ञानी आत्मज्ञान रहित साधु बाहरी परिग्रहको त्यागते हुए भी या पूर्ण त्याग न करते हुए भी अन्तरङ्गमें ममताका मैल या मिथ्यात्व भावको न त्यागनेके कारण आकिंचन्य धर्मकी गंध भी न पाकर कर्मास्रवसे बच नहीं सकते। संसार भ्रमणकारी कर्मका बन्ध करते हुए चारों ही गतिमें रुकते हैं। जहां किसी भी कषायके अंशसे राग है वहां निःपरिग्रह भाव नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी निश्चिन्त होकर एकांत सेवन करते हैं। सर्वसे निस्पृह होकर एक अपने ही शुद्ध आत्माके उपवनमें रमण करते हैं। जब कभी आत्मानंदके शांत सरोवरमें मज्जन करके विकल्पके मैलसे रहित हो जाते हैं व उसीका अमृतपान कर निराकुल व सन्तोषी होकर पूर्ण इच्छा रहित हो जाते हैं तब उत्तम व आदर्शरूप आकिंचन्य धर्मका साधन पाकर कर्मोंके आस्रवसे बचे रहते हैं, संवरकी सीढ़ीपर चढ़ते जाते हैं। जब कभी ज्ञानी जीव आत्माके उपवनके बाहर होते हैं तब भी लक्ष्यबिंदु या अपनी दृष्टि आत्मापर रखते हुए आत्माके स्वरूपकी भावना भाते हैं। मैं एकाकी, परम ज्ञानी, परमानन्दी, परम निरञ्जन निर्विकार

हूं, ज्ञानका भंडार हूं, परम निस्पृह हूं, अपने ही स्वाभाविक धनमें सन्तुष्ट हूं, पर पदार्थकी चाहसे शून्य हूं, परम वीतरागी हूं। यही भावना संवरकी दूसरी श्रेणी है। यह भ्रमणकारी कर्मोंको दूर रखनेवाली है।

१४४–उत्तम ब्रह्मचर्य–संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रताके लाभके लिये कर्मोंके आगमनके कारणोंका विचार कर रहा है। दशलक्षण धर्ममें उत्तम ब्रह्मचर्य सर्व शिरोमणि परम संवर भाव है। यह गुण आत्माका निज स्वभाव है। आत्मा सदा ही अपने निज ब्रह्मस्वभावमें विहार या परिणमन करता रहता है। ज्ञान चेतनामय होकर ज्ञान हीमें मगन होकर ज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद लिया करता है। यह कभी भी कर्म-चेतना व कर्मफलचेतनारूप अज्ञान चेतनाकी तरफ नहीं जाता। क्योंकि इन दोनोंके साधनोंका ही अभाव है। न कर्म करनेवाले मन, वचन, काय हैं न पुण्य पापमय कर्मोंका जाल है। यह आत्मा अपनी सदा साथ रहनेवाली नामभेद होनेपर भी स्वरूपमें एकता रखनेवाली स्वानुभूति तियाके भोगमें इतनी रुचिपूर्वक संलग्न है कि इसे कभी भी जगतकी तियाओंके संग मैथुन करनेका विकार होना संभव नहीं है। यह शील शिरोमणि है, वेदोंके उदयसे रहित है; क्योंकि यह कार्मण, तैजस, औदारिक, वैक्रियिक व आहारक पांचों ही पुद्गलमयी शरीरोंसे रहित है। यह सदा असंग है, अकेला है। एकान्त भावको सेवन करनेवाला है। परम निर्विकार, परम वीतराग, परम वीत-मोह

है। इसीके ब्रह्मत्वभावमें कर्मोंके ग्रहणकी कोई संभावना नहीं है। न योग है, न कषाय है, न कोई गुणस्थान है, आप आदर्श उत्तम ब्रह्मचर्य रूप संवर भावका धारी है।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टी साधुगण इसी आदर्शकी भक्ति करते हुए मन वचन काय, कृतकारित अनुमोदन, नौकोटी अब्रह्म या मैथुन भावसे अलग होकर व शुद्धोपयोगकी भूमिकामें चलकर उत्तम ब्रह्मचर्य धर्मका सेवन करते हुए मैथुन कृत आस्रवोंके दोषसे अलग रहते हैं।

अज्ञानी बहिरात्मा संसारासक्त प्राणी स्पर्श इंद्रियके भोगको ही सुखका कारण मानकर वेदके तीव्र उदयके कारण काम भावसे पीड़ित होकर कुशील भावसे रंगकर व नीति अनीतिको त्यागकर अब्रह्मका सेवन करके तथा ब्रह्मभाव जो आत्मसमाधि है उसे कभी भी न पाते हुए कर्मोंके बंधसे बंधकर उसके विपाकसे भव भ्रमण किया करते हैं। अपने ही घरमें विराजित स्वात्मानुभूति रूपी परम पतिव्रता स्त्रीकी तरफ रञ्चमात्र भी लक्ष्य न देते हुए उसे पति-विरहिणी-वियोगिनी बनाये रहते हैं। सम्यग्दृष्टी गृहस्थ अणुव्रती, महाव्रती होनेकी कामना रखते हुये जिस तरह अपनी स्वात्मानुभूति तियामें सन्तोष रखते हैं वैसे ही शरीर सम्बंधी स्वस्त्रीसे सन्तोष रखते हुए अन्तरंग परभाव रमणरूप व्यभिचार बहिरंग परस्त्री रमणरूप व्यभिचारसे बचे रहते हैं। अतएव भव भ्रमणकारी कर्मोंके आस्रवसे कभी बाधित नहीं होते हैं।

ज्ञानी जीव निश्चय रत्नत्रयधर्मकी शरणमें जाकर मन वचन कायकी गुप्तिका किला बनाकर व उसीमें परम निश्चिन्त व निर्भय निवास करते हैं। स्वात्मानुभूति अपनी परम पवित्र शीलस्वभावी

स्त्रीके भोगोंमें परम एकतासे ऐसे संलग्न हो जाते हैं कि भोक्ताभोग्य द्वैतभावसे परे होकर एक ही अद्वैत ब्रह्मभावमें रम जाते हैं। संवरकी उच्च श्रेणीपर आरूढ़ हो जाते हैं। जब कभी इस गुप्तिमय किलेसे बाहर विहार करते हैं तब आत्मीक भावनाकी खड्गसे आस्रवके कारण परभवमें रमणताको निवारते हैं। मैं एकाकी चिद्रूप हूं, परम शीलवान हूं, ब्रह्मरूप हूं, परमशांत व निर्विकार हूं। परम ज्ञान व परमानंदका सागर हूं, देहरहित सिद्धके समान हूं, यही भावना संवरकी द्वितीय श्रेणी है।

१४५–क्षुधा परीषह–संवर भाव ।

ज्ञानी जीव कर्मोंको स्वतंत्रतामें बाधक समझकर उनके आगमनके निरोधके उपायोंका विचार कर रहा है। बाईस परीषहोंका जय संवरभाव बड़ा उपकारी है। जो सहनशील वीर योद्धा होता है वही युद्धक्षेत्रमें साहसपूर्वक शत्रुओंका सामना करके विजय लाभ कर सकता है। मोक्षमार्गपर आरूढ यतिगण शुद्धोपयोगकी व वैराग्यकी भावनासे कर्मोदयसे उपस्थित परीषहोंको शांतिपूर्वक जीतते हैं जिससे रत्नत्रय मार्गसे नहीं चिगते। ऐसे वीर साधु कर्मोंका संवर करते हुए निर्जरा भी करते हैं। निश्चयसे विचारा जावे तो आत्मा स्वभावसे ही क्षुधा परीषहका विजयी है। इसके पास अनन्त बल है, निरन्तर अतींद्रिय आनंदका भोग है जिससे परम तृप्ति व सन्तोष है। क्षुधाकी बाधा बलकी कमीसे अन्तराय कर्म व असातावेदनीय व मोहके उदयसे होती है। आत्मा अशरीर है, कर्मबन्ध रहित है, कर्मोदयकी कोई संभावना नहीं है।

पुद्गलमय शरीर साथ रहनेपर उसके पोषणके लिये पुद्गल ग्रहणकी जरूरत पड़ती है। इसीलिये संसारी शरीरधारी प्राणी पांच प्रकार आहार करते हैं–लेपाहार, ऊजाहार, कवलाहार, नोकर्माहार, कर्माहार। आत्माके अमूर्तीक शुद्ध प्रदेशोंमें पुद्गल प्रवेश ही नहीं कर सक्ते हैं। आत्मा क्षुधाकी बाधाको कभी उत्पन्न ही नहीं कर सक्ता है। यह तो सदा ही अनादिसे अनन्त कालतक परम निःस्पृही, परम वीतराग, परम निर्विकार, परम संवरभावका कवच ओढ़े रहता है। कर्मोंके आक्रमणका कोई द्वार ही नहीं हैं।

निश्चयसे आत्माको ऐसा समझकर निर्ग्रन्थ यतिगण मोक्षमार्गपर चलते हुए जब कभी शरीरमें बाहरी कारण उपवासादि आहारका अलाभादि व अन्तरङ्ग कारण तीव्र असातावेदनीय मोहकर्मके उदयसे क्षुधाकी बाधासे पीड़ित होते हैं तब तुर्त ही शरीरको अपनेसे जुदा जानकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें मनको दबा देते हैं। निर्बाध आत्मानुभव जागृत करके अतीन्द्रिय आनन्दका शांत रस पान करने लगते हैं। स्वसंवेदनके प्रभावसे क्षुधा वेदनाके विकल्पमे दूर होजाते हैं। सिद्ध भगवानके समान आत्मरस मगन होकर क्षुधा परीषहके विजयी होजाते हैं। स्वरूप रमणता अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं रख सक्ते हैं। तब फिर क्षुधाकी बाधाका विकल्प हो उठता है उस समय साहसी वीर साधुगण कर्मोदयका विचार करके विपाकविचय धर्मध्या-नकी भावना करते हैं व शरीरको सडन-गलनस्वभाव जानकर मैं आत्मा हूं, शरीर नहीं, मैं स्वभावसे परम बली, परम तृप्त व अनंत ज्ञानदर्शन व आनन्दमे पूर्ण हूं, शरीर तपका सहकारी है, ऐसा जानकर इस

उनको भिक्षावृत्तिसे प्राप्त शुद्ध आहारसे ही पोषण करूंगा। ऐसा समय आनेतक क्षुधाकी बाधाको समभावसे सहन करूंगा। संसारमें अनन्त-वार पराधीनपनेसे आहारका लाभ नहीं हुआ। उस कालकी वेदनाके सामने यह वेदना कुछ भी नहीं है। इसवार क्षुधाके परीषहको जीत-कर कर्मोंका आस्रव रोकते हैं।

अज्ञानी बहिरात्मा तपसी क्षुधाकी बाधासे पीड़ित हो स्वच्छंद होकर कन्द फूल फल व अभक्ष्य भोजन दिनरातके विचार विना ग्रहण करते हैं, वे मोक्षमार्गसे बाहर चलकर तीव्र कर्मोंका बन्ध करके संसार-वनमें भ्रमण करते हैं।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी सर्व ही प्रकारके कर्मोंके उदयको समभावसे ज्ञातादृष्टा होकर वेदन करते हुए व मुख्यतासे अपने निश्चय तत्वका मनन करते हुए कि मैं सर्वकर्म व नोकर्मसे रहित चैतन्यमई अमूर्तीक परमात्मा हूं, क्षुधाकी पीड़ाको सहते हुए भी कर्मकी निर्जरा करते हैं। संसारवर्द्धक आस्रवसे बचे रहकर ज्ञानकी भूमिकामें सदा खडे रहकर वीर सिपाहीके समान मोक्षका मार्ग तय करते हैं व सुखी रहते हैं।

१४६-पिपासा परीषह-संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताके बाधक कर्मोंके आगमनके निरोधके कारणोंका विचार कर रहा है। बाईस परीषहोंमें पिपासा परीषह भी एक संवर भाव है। ज्ञानी तत्वदृष्टिसे या निश्चयनयसे विचारता है तो ऐसा झलकता है कि मैं तो अमूर्तीक ज्ञाता हूं, परम शुद्ध हूं। मेरेमें न तृष्णाका न पानीकी प्यासका कोई सन्ताप संभव है। मेरेमें

क्षयोपशम ज्ञानजनित भाव इन्द्रिय नहीं, न क्रमसे जाननेका विचार है, न मोहनीय कर्म है, न द्रव्य इंद्रियें हैं। अतएव इन्द्रिय विषयसुखकी तृष्णा नहीं हो सकती, न औदारिक न वैक्रियिक शरीर है, जिससे भोजनपानकी आवश्यक्ता हो, न कभी पानीकी प्यासकी बाधा हो। मैं तो सदा ही अतीन्द्रिय आनन्द अमृतका सुखद व तृप्तिकारक पान करता रहता हूं। मेरे भीतर स्वभाव ही से पिपासा परीषह संवर भाव है। कोई आर्तभाव संभव नहीं है, न कर्म-पुद्गलोंका प्रवेश ही संभव है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जैन मुनि मोक्षमार्ग पर चलते हुए निर्जन स्थानोंमें आत्मतप व रूप तप करते हैं। दिवसमें एकवार ही भिक्षावृत्तिसे भोजनपान करते हैं। अंतरायोंको बचाकर शास्त्रोक्त शुद्ध भिक्षा हाथरूपी पात्रसे करते हैं। कभी रूखा आहार लेनेसे व पानी कम पीनेसे व भोजन लेते हुये ठीक पानी न पीकर अंतराय पड़ जानेसे व गर्म मौसममें पवनकी उष्णतासे व उपवासके कारण व अन्तरङ्गमें असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयसे प्यासकी बाधा होजाती है, उसी समय ज्ञानी मुनि शरीरसे भिन्न अपने आत्माके स्वरूपका मनन करते करते भावश्रुतज्ञानसे स्वसंवेदन या स्वात्मानुभवमें उपयोगको ऐसा एकाग्र कर देते हैं कि जिससे आत्मीक आनंदरसका स्वाद आने लगता है, शरीरकी बाधासे लक्ष्य दूर चला जाता है। एक अन्तर्मुहूर्त तक आत्मीक मदमें ऐसी उन्मत्त दशा रहती है। फिर प्यासका विचार हो उठता है तब जिनागमका विचार करते हैं कि यह प्यास तो बहुत कम है। मैंने तो इस संसार-वनमें भ्रमण करते हुए पराधीनपने नरकगतिमें व पशुगतिमें व दीनहीन मनुष्यगतिमें

असह्य प्यासकी वेदना सही है। कई कई दिवस तक पानीकी बूंद तक नहीं मिली है, प्याससे तड़फड़ता रहा हूं फिर यही बाधा शरीरमें है। मैं तो ज्ञाता हूं, मेरेमें कोई बाधा नहीं है, मोहसे कष्ट प्रतीत होता है। मुझे इस पुद्गलिक बंदीगृहके समान शरीरसे मोह न करना चाहिये—मोह भावको जीतना चाहिये।

आत्माके स्वभावके मननसे ही उपवनमें क्रीड़ा करनी चाहिये। इस तरह तत्वज्ञानके रससे प्यासकी बाधाको शमन करते हुए आर्तध्यानसे बचकर धर्मध्यानकी शीतल छायामें विश्राम करते हुए पिपासा परीषह जय करके संवर भावको पाते हुए अशुभ कर्मोंके बंधसे बचते हैं।

अज्ञानी बहिरात्मा तपसी प्यासकी बाधा होनेपर किसी शास्त्रोक्त नियमको न पालते हुए व रातदिनका विचार न रखते हुए, शुद्ध अशुद्ध पानीका विवेक न करते हुए नदी सरोवर कूप आदिसे जल पीकर तृष्णाको बुझा लेते हैं व जबतक प्यास सताती है, आर्तध्यानसे पीड़ित रहते हैं। अज्ञान, मिथ्यात्व व अविरत मान व लोभ कषाय व योगकी चंचलतासे तीव्र कर्मका आस्रव करते हैं, कर्मके उदयसे भवमें भ्रमण करते हैं, वे पिपासा परीषह संवरभावको कभी नहीं पाते।

सम्यग्दृष्टी जीव कैसी भी अवस्थामें हो शरीरसे व शरीरमें परिणमनसे अपने आत्माको सर्वथा भिन्न व पृथक् देखता है। कहां जड़त्व, कहां मैं ज्ञानी आत्मा, कहां मूर्तीक सड़न गलनस्वभावी शरीर, कहां मैं अमूर्तीक अविनाशी आत्मा, कहां यह अपवित्र शरीर, कहां मैं ज्ञानी आत्मा, कहां मैं परमपवित्र आत्मा। दुःखकारी शरीरमें व सदा ही सुखी आत्मा इस तरह आत्माके मननसे वे शरीरकी बाधासे उदास रह संतोषमय वारिका पान करते हैं व संवरकी भूमिमें गमन करते हैं।

१४७-शीत परीषह-संवर भाव ।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताके लाभ हेतु बाधक कर्म-शत्रुओंके प्रवेशके द्वारोंको बन्द करनेका विचार कर रहा है। तीसरी परीषह शीत है। वीर मोक्षमार्गी साधुजन कर्मोंका क्षय करनेके लिये निर्ग्रंथ पदको सर्व परिग्रह रहित नग्न प्राकृतिक रूप तब ही धारण करते हैं जब अपने ही शरीरको शीत ऋतुके सहनेयोग्य आर्तभाव रहित सानन्दरूप हो तैयार पाते हैं। वे वीर तत्वज्ञानी जबतक शरीरको शीत बाधा सहनेयोग्य नहीं पाते हैं तबतक वस्त्र परिधान करके श्रावकके परिग्रह प्रमाण व्रतको धारकर यथायोग्य ध्यान स्वाध्याय करते हैं। परन्तु उतने चारित्रसे प्रत्याख्यान कषायका बल सर्वथा निरोध नहीं कर सकते, जिस कषायके त्याग विना निर्ग्रन्थ यतिका वीर वाना धारण नहीं किया जा सकता।

जब शरीरको शीत स्पर्श सहनेयोग्य पाते हैं तब उत्तम जिनलिंग सहर्ष स्वीकार करके पक्षीके समान यत्रतत्र विहार करके नदी तट व मैदानमें ध्यानका आसन लगाकर आत्माके शीतल उपवनमें रमण करते हैं। ऐसा होनेपर भी यदि हिम पड़नेसे वात अति ठण्डी हो जाती है, शरीरको बाधाकारी प्रतीत होती है, तव वे वीर साधु शरीरके ममत्वसे रहित होकर मैं आत्मा अमूर्तीक हूं, इस भावमें प्रवेश करके विचारते हैं कि निश्चयसे मेरा आत्मा असंग है—

कार्मण, तैजस, आहारक, वैक्रियिक, औदारिक पांचों प्रकारके पौद्गलिक शरीरोंसे रहित है तथा परम गुप्त आत्मानुभवकी गुफामें विष्ठकर स्वानुभवकी उष्णतासे इतना गर्म है कि वहां प्रमादजनित

शिथिलता व कोई शीत स्पर्शकी बाधा संभव नहीं है, अनन्त वीर्यसे परम पुष्ट है, ज्ञान दर्शनके निर्मल नेत्रोंसे सर्व विश्वका ज्ञातादृष्टा है, परम ईश्वर स्वरूप परम वीतरागी है, ऐसा मनन करके वह साधु मन, वचन, कायकी गुप्तिको सम्हाल कर निज आत्माकी परम गंभीर व पुद्गलके स्पर्श रहित गुफामें प्रवेश करके आपसे ही आपको आपमें ग्रहण करके एकतान हो, निर्विकल्प समाधि भावको प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्तके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमें आरूढ़ हो, साक्षात् भावलिंगी हो जाते हैं, तब शीत स्पर्शके विचारसे भी रहित होजाते हैं, परमानंद अमृतका पान करते हैं।

पश्चात् जब फिर प्रमत्त गुणस्थानमें आते हैं तब शीत स्पर्शकी बाधाको वेदते हुए ज्ञानके प्रभावसे अति ध्यान न करके धर्मध्यान करते हैं। शरीरकी ममता ही दुःख वेदनमें कारण है, शरीरसे वैराग्य भावना भाते हैं व दीर्घ संसारमें पराधीनपने शीतकी बाधा सहन करना, विचारते हैं कि उस महान असहनीय शीतके सामने यह शीत बहुत अल्प है, मुझे वीर सिपाहीके समान कर्मके उदयको समतासे सहन करना चाहिये। इस भावनासे शीत परीषहका विजय करते हैं।

मिथ्यादृष्टी अज्ञानी तपस्वी घोर शीत पड़नेपर स्वयं अग्नि जलाकर तापते हैं, अनेक प्रकार वस्त्रोंको ओढ़ते हैं, शीत परिषहसे जीते जाकर मोहशत्रुके नचाये भववनमें नाचते हैं, वे कभी भी परम शीतल मोक्ष महलके भीतर प्रवेश नहीं कर सकते। क्योंकि वे यथार्थ मोक्षमार्गसे विरुद्ध चलते हैं।

सम्यग्दृष्टी जीव गृहस्थ हों व साधु हर अवस्थामें शुद्ध निश्चय-

नयकी दृष्टिसे अपनेको परमात्माके समान अशरीर व शीतादि स्पर्शकी बाधासे रहित परम वीतराग परमानंदमय देखकर सन्तोषी व सुखी रहते हैं, शरीर द्वारा वेदनाको कर्मजनित व प्राकृत जानकर उसमें उदास भाव रखते हुए संसारसे पीठ देते हुए वे ज्ञानी सम्यक्ती मोक्षकी तरफ मुख किये हुए बढ़ते जाते हैं ।

१४८–उष्ण परीषह–संवर भाव ।

ज्ञानी जीव स्वतंत्रताके बाधक कर्मोंके आस्रवके निरोधका विचार कर रहा है । निर्ग्रंथ जैन मुनि प्राकृतिक भेषमें यथाजातरूप धारी हो कर्मोंको भस्म करनेके लिये आत्मध्यानकी अग्नि जलाते हैं व कठिन २ प्रदेशोंमें तपस्या करके संवर व निर्जराका उपाय करते हैं। कभी उष्ण ऋतुमें गर्म पवनके चलनेसे उष्ण परिषहका प्रकाश होजाता है तब धीरवीर मुनि शांतभावसे उस परीषहका विजय करते हैं । वे निश्चयनयसे जानते हैं कि मैं तो एक केवल असंग आत्मा हूं, अमूर्तीक हूं ज्ञाता दृष्टा हूं, मुझ अशरीरको उष्ण स्पर्श बाधक नहीं हो सकता है । पुद्गलके गुण पुद्गलको बाधक हो सकते हैं । मैं किसी भी कर्म व नोकर्मवर्गणासे रहित हूं । मैं विश्वके जीव अजीव पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञाता हूं, परन्तु उनके द्वारा किसी भी प्रकारकी वेदनाका अनुभव नहीं करता हूं । जब अशुद्ध आत्मा किसी औदारिक आदि स्थूल शरीरमें व्यापक होता है और मोहके उदयसे राग द्वेषसे वर्तन करता है तब स्पर्शजनित दुःख या सुखका अनुभव होता है। जैसे आंख दूरसे आगको जलती हुई देखती हैं परन्तु आगके स्पर्शकी वेदना

रहित है वैसे मेरा आत्मा सर्व प्रकारके पुद्गलके शीत व उष्ण परिणमनको जानता है परन्तु उनकी वेदनाको अनुभव नहीं करता है। मेरा आत्मा स्वभावसे ही उष्ण परीषहविजयी है, परम संवरभावका धारी है।

इस तरह निज तत्वका सत्य स्वरूप विचार करके वह जिनभक्त साधु अपने उपयोगको मन, वचन, कायकी क्रियासे व सर्व परपदार्थोंसे हटाता है। और केवल एक अपने ही शुद्ध आत्माके स्वरूपमें उसे जोड़ देता है। आपसे ही आपको अपने ही लिये आपमेंसे आप ही स्वयं उपयुक्त होजाता है। षट्कारकके विकल्पसे परे होकर निर्विकल्प भावमें रम जाता है। अद्वैत स्वानुभवका प्रकाश कर देता है। अन्तर्मुहूर्तके लिये अप्रमत गुणस्थानमें चढ़ जाता है। वीतराग भावसे संवरकी ध्वजा फहराता है। फिर जब प्रमादभाव आजाता है तब अनित्य, अशरण, संसार व अशुचि व अनित्य भावनाओंको भाकर शरीरको पृथक् लखकर व शरीरके परिणमनसे आत्माका परिणमन भिन्न जानकर व अनन्त भूतकालीन भ्रमणमें पराधीनपने अनन्तवार तीव्र उष्ण बाधाका होना विचार कर व वर्तमान बाधाको अति तुच्छ जानकर वह ज्ञानी जीव सविकल्प दशामें समभावसे उष्ण परीषहका विजय करता है, संवरकी भूमिमें शयन करता है, मोक्षमार्गसे पतन नहीं करता है।

जो कोई संसारमोही मिथ्यादृष्टी तपस्वी तप करते हैं, आत्मीक रसके स्वादको कभी नहीं पाते हैं, वे तीव्र उष्ण बाधाके होनेपर सहन करके शीतल सरोवर व नदीके जलमें स्नान करते हैं। वृक्षकी छायामें विश्राम करते हैं व परदेका उपयोग करते हैं। आकुलित होकर जिस तिस प्रकारसे शीतोपचार करते हैं, वे मोक्षमार्गसे विमुख होकर संसारके

भ्रमणसे काफी दूर नहीं होते हैं, उनको परम सुंदर आध्यात्मीक उपवनकी शीतल पवनका कभी स्पर्श नहीं होता है। वे आत्मध्यानकी ठंडकको नहीं पा सक्ते हैं। सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध निश्चयके प्रतापसे अपने आत्माको शुद्ध ज्ञाताद्दष्टा, वीतराग, परमानन्दमई, निरञ्जन, निर्विकार जानते हैं। कर्मजनित सर्व प्रपंचसे अपनेको भिन्न समझते हैं। जब उनको शारीरिक बाधाका वेदन तीव्र असातावेदनीयके उदयसे होता है, तब कर्मविपाकसे कर्मवर्गणाओंकी निर्जरा होना विचार करके परम लाभ जानते हैं। तत्वज्ञानके प्रभावसे वे धीरवीर मोहके तीव्र वेगसे बचकर बलपूर्वक अपने ही आत्मामें स्थिर होते हैं व शीतल आत्मीक रसके पानसे उष्ण परीषहादि बाधाओंको निवारण कर सुखी रहते हैं।

१४९–दंशमशक परीषह–संवर भाव।

ज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रताके लाभ हेतु बाधक कर्मशत्रुओंके प्रवेशके द्वारोंको बंद करनेका विचार कर रहा है। जैसे बलवान शत्रुका सामना वही योद्धा कर सकता है, जो बड़ा साहसी हो व शत्रुके द्वारा किये गये आपत्तिमूलक प्रयोगोंको धैर्यसे सहन कर सकता हो, युद्धक्षेत्रसे ज़रा भी पग पीछा न रक्खे व शत्रुको भगानेमें प्रवीण हो, वैसे ही कर्मशत्रुओंका संहार व पराजय वही परम धीरवीर निर्ग्रन्थ जैन साधु कर सकता है जो नग्न शरीर रहने पर भी सानन्द आत्मध्यान कर सके, शुद्ध भावोंके बाण चलाकर कर्मदलको भगा सके। तथा कर्मोंके द्वारा उपस्थित की गई परिणामोंको विह्वल करनेवाली बाईस परीषहोंको सहन कर सके। उनके द्वारा आकुलित

न हो, मोक्षमार्गमें कुछ भी पैर पीछा न रक्खे। नग्न शरीर पर बाधक दंशमशक, कीट, पिपीलिका पतंग, मक्षिका आदि क्षुद्र जन्तु अपनी आहार संज्ञाके कारण आते हैं, उनके भावोंमें साधुसे कुछ भी द्वेषभाव नहीं होता है। वे लाचार हो अपना खाद्य ढूंढ़ते हुए शरीर पर पतन करते हैं।

उस समय साधुगण तत्वविचारके बलसे उस परीषहका विजय करते हैं। प्रथम तो निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं आत्मा अमूर्तीक हूं। शरीर वस्त्रके समान बिलकुल भिन्न है। वस्त्रके काटे जानेसे जैसे शरीर नहीं कटता है वैसे शरीरके काटे जानेसे आत्माका कुछ बिगाड़ नहीं होता है। कोठेके भीतर आग जलनेसे वस्त्रादि जलेंगे परन्तु कोठेका आकाश नहीं जल सकता; क्योंकि आकाश अमूर्तीक है। जो अमूर्तीक होता है व अच्छेद्य व अभेद्य व अविनाशी व अमर होता है। मैं परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग, परमानन्दमय हूं। सदा ही अचल होकर निराकुल विराजता हूं, सर्व पुद्गलकृत आक्रमणोंसे रहित हूं, स्वभावसे ही खेद रहित हूं, पीड़ाके भावोंसे दूर हूं। मेरे आत्माके शुद्ध प्रदेशोंमें दंशमशक परीषहका सहज ही विजय है। इस तरह विचार कर तुर्त अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ़ जाते हैं व निर्विकल्प आत्मसमाधिको जगाकर ज्ञानामृतका पान करके परम सुखी हो जाते हैं। शरीर पर पतंगादि बैठकर बाधा देते हैं, परन्तु उपयोगके संलग्न बिना भावेन्द्रियसे उसका ज्ञान ही नहीं होता है। उपयोग अल्पज्ञानी व एक साथ सब इन्द्रियोंसे व मनसे काम नहीं कर सकता है।

जैन साधुके पास पांच इन्द्रियें व मन तथा आत्मा है। इन सातोंमेंसे एक समय एक पर उपयोग आता है तब अन्यके विषयोंका ग्रहण नहीं होता है। यदि कोई किसी दृश्यके देखनेमें उपयुक्त हो तो कानोंमें शब्दोंकी टक्करें लगने पर भी नाकमें सुगंधित वायुके झोके आने पर भी शब्द व गन्धका ज्ञान नहीं होता है। आत्मस्थ साधुका उपयोग जब आत्मामें एकतान होगया तब अन्य छहोंके नियमोंसे वह बेखबर होगया। निर्ग्रन्थ साधुपद वही धारता है, जो आत्मानुभवके नशेमें चूर हो, अन्तर्मुहूर्तके पीछे ही बारबार ही आत्माकी तरफ उपयोगको जोड़ सके। क्योंकि जिन दो गुणस्थानोंमें साधु तिष्ठते हैं उनमेंसे हरएकका काल अन्तर्मुहूर्त है।

अप्रमत्त गुणस्थानमें परीषहका अनुभव नहीं होता है। जब प्रमत्तमें आते हैं तब वेदनाका भान होता है। उस समय बारह भावनाओंके विचारसे वह दीर्घ संसारमें पराधीनपने पर जंतुओंके द्वारा वध बंधन सहनकी बाधाको स्मरण करनेसे व उस वर्तमान बाधाके अति अल्प समझनेसे वे साधु सानन्द विजय करके संवरभावकी ध्वजा फहरा देते हैं। कायर मिथ्यादृष्टि तपस्वी दंशमशकादि जंतुओंकी बाधा नहीं सह सकते। वस्त्र परिधान करते हैं या पंखेका प्रयोग करते हैं, वे कभी भी शत्रुका सामना नहीं कर सकते। सम्यग्दृष्टी जिनेन्द्र मार्गके प्रेमी कर्मजनित दशाओंको ज्ञाता दृष्टा हो देखते हैं। आत्माके मननसे तृप्त रहकर कभी स्वमार्गसे विचलित नहीं होते। ज्ञान चेतनाकी रुचिमें अटल रहकर आत्मरसका पान करते हैं, व सदा सुखी रहते हैं।

१५०—नाग्न्य परीषह—संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारोंके निरोधका विचार कर रहा है। बाईस परीषहोंमें नाग्न्य परीषह भी है। जैनके निर्ग्रंथ साधु भावलिंग और द्रव्यलिंग दोनों नग्न धारण करते हैं। अन्तर बाहर नग्न हुए विना कर्मशत्रुओंके साथ युद्ध करने योग्य वीर योद्धा नहीं हो सकता। जो उभय रूपसे नग्न नहीं हो सकते वे साधक होकर श्रावकके चारित्रको पालकर उस भवमें या पर भवमें वीर सिपाही बननेकी सच्ची भावना भाते हैं। रागादि उपाधिसे रहित वीतराग विज्ञानमय शुद्धोपयोग तो अन्तरंग भावलिंग है। जन्मके बालकके समान प्रकृति रूपमें नग्न दिगम्बर रहना बाहरी चिह्न द्रव्यलिंग है। बाहरी तुष्य दूर किये विना अन्तरकी लाली तन्दुलसे हटाई नहीं जा सकती।

इसी तरह बाहरी वस्त्रादि परिधानादि परिग्रह हटे विना अंतरंग मूर्छा या ममत्व भाव हटाया नहीं जा सकता। ऐसे वीर योद्धा नग्नवेषी साधु लज्जाभावको जीतकर अपनेको बालकके समान व जगतको स्त्री पुरुषके भेद रहित एकसमान देखते हैं। यदि कदाचित किसी स्त्री आदिके निमित्तसे कुछ अन्तरंग विकार उपज आता है तो उस समय बड़ी वीरतासे उस नाग्न्य परीषहको जीतते हैं। निश्चय-नयसे विचारते हैं कि मेरा आत्मा सदा ही नग्न है। मैं अकेला एक स्वतन्त्र आत्मा हूं, मेरे पास किसी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व पर भावका सम्बन्ध नहीं है। मैं सर्व ही अन्य आत्माओंसे व पुद्गलके स्कंध व परमाणुओंसे व धर्म, अधर्म, आकाश व सर्व कालाणु द्रव्योंसे

बिलकुल ही भिन्न अपनी सत्ता रखता हूं। मेरेमें कोई ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भाव कर्म व शरीरादि नोकर्मका कोई रंचमात्र सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्चारित्र आदि गुणोंसे भी ऐसा तन्मय हूं कि वे मेरे सर्व प्रदेशोंमें पूर्ण तथा व्यापक हैं। उनके साथ मेरा अभेद है, व्यवहारनयसे ही भेद करके विचारा जाता है।

सर्व परिग्रह रहित मुझ असंग आत्माके सहज ही नाग्न्य परीषह जय संवरभाव है। ऐसा विचार कर वे साधु अप्रमत्त भावमें चढ़कर अपने स्वरूपके ध्यानमें लवलीन होजाते हैं। सर्व चिंतासे रहित होकर आत्मानन्दरूपी अमृतरसका पान करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब तीव्र कषायके उदयसे प्रमत्त गुणस्थान होजाता है तब वैराग्य भावको भाते हैं। विचारते हैं कि बालकको जैसे स्त्री पुरुषका विकल्प या विकार नहीं होता है, सहज ही सर्वत्र विहार करता है व निर्विकार रहता है, वैसे ही मुझे अब्रह्म भाव विजयी परम निर्विकार रहना चाहिये। समदृष्टिसे व भेदविज्ञानसे जगतके नाटकको देखना चाहिये। शरीर परमाणुओंका पुंज है व मानवदेह तो अपवित्रताका श्रोत है। स्त्री पुरुष दोनोंके भीतर आत्मा एक समान है। इस तरह विचारधारासे विकारके मलको बहाकर पवित्र होजाते हैं व शांतभावसे इस परीषहका विजय करते हैं। संवरकी पूर्वमें खड़े रहते हैं। निर्ग्रंथ पद रहित जगतके साधु कामविकारको रखते हुए लाज भावसे वस्त्र रखकर विचरते हैं, वे बालकके समान निर्विकार नहीं होते हैं। वे निर्वाणका राज्य कभी नहीं पा सकते हैं। उनको भवमें चिरकाल भ्रमण करना

पड़ता है। सम्यग्दृष्टी जीव तत्वज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सदा ही एकाकी नग्न व पूर्ण ज्ञानी व परम वीतरागी, परमानन्दी, अमूर्तीक, अविनाशी मानकर उसीका मनन करते रहते हैं। स्त्री पुरुषके भेदोंको कर्मकृत विनाशीक जानके उनसे वैराग्यभाव रखते हैं व कर्मके उदयमें थिरता रखकर व निर्भय होकर शांतभावसे आत्मानन्दको लेते रहते हैं।

१५१–अरति परीषह–संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारोंके निरोधका विचार कर रहा है। निर्वाणका मार्ग दुष्कर है, साहसी धीर वीर जैन निर्ग्रन्थ-मुनि ही इस मार्गपर चलकर कर्मशत्रुओंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे धीरवीर साधु ममताके त्यागी एकताके आराधक होते हैं। वे महात्मा मनोज्ञ अमनोज्ञ पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें, शत्रु मित्रमें, लाभ-हानिमें, जीवन-मरणमें, सुख दुःखमें समान भाव रखते हैं। इसीलिये वे श्रमण कहलाते हैं। ऐसे शिव-मार्गके वीर सिपाही निर्जन स्थलोंमें विराजमान होकर परम आत्मध्यानका अभ्यास करते हैं। कदाचित् द्रव्य, क्षेत्र, कालकी प्रतिकूलता होनेपर व गृहस्थ सम्बन्धी रतियोग्य भोगोंकी स्मृति आनेपर तथा चारित्र मोहके उदयसे उनमें अरतिभाव उत्पन्न होजाता है।

इस परीषहके विजयके लिये प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचार करते हैं कि मैं एक निराला आत्म द्रव्य हूं, अमूर्तीक हूं, पूर्ण दर्शन ज्ञान सुख वीर्य आदि गुणोंसे भरा हुआ हूं। न मेरे पास कोई पौद्गलिक शरीर है; न पांच इन्द्रियां हैं, न भाव इन्द्रियरूप क्षयोपशम ज्ञान है, न मोहका उदय है। मैं आत्माराम सदा ही अपनी स्वानु-

भूतियाके साथ न गाढ़ प्रेमसे रतिक्रिया करता हूं, अरति भाव उत्पन्न होनेका कोई कारण ही नहीं है। सहज ही मुझे अरति परीषहका संवरभाव है। ऐसा विचारकर वे साधु मन, वचन, कायके विकल्पोंको त्यागकर तथा उपयोगको सर्व ज्ञेय विषयोंसे समेटकर एक अपने आत्मारूपी ज्ञेयमें तन्मय कर देते हैं।

निर्विकल्प समाधिमें संलग्न होकर आत्मानन्दरूपी अमृतका पान करते हैं। जबतक इस अप्रमत्त भावमें आरूढ़ रहते हैं अरति परीषहका विकल्प भी नहीं रहता। अन्तर्मुहूर्त पीछे जो प्रमत्त गुण-स्थानमें आजाते हैं तब वैराग भावनाके बलसे और इस विचारसे कि मैंने भूतकालमें पराधीनपनें बहुत बार अरतिभावको सहन किया है, उसके मुकाबिलेमें इस समयका अरतिभाव बहुत तुच्छ है तथा मैंने मोक्षमार्गके भोक्ताका बाना स्वीकार किया है। मुझे तो कर्मोदयमें समभाव रखना चाहिये। इसतरह अरति परीषहका विजय करते हैं। और शांत रसका पान करते हैं। जो तपस्वी मिथ्यादृष्टि हैं वे अरति-कारक द्रव्य, क्षेत्र, काल भावके होनेपर आकुलित होकर उसके भी प्रतिकारक अनेक प्रकार उपाय करते हैं, वे पंचेन्द्रियके विषयोंके विजयी न होनेसे तथा शुद्धात्मीक रसका पता यथार्थ न पानेसे संसार-मार्गमें ही रहते हुए कभी भी मोक्षमार्गपर नहीं चल सकते हैं।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी शुद्ध निश्चयनयके बलसे भेदविज्ञानकी अपूर्व शक्तिको रखते हुए अपने आत्माको और परमात्माओंको एक समान शुद्ध देखते हुए समताभावका सुन्दर रसपान करते हैं। ऐसे ज्ञानी गृहस्थ हो वा साधु, कर्मोंके उदयसे होनेवाले मनोज्ञ या अमनोज्ञ

संयोगोंमें समभाव रखकर व कर्मकी निर्जरा होती हुई जानकर ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं और पुनः पुनः आत्मानंदका लाभ करते हैं।

२५२–स्त्री परीषह–संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके विरोधका विचार कर रहा है। संवर तत्वके अधिकारी वे ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मुनि हो सकते हैं जो सर्व आरम्भ परिग्रहसे रहित होकर पञ्चइन्द्रियोंको कूर्मवत् संकोच करनेवाले हों, जिन्होंने तृष्णाकी दाहको आत्मीक आनन्दके शांतरसके पानसे शांत कर दिया हो, जो अन्तर्मुहूर्तसे अधिक आत्मीक आनन्दके लाभसे बाहर नहीं रहते हों, जिन्होंने समभावसे सर्व प्राणीमात्रको एक समान देख लिया हो। स्त्री पुरुषका विकल्प जिनके मनसे निकल गया हो, ऐसे धीरवीर ऋषि मोक्षद्वीपके सच्चे पथिक होते हैं, रत्नत्रय मार्गपर चलते हुये कर्मोदयसे प्राप्त बाईस परीषहोंका शांतिसे विजय करते हैं, कभी उन्मत्त प्रमदाओंके मनोहर गानके श्रवणसे, उनके रूप लावण्यके अवलोकनसे, उनके हावभाव विलास विभ्रमके कटाक्षोंसे, पूर्व गृह संबंधी कामरतके स्मरण हो जानेसे अथवा किन्ही चंचल स्त्रियोंके द्वारा अनेक प्रकार नृत्य, कौतूहल, वाग्विलास आदिसे मन डिगानेकी चेष्टा किये जानेपर अन्तरङ्ग चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे स्त्री सम्बंधी विकारभाव चित्तमें आ जानेपर स्त्री परीषहको वे मुनिगण इस तरह विजय करते हैं–प्रथम तो निश्चय-नयसे विचारते हैं कि मैं पौद्गलिक द्रव्य नहीं, मैं केवल शुद्ध आत्म द्रव्य हूं, मैं परम ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यका धनी हूं। मैं निरन्तर स्वात्मानुभूतियोंमें परम सन्तोषसे रमण करनेवाला हूं, मुझ असंगके स्त्री

परीषह संभव ही नहीं है। मैं संपूर्ण जगतकी आत्माओंको अपने समान शुद्ध स्त्री पुरुषके भेदसे रहित देखनेवाला हूं। ऐसा विचार करके प्रमत्त गुणस्थानसे अप्रमत्तमें चढ़ जाते हैं और अन्तर्मुहूर्तके लिये परम ब्रह्मचर्यमें स्थिर होकर वीतरागभावका अनुभव करते हैं, पश्चात् प्रमत्त गुणस्थानमें आ जाते हैं तब वैराग्यभावनासे स्त्री परीषहका विजय करते हैं। वे विचारते हैं कि उत्तम धर्मध्यानके लिये मैंने निर्ग्रन्थ द्रव्यलिंग धारण किया है, ब्रह्मचर्य महाव्रतका नियम लिया है, मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनारूप नौ कोटिसे अब्रह्मभावका त्याग किया है। मैं संयमी हूं, जगतके विषयोंका ज्ञातादृष्टा मात्र हूं; रागद्वेष करनेका मेरा धर्म नहीं है, तथा जो मानव स्त्रीके मोहमें गृसित होजाते हैं वे संसार-सागरमें डूब जाते हैं, ऐसा विचार वे कामभावके विकारको चित्त-की भूमिसे धो डालते हैं और वीर सिपाहीके समान मोक्षमार्गमें गमन करते रहते हैं। जो मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा आत्मीक रसके स्वादसे विहीन तपस्या करते हैं, वे स्त्रियोंके मोहजालसे फंसकर भ्रष्ट होजाते हैं, और अब्रह्म भावसे कभी भी ब्रह्मचर्यके आदर्शको नहीं पा सकते। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी ज्ञान वैराग्यसे भूषित होते हैं, वे परम रसिक भावसे स्वात्मानु-भूति तियामें रमण करते हैं। ऐसे वीरपुरुष कर्मोदयमें समभाव रखते हुये शुद्धात्मीक श्रद्धाके बलसे शांत रसका पान करते हैं।

१५३-चर्या परीषह-संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर ता है। मोक्षके अधिकारी वे ही धीरवीर निर्ग्रन्थ मुनि होसकते हैं

जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी निश्चय रत्नत्रयमें आराधनारूप भाव मुनिलिंगको धारण करते हैं। और सर्व आकांक्षाओंसे रहित होकर आत्मीक आनन्दमें तृप्त रहते हैं, परमाणु मात्र भी परपदकी चाह नहीं करते। वे मुनि निश्चय चारित्रके सहकारी (निमित्त) कारण व्यवहार चारित्रको भी आचार शास्त्रके अनुसार पालते हैं। इसलिये वे वर्षाकालके ४ मास सिवाय साधारण नियमके अनुसार नगरके बाहर ५ दिवस और ग्रामके बाहर एक दिवससे अधिक विश्राम नहीं करते हैं। निर्ममत्व भावके लिये तथा धर्मप्रचारके लिये और माधुरी वृत्तिको अवलम्बन करते हुये गृहस्थको भाररूप न होने देनेके लिये सदा विहार करते हैं। वे नंगे पैर पादत्राण विना कंकरीली ऊंचे नीचे पाषाणवाली गरम रेती, ठण्डी रेती आदिके विकट मार्गोंमें दिवसके समय प्रकाशके होते हुये चार हाथ भूमि आगे निरख कर धीरे २ ईर्यासमिति पालते हैं। वे विश्व प्राणियोंके दयालु किसी भी स्थावर या त्रस प्राणीको बाधा पहुंचाना नहीं चाहते। इसीलिये प्रासुक रौंदी हुई भूमिपर ही चलते हैं। पूर्व अवस्थामें ग्रहण किये हुये नानाप्रकार वाहनोंका स्मरण नहीं करते हैं।

विकट मार्गपर चलते हुये कर्मके उदयसे चलनेकी बाधा उपस्थित होनेपर चर्यापरीषहकी इस प्रकार विजय करते हैं—प्रथम तो वह निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं अमूर्तीक परम शुद्धात्मा हूं, ज्ञानदर्शन सुखवीर्यादि सम्पदाका स्वामी हूं, मैं सदा अपने ही स्वरूपके भीतर ही चलता हूं व रमण करता हूं, मुझे शरीर सम्बन्धी चर्याकी बाधा सम्भव ही नहीं है। ऐसा विचारकर वे अप्रमत्तगुणस्थानमें चढ़ जाते हैं, और

एकतान होकर आत्मीक शुद्ध परिणतिमें रमण करते हैं। व परमानंदका ऐसा उपभोग करते हैं कि चर्याका विकल्प भी नहीं रहता। अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जब प्रमत्त गुणस्थानमें आते हैं तब वैराग्य भावनासे चर्या परीषहको विजय करते हैं। वे विचारते हैं कि मैंने अनेक जन्मोंमें निर्धन अवस्थामें काष्ठभार लेकर नंगे पैर कोसों कड़ी धूपमें चर्या की है, उसके सामने यह चर्या अति तुच्छ है। मुझे ऐसी २ छोटी २ बाधाओंको वीर योद्धाके समान साहसपूर्वक जीतना चाहिये। इस तरह चर्या परीषहका विजय कर संवरभावमें दृढ़ रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी चलनेकी बाधाको न सहकर पादत्राण रखते हैं वा अनेक प्रकारके वाहनोंपर आरूढ़ होकर विचरते हैं, वे मोक्ष जीवके पथिक नहीं हो सकते। सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोदयमें निर्जरा होना अपना हित विचार कर कुछ भी आकुलित नहीं होते और अपने शुद्ध स्वरूपके विश्वाससे सन्तोषी रहते हुए जब चाहे तब आत्मीक आनंदरसका पान करते हैं।

१५४–निषद्या परीषह–संवर भाव।

अज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके विरोधका उपाय विचार रहा है। शिव कन्याका वरण एक परम दुर्लभ पुरुषार्थ है, इसका साधन वही वीर कर सकता है, जो श्री महावीर भगवानके समान निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर परम शांतिसे उपसर्ग परीषह सहन कर सके, निराकुल होकर आत्मध्यानका अभ्यास करें। वीर दिगम्बर जैन साधु स्मशानभूमि, पर्वतकी गुफा, भयानक वन आदि कठिन कठिन स्थानोंपर पद्मासन, कायोत्सर्ग, वीरासन आदि अनेक आसनोंको

लगाकर व अन्तरंगमें मन वचन कायके सर्व विकल्पोंको त्याग कर निर्विकल्प समाधिमें लय हो आत्मानंद रसका पान करते हैं। कदाचित् ध्यानमें बैठे हुये साधुको वनके सिंहादि पशुओंके शब्दोंसे व पूर्व गृहस्थ अवस्थामें सुखजनक बैठनेके आसनोंके स्मरणसे व कठोर भूमिके निमित्तकाल तक स्पर्शसे खेदभाव चारित्र मोहनीयके उदयसे उत्पन्न होजावें तो वे महात्मा इस निषद्या परीषहको इस प्रकार विचार करके विजय करते हैं—प्रथम तो निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं शरीर नहीं, मन नहीं, द्रव्य कर्म नहीं, रागादि भावकर्म नहीं, पौद्गलिक मूर्तिके द्रव्य नहीं, मैं तो अमूर्तीक परम शुद्धात्म द्रव्य हूं। और सुख सत्ता चैतन्य बोध इन ४ अविनाशी प्राणोंसे सदा जीवित रहता हूं। मैं असंख्यात प्रदेशी हूं, मैं सदा ही अपने आत्माकी परम गुप्त गुफामें बैठकर अपने ही द्वारा अपने ही आनंदका सदा ही विलास किया करता हूं। भूत भावी वर्तमान तीनों कालमें एकरस रहता हूं। मैं न साधु हूं, न गृहस्थ हूं। मैं वास्तवमें नाम निर्देशसे दूर हूं, गुणगुणीके भेदसे परे हूं, एक अभेद्य स्वानुभवगोचर पदार्थ हूं। मुझमें निषद्या परीषहका कोई अवकाश नहीं है, ऐसा विचार करके साधु अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ़ जाते हैं, और अंतर्मुहूर्तके लिये सर्व विकल्पोंसे परे हो शुद्धोपयोगमें रमण कर परमानंदका लाभ करते हैं। अंतर्मुहूर्त पश्चात् जब प्रमत्त गुणस्थानमें आते हैं तब वैराग्य भावनाके बलसे व इस विचारसे कि मेरी आत्माने भूतकालमें अनेक पराधीनताओंमें रहकर निषद्याके घोर कष्टोंको सहन किया है उसके सामने तुच्छ अब कुछ महत्व नहीं रखता है। इस तरह निषद्या परीषहका विजय कर संवरभावमें दृढ़तासे जमे रहकर मोक्षमार्गमें उत्सा-

इसे आगे बढ़ते जाते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी आदि अनेक प्रकार कष्टप्रद तपस्या करते हुये मनमें खेद प्राप्त करते हैं। वे ध्यानके आसनके कष्टको न सह सकनेके कारण आसन बदल लेते हैं, व आर्तध्यानमें रत होजाते हैं. वे कभी मोक्षमार्गका साधन नहीं कर सकते। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव निरन्तर अपना स्वामित्व अपनी ज्ञानानंदादि विभूतिमें रखते हुये सदा ही अपनेको अकर्ता और अभोक्ता मानते हैं, कर्मोदयसे प्राप्त बाधाओंमें कर्मकी निर्जरा समझ लाभ मानते हुये परम सन्तोष रखते हैं तथा जब चाहे तब अपने भीतर भरे हुये आनंदसागरमें आत्मानुभव रूपी नाव लेकर मग्न करते हैं और परम शांतिका विस्तार करते हैं।

१५५-शय्या परीषह-संवरभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर रहा है। स्वतंत्रता लाभ उसी वीर महात्माको हो सकता है जो आत्मस्वातंत्र्यका पुजारी हो, जो केवल अपने शुद्धात्माका श्रद्धान ज्ञान चरित्र रखते हुये स्वानुभवमें लीन हो। साम्यभाव व स्वसमयको ही परमधर्म जानता हो। जिसके भीतर निर्विकल्प समाधिभावका साम्राज्य हो। जो श्री महावीरस्वामी २४ वें तीर्थंकरके समान भावलिंग और द्रव्यलिंगसे विभूषित हो। जैसे भावलिंग शुद्धात्मरमणरूप एक असंगभाव है, वैसे ही द्रव्यलिंग सर्वपरिग्रह रहित परमनिर्ग्रंथ असंगभाव है। यथाजातरूपधारी दिगम्बर मुनि ही उस यथाख्यातचारित्रको आचरण कर सकते हैं जो अंतरंग चारित्रके लिये आवश्यक निमित्त

कारण हैं। ऐसे ही वीर महात्मा बाईस परीषहोंको विजय करते हैं।

जैन साधुगण स्वाध्याय, ध्यान व मार्गमें विहारके खेदको निवारण करनेके लिये एक अन्तर्मुहूर्त मात्र कंकरीली खुरखुरी गर्म या ठंडी कैसी ही भूमिपर एक पखवाड़े काष्ठके समान शयन करते हैं। अन्तरंगमें भावना आत्मरस भावकी रखते हैं। इस तरह शयन करते हुये कदाचित् कोई उपसर्ग या कष्ट आपड़े अथवा गृहस्थके जीवनमें नाना प्रकार कोमल आसनोंपर सुखसे शय्या करनेकी बात स्मृतिमें आ जावे तब असातावेदनीय कर्मके उदयसे शय्या परीषहका उदय होजाता है। उस समय ज्ञानी साधु इस तरह विचार करते हैं— प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं अमूर्तीक अविनाशी चैतन्यमई पदार्थ हूं, सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोंका पूर्णपने स्वामी हूं। मैं सदा ही समताकी शय्यापर शयन करता हुआ आत्मानंदका निरन्तर भोग करता हूं। मेरा सम्पर्क किसी भी पर पदार्थसे नहीं है, जिससे मुझे शय्या परीषह सम्भव हो। ऐसा विचार कर अप्रमत्त भावमें आरूढ होजाते हैं, और स्वानुभूतिमें तन्मय हो शांत रसपान करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब अप्रमत्तभावमें आते हैं, तब विचारते हैं—इस अनादिकालीन भवभ्रमणमें मैंने पराधीनपने अनेकबार कष्टप्रद शयन किये हैं, उन कष्टोंके सामने वर्तमान कष्टका विकल्प अति तुच्छ है, तथा मैंने मोहशत्रुके विजय करनेका दृढ़ संकल्प किया है। मुझे उचित है कि समभावकी ढालसे कर्मोदयकी खड्गोंका निरोध करूं। किसी भी तरहके तीव्र कर्मोदयमें किंचित् भी आकुलित नहीं होऊं। मेरे सामायिक चारित्रकी रक्षा आत्मवीर्यके दृढ़ प्रयोगसे ही होसकती है।

इत्यादि विचार कर शय्या परीषहका विजय करते हुये संवरभावकी भूमिकामें जमे रहते हैं।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि तपस्वीगण इस परीषहको सहनेमें असमर्थ होकर नानाप्रकार कोमल आसनोंपर शयन करते हैं, जब कि जैन साधु भूमिपर एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक निद्रा नहीं लेते तब ये तपस्वी घंटों निद्राके प्रमाणमें समयको विताते हैं। ऐसे प्रमादीजन मोक्षमार्गपर चलनेके लिये असमर्थ हैं। वे कभी कर्मकी परतंत्रतासे छूट नहीं सकते। उनको आत्म–स्वातंत्र्यका कभी लाभ नहीं होसकता। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव ज्ञान चेतनाके श्रद्धावान होकर निरन्तर ज्ञानरसका पान करते हैं। शुभ अशुभ कर्मोंके उदयमें समभाव रखते हुए आकुलित नहीं होते। अपनेको जीवन्मुक्त अनुभव करते हुये स्वातंत्र्यके मार्गपर बढ़ते जाते हैं और आत्मानंदका लाभ करते रहते हैं।

१५६–आक्रोश परीषह–संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि मैं अनादि अविद्यासे ग्रसित था, पुद्गल कर्मकृत भावोंमें, रचनाओंमें, आसक्त था। पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें मग्न था, चार कषायोंके वशीभूत था, अपने स्वरूपसे वेखबर था, श्रीगुरुके प्रसादसे मुझे तत्वज्ञानका लाभ हुआ, कर्मोंकी परतंत्रतासे उदासी हुई, आत्म स्वातंत्र्यका प्रेम उत्पन्न हुआ। अब मुझे कर्मशत्रुओंको जीतकर स्वातंत्र्य लाभ करना चाहिये ऐसा विचारकर कर्मशत्रुओंसे आगमनके द्वारोंके निरोधका मनन कर रहा है। वह जानता है कि स्वतंत्रताका लाभ उस हीको हो सक्ता है, जो स्वतंत्र-

ताका एक मात्र उपासक हो, जो परतंत्रतासे पूर्ण उदासीन हो, जो रत्नत्रयमें शुद्धोपयोग रूप भावलिंगका धारी हो, जो भावलिंगके निमित्त-भूत यथाजात रूप निर्ग्रन्थ द्रव्यलिंगका धारी हो, जो जीवन मरण— लाभ हानि, कंचन कांच, शत्रु मित्र, सुख दु ख, नगर स्मशानमें समभावका धारी हो । ऐसे वीर निर्ग्रन्थ साधु नाना स्थानोंमें विहार करके आत्म साधन करते हुये धर्मकी प्रभावना करते हैं । कदाचित् उनके महनीय रूपको न पहचानकर दुष्ट बुद्धिधारी मिथ्यादृष्टि जीव अनेक प्रकार उपहास करते हैं और निन्दनीय वचन बोलते हैं । कभी गृहस्थ अवस्थामें होनेवाले उनके विरोधी इस समय उनको देखकर क्रोधित हो तिरस्कारके असहनीय कटुक वाक्य प्रहार करते हैं, जिनके सुनने मात्रसे क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो सकती है ऐसे मर्मभेदी शब्दोंको सुनते हुये कदाचित् निर्ग्रन्थ मुनिके भावमें चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे मुझे दुर्वचन कहे "ऐसा दुर्विकल्प उठ आता है । अर्थात् आक्रोश परीषहका उदय होजाता है ।"

उसी समय वे धीरवीर ज्ञान भावनाकी ढालसे उसका विजय करते हैं । प्रथम तो वे निश्चयनयमें विचारते हैं कि मैं अमूर्तिक चैतन्य धातुमय मूर्तिधारी परम शुद्ध एक आत्म द्रव्य हूँ, मैं सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, आदि गुणोंका धारी अभेद पदार्थ हूँ, मैं सदा ही अविनाशी अजर अमर हूं, पुद्गलका मेरे साथ कोई सम्बंध नहीं है, न मेरे पास पांच इन्द्रियां हैं, पौद्गलिक शब्दोंको ग्रहण करनेके लिये कर्ण इन्द्रियका अभाव है, न मेरेमें राग द्वेषकी कालिमा है अतएव आक्रोशपरीषहकी संभावना ही नहीं

है, ऐसा विचार कर अप्रमत्त भावमें चढ़ जाते हैं, और अंतर्मुहूर्त लिये स्वरूप-संवेदी हो परमानंदमें मगन होजाते हैं, मनके विकल्पोंसे छूट जाते हैं। पश्चात् प्रमत्त गुणस्थानमें आनेपर आक्रोश सम्बंधी विकल्प फिर उठ आता है उसको ज्ञान वैराग्यकी भावनासे जीतते हैं। वे विचारते हैं कि शब्दोंके सुननेसे विकारी होना ज्ञाता पुरुषकी कमजोरी है, मुझ वीरको कभी कायर नहीं होना चाहिये।

मैंने अनादि संसार-भ्रमणमें पराधीनता पूर्वक अनेक पशु और मनुष्योंके दीन हीन शरीरोंमें रहते हुये महा घोर दुर्वचन सहे हैं, उनके सामने ये वचनावली अत्यन्त तुच्छ है, इसतरह विचार कर संवर भावकी भूमिकामें खड़े रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी दूसरोंके द्वारा कहे गये दुर्वचनोंको सुनकर कुपित होजाते हैं, क्रोधांध हो श्राप देते हैं उसका अहित विचारते हैं। ऐसे कायर मनुष्य स्वतंत्रताका काम नहीं कर सकते। वे तो कर्मकी जंजीरोंमें बंध हुये चारों गतियोंमें भ्रमण करते रहते हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव आत्मीक स्वभावके परम रसिक होते हैं, अन्य सर्व सांसारिक प्रपंचोंसे पूर्ण उदासीन होते हैं। वे कर्मोदयसे प्राप्त दुख सुखमें समभाव रखते हैं और अपने आत्मीक उपवनमें रमण करते हुवे सुख शांतिका भोग करते हैं।

१५७–वधपरीषह–संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा स्वातंत्र्य लाभके लिये कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारोंके निरोधका विचार कर रहा है। मोक्षलाभ परम दुष्कर पुरुषार्थ है। इसको वही निर्ग्रंथ वीर महात्मा साधन कर सकते हैं जो अहिंसा

धर्मके पूर्ण पालनेवाले हों, रागादि भाव हिंसासे पूर्णरहित हों, स्थावर और त्रसकी द्रव्य हिंसासे भी पूर्ण रिक्त हों, उत्तम क्षमा जिन वीरोंका आभूषण हो, जो कष्ट दिये जानेपर, शस्त्रादिसे प्रहार किये जानेपर व वध किये जानेपर भी कभी परिणामोंमें द्वेषभाव या खेदभाव नहीं लाते हैं, वे अंतरंग भावकी पूर्ण रक्षा करते हैं, क्रोध कषायकी अग्निसे अपनी तपस्यामें किंचित् भी आंच लगने नहीं देते। ऐसे वीर साधु भिन्न २ स्थानोंमें विहार करते हुए कभी कहीं दुष्ट मनुष्योंके द्वारा या भिलादिकोंके द्वारा पीडित किये जाते हैं अथवा पूर्व अवस्थाके शत्रुओंके द्वारा प्रहारित वा प्राणघात तकका कष्ट सहन करते हैं। असातावेदनीयके तीव्र उदयसे वधपरीषहका तीव्र उदय हो जाता है, उसी समय वे सावधान होकर बड़े धैर्यसे विजय करते हैं।

प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं अमूर्तीक अविनाशी आत्मा हूं, ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व चारित्र सुख, वीर्यादि गुणोंका सागर हूं, मेरे स्वभावमें किसी पुद्गलका प्रभाव नहीं पड़ सकता, मेरे सुख सत्ता चैतन्य बोध इन ४ भावप्राणोंका कोई वध नहीं कर सकता इसलिये कोई आत्मामें वधपरीषहकी सम्भावना नहीं है। ऐसा विचार कर तुरत अप्रमत्तभावमें चढ़ जाते हैं और उपयोगको शुद्ध आत्मीक परिणतिमें लीन करके मन वचन कायकी तरफसे रोक लेते हैं। परम समता भावसे स्वानुभवसे उत्पन्न आनन्द—अमृतका पान करते हैं। अंतर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्तभावमें आ जाते हैं, अन्यत्व भावना भाते हैं, अपने आत्माको आकाशतुल्य अछेद्य विचारते हैं तथा ये मनन करते हैं कि मेरी आत्माने इस अनादिकालीन संसारमें भव भ्रमण करते

हुए एकेन्द्री आदि अनेक शरीरोंको धारते हुए दुष्ट पशुओंके द्वारा बड़ी निर्दयतापूर्वक प्राणघातके असह्य कष्ट सहन किये हैं। तथा वध नाशवंत शरीरका है, मेरे आत्माका नहीं। इत्यादि भावनाओंके द्वारा वधपरीषहको विजय करते हैं और शान्तभावसे ध्यानमें लीन हो उच्चगति प्राप्त करते हैं। समाधिमरण करके परतंत्रताकी बेड़ियोंको काटनेका प्रयत्न करते हैं।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तापसीजन दूसरोंके द्वारा ताड़ित व प्राणोंका घात होते हुए महान् कुपित होजाते हैं। क्रोधभावसे क्षमा गुणका नाश कर देते हैं। अतएव ये स्वतंत्रताकी प्राप्ति कभी नहीं कर पाते। समभावके विना स्वातंत्र्य लाभ दुष्कर है। समभावकी अग्नि कर्म-शत्रुओंको क्षणमात्रमें भस्म कर देती है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मतत्वके गाढ़ प्रेमी होते हैं। जगतके प्रपंचको नाटकके समान देखते हैं। वे कर्मोदयमें समभाव रखते हुए ज्ञान चेतना द्वारा स्वसंवेदन करते हुए परमानन्द प्राप्त करते हैं और मोक्षमार्ग पर बढ़ते चले जाते हैं।

१५८—याचना परीषह-संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताकी प्राप्तिके लिये कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारा निरोधका विचार कर रहा है। मोक्षका लाभ उन्हीं महात्माओंको होता है जो तीर्थंकरोंके समान भाव-द्रव्यलिंगके धारी हैं, बारह प्रकारका तप करते हैं, निरन्तर आत्माकी भावना भाते हैं, जो दिनमें एक दफा भिक्षावृत्तिसे भक्तिपूर्वक गृहस्थ द्वारा दिये हुए आहारको ग्रहण करते हैं, ऐसे साधुओंको भिक्षाका अलाभ होनेपर वा कई २

दिन अन्तराय पड़ जानेसे शरीर कृश होजाता है। कर्मोदयसे याचना करनेका भाव परिणाम हो जाता है। अर्थात् याचना परीषहका उदय हो जाता है, तब वे ज्ञानी इस परिणामको रोककर कभी भी आहार आदिकी याचना नहीं करते हैं। वे सिंहवृत्तिके धारी होते हैं। दीनता करना कायरता समझते हैं। प्राण जानेपर भी याचना नहीं करते, वे ज्ञानी इस परीषहको इस तरह जीतते हैं—

प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं एक शुद्ध आत्मा हूं, मेरा पुद्गलसे कोई सम्बन्ध नहीं, मैं पूर्ण दर्शन ज्ञान सुख वीर्यका धनी हूं, मैं अमूर्तिक अविनाशी हूं, मेरा चेतनमई देह आत्म वीर्यसे सदा पुष्ट रहता है। मैं आत्मानुभव करता हुआ नित्य आनन्द-अमृतका पान करता हूं। मुझे कभी निर्बलता नहीं होती है, न कभी रोग होता है। मैं अपनेसे ही अपनेको ज्ञानामृत प्रदान करता हूं। मुझे किसीसे याचनाकी जरूरत नहीं है। ऐसा विचार कर अप्रमत्त गुणस्थानमें वे साधु चढ़ जाते हैं। और आत्मध्यानमें ऐसे लवलीन होजाते हैं कि उनका उपयोग अपने आत्माके सिवाय किसी भी परवस्तु पर नहीं जाता है। वहां वे परम तृप्तिको अनुभव करते हैं, अन्तर्मुहूर्त पीछे वे प्रमत्तभावमें आजाते हैं तब वे वैराग्य भावना भाते हैं। शरीरको धर्मका सहकारी जानकर रखना चाहते हैं, शरीरके लिये धर्मका नाश नहीं चाहते।

मुनि धर्मकी यह रीति है कि भक्तिपूर्वक गृहस्थके द्वारा दिया हुआ आहार ही ग्रहण करें। मैंने संसार—भ्रमणमें अनेक जन्म दीन-हीन पशु मानवके धारण किये हैं। दीनता करके आनंदकी याचना

की है तो भी असाताके उदयसे लाभ नहीं कर सका हूं। उस समयकी वेदनासे वर्तमान वेदना अत्यंत तुच्छ है। मुझे वीर योद्धाके समान कर्मशत्रुका प्रहार सहन करना चाहिये। इस तरह विचार कर याचना परिषहका विजय करते हैं। भूल करके भी किसीसे याचनाका संकेत नहीं करते हैं। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी तपस्वी क्षुधाकी वेदना सहनेमें असमर्थ होकर दूसरोंसे याचना करते हैं, दीन वचन बोलते हैं, भिक्षा न मिलने पर क्रोध करते हैं, वे कभी भी मोक्षमार्गके पथिक नहीं होसकते।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव निश्चय सम्यक्त्वके प्रभावसे अपनेको सदा जीवनमुक्त समझते हैं। आत्माके शुद्ध परिणमनको अपना कार्य जानते हैं। वे निज स्वभावके ही कर्ता भोक्ता बने रहते हैं। मन वचन कायकी क्रियाको चारित्र मोहके उदयवश करते हैं, शुभ अशुभ कर्मके उदयमें समताभाव रखते हैं। और जब चाहते तब अपने ही भीतर परमात्मा-देवका दर्शन कर परम शांतिलाभ करते हैं।

१५९–अलाभ परीषह संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताकी प्राप्तिके हेतु कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारोंको रोकनेका विचार कर रहा है। आत्मस्वातंत्र्य उसीको प्राप्त होसकता है जो आत्मस्वातंत्र्यका पुजारी हो, जो तीर्थंकरोंकी भांति निश्चय रत्नत्रयमई शुद्धोपयोगका आराधक हो और उसकी प्राप्तिके लिये यथाजात रूप निर्ग्रंथलिङ्गका धारी हो। ऐसे जैन साधु दिन रातमें एक दफे दिनमें भिक्षा-वृत्तिसे गृहस्थ द्वारा दिये हुये आहारका उपयोग करते हैं। कभी याचना नहीं करते। वे पवनके समान असंग

रहते हुये-भोजनके समय गृहस्थ श्रावकोंके घरोंके निकट जाते हैं। यदि कोई प्रतिष्ठा पूर्वक पड़गाहता है तो आहार ग्रहण करते हैं। ऐसे जैन साधु अनेक देशोंमें विहार करते हैं। कभी २ भोजनका लाभ नहीं होता है। यह साधु वृत्तिपरिसंख्यान तप पालते हैं। कोई खास नियम धारण कर भिक्षार्थ जाते हैं। कभी कई २ दिन तक नियमकी पूर्ति नहीं होती है, भोजनका अलाभ रहता है। कभी२ भोजन आरम्भ करते ही अन्तराय पड़ जाता है। ऐसा लगातार हो सक्ता है। इत्यादि कारणोंके होनेपर तीव्र अन्तरायकर्मके उदयसे अलाभ परिषहका उदय होजाता है, तब वे साधु समभावसे इसको जीतते हैं। प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं एक अमूर्तिक शुद्ध आत्मा हूं। मेरा पुद्गलसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं पूर्ण ज्ञान-दर्शन सुख वीर्यका धनी हूं। मैं निरन्तर अपने ही आत्माके अनुभवसे प्राप्त आत्मानन्दका लाभ करता रहता हूं। जिससे परम सन्तोषित रहता हूं। मुझे कभी अलाभ नहीं होता। इसतरह विचार कर वे साधु अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ़ जाते हैं और अन्तरमूहूर्तके लिये आत्म-समाधिमें विश्राम करते हैं। तब भोजनके अलाभका भी विकल्प नहीं होता। तब वे आत्मानन्दका उपभोग करते हैं। अन्तरमूहूर्त पीछे जब वे प्रमत्त भावमें आजाते हैं तब वे वैराग्यभावना भाते हैं। शरीरको आत्मासे प्रथक् विचारते हैं तथा यह सोचते हैं—

मैंने इस अनादि भव-भ्रमणमें अनेकवार पशु व मनुष्यके देह धारण किए हैं, वहां लाभांतरायके उदयसे अनेकवार भोजनका लाभ नहीं हुआ है, तीव्र क्षुधा वेदनासे प्राणों तकका वियोग किया है।

उस पराधीन अवस्थाकी अपेक्षा यह अलाभ बहुत तुच्छ है। इस-तरह विचारकर समभावसे अलाभ परिषहका विजय करते हैं। मिथ्या-दृष्टि अज्ञानी तपस्वी भोजनके अलाभमें आकुलित होते हैं, भिक्षा मांगते हैं। वह वनके फलादि स्वयं तोड़कर खा लेते हैं। वे अचौर्य महाव्रतको नहीं पालसक्ते हैं। इसलिये वे स्वतन्त्रताका कभी लाभ नहीं कर सक्ते। कर्मके बन्धनसे भव भ्रमणमें ही रहते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव निरन्तर आत्मानन्दके भोजनको ही अपना भोजन समझते हैं। और जब चाहे तब आत्मस्थ होकर उसका लाभ कर लेते हैं। कर्मोदयसे बाहरी पदार्थोंके लाभ व अलाभमें वे समभाव रखते हैं, आकुलित नहीं होते, जगत प्रपंचके ज्ञातादृष्टा रहते हुए परम शक्तिका लाभ करते हैं।

१६०—रोगपरिषह—संवरभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारका निरोध विचार रहा है। मोक्षका साधन वे ही वीर निर्ग्रन्थ साधु कर सकते हैं जो शरीरादिसे पूर्ण निर्ममत्व हों और शुद्धोपयोगकी भूमिकामें चलते हुए धर्मध्यानका अभ्यास करें, जो सर्व परिग्रहके त्यागी हों, शरीरके संस्कारसे भी रहित हों, रत्नत्रयरूपी भंडारकी रक्षाका कारण शरीरको समझकर उसको शुद्ध आहार देकर रक्षित रखते हों। वे शरीरके लिये स्वयं आरम्भ नहीं करते हैं। भिक्षावृत्तिसे गृहस्थ दातारसे दिये हुए भोजनपान औषधिको मौन सहित सन्तोषपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। इस मुनिपदको निरोगी स्वास्थ्ययुक्त पुरुष ही धारण करते हैं। ऐसा

होनेपर भी कभी विरुद्ध आहार पानके सेवन करनेसे रोगादिक शरीरमें उत्पन्न हो जांय तो स्वयं उसका उपाय नहीं करते हैं। ऋद्धिधारी होनेपर भी ऋद्धिसे काम नहीं लेते हैं। रोगपरिषहको बड़ी शांतिसे विजय करते हैं।

प्रथम तो यह विचारते हैं कि मैं शरीर नहीं हूं, किन्तु अमूर्तीक आत्मा हूं। मेरा स्वभाव पूर्ण दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यमय है। मैं सदा ही स्वस्वरूपमें तन्मय होता हुआ स्वास्थ्ययुक्त रहता हूं। मुझे राग द्वेष मोहकी बीमारी नहीं होती है। मैं सदा आत्मानन्दका वेदन करता हूं। मुझे रोगपरिषह नहीं हो सकती, ऐसा विचार कर अप्रमत्त भावमें चढ़कर आत्मस्थ होजाते हैं, शरीरके विकल्पसे रहित होजाते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्तभावमें आते हैं तब अनित्यादि बारह भावनाओंका विचार करते हैं। तथा मेरे आत्माने अनादि कालके संसार-भ्रमणमें अनंतवार अनेक रोगोंसे पीड़ित पशु और मानवोंके शरीर प्राप्त किये हैं, पराधीनतासे बहुत कष्ट सहे हैं, उसके मुकाबलेमें यह रोगका कष्ट बहुत तुच्छ है। इसतरह विचारकर रोगकी वेदनाको परम शांतिसे सहन कर लेते हैं और अपने रत्नत्रय धर्मकी रक्षा करते हैं।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी रोग आक्रान्त होनेपर आकुलित होजाते हैं, उचित अनुचित इलाज करते हैं, दीनभावसे रोगकी परिषहको सहन नहीं कर सकते हैं, वे कभी मोक्षमार्गपर चलनेयोग्य नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि जीव भलेप्रकार अपने आत्माका सच्चा श्रद्धान रखते हैं। उनको पूर्ण विश्वास है कि मैं एक निरोग आत्मा हूं। मेरेमें

रखते हुए आत्मानंदका स्वाद लेते हैं। वे पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होते हैं। अतीन्द्रिय निजानन्दके प्रेमी होते हैं। वे शुद्ध निश्चयनयपर सदा दृष्टि रखते हैं। और दुःख सुखमें समभाव रखते हुये निराकुलताका अभ्यास करते हैं।

१६२-मल परीषह-संवरभाव.।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारोंको रोकनेका विचार कर रहा है। स्वतंत्रताका लाभ उसी वीर आत्माको हो सक्ता है जो तीर्थंकरोंकी भांति शुद्धोपयोगका अभ्यास करता हो। व उसीके लिए निमित्त कारण यथाजातरूप नग्न दिगम्बर भेषका धारी हो। और एकांत स्थानमें तिष्ठकर ध्यानका अभ्यास करता हो। जो साधुके अट्ठाईस मूलगुणोंका धारक हो। पूर्ण अहिंसाव्रतके लिये जो स्थावर जीवोंकी भी रक्षा करता हो। जलकायिक जीवोंकी हिंसा न हो, व त्रस जीवोंका भी घात न हो, इसलिये वे साधु स्नान मात्रके त्यागी होते हैं। गर्म ऋतुके कारण पसीना आनेसे शरीर पर रज जमता है तब शरीर मलीन दिखता है, उस समय कदाचित् उस साधुको अपने पूर्वके सुन्दर रूपके स्मरणसे मनमें संकल्प होजाय कि मेरा शरीर मैला है तो साधुको मल परिषहका उदय हो जाता है। इस भावको वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं शरीर नहीं हूं. शुद्ध अमूर्तीक आत्मा हूं, परमानंदमय परम सुंदर हूं। मेरेमें राग द्वेपादि व ज्ञानावरणादि कर्मकी कोई मलीनता नहीं है। मैं सदा शुद्ध भावमें रमण हूं। और निराकुलतासे अपने ज्ञानामृतका पान करता हूं।

ऐसा विचार कर वे साधु अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ़ जाते हैं और निर्विकल्प होकर आत्म–समाधिमें लीन होजाते हैं। तब मल परिषहका संकल्प नहीं होता। अन्तर्मुहूर्त पीछे वे प्रमत्त भावमें आजाते हैं, तब वैराग्य भावना भाते हैं कि यह शरीर पुद्गलमय है, परिणमनशील है, इसको स्वच्छ व मलीन देखकर रागद्वेष करना अज्ञान है, मैं श्रमण हूं।

मुझे लाभ हानि, सुवर्ण कांच, शत्रु मित्र आदिमें समभाव रखना चाहिए। शरीरकी मलीनता देखकर परिणामोंको मलीन नहीं करना चाहिए। यह शरीर भीतर महा अपवित्र है। मलका घड़ा है। नव द्वारोंसे व रोम छिद्रोंसे निरन्तर मल ही बाहर बहता है। शरीरका मोह ही बहिरात्मा होता है। मैं अन्तर आतमा हूं। मुझे शरीरमें कुछ भी राग नहीं रखना चाहिए। केवल सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमें, रत्नत्रय धर्ममें ही राग रखना चाहिए। इस तरह विचार कर मल परीषहको जीतते हैं। और संवर भावमें दृढ़ रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तापसी इस रहस्यको न समझकर शरीरकी चिंतामें रागी होते हैं, नित्य स्नान करते हैं। वे अहिंसा आदि महाव्रतोंको न पाल सकनेके कारण मोक्षमार्गके पथिक नहीं हो सकते। सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ हों या साधु सदा ही स्वतन्त्रता पर दृष्टि रखते हैं। कर्मके उदयवश संसारमें रहते हुए भी ज्ञाता दृष्टा बने रहते हैं। शुभ अशुभ कर्मोंके उदयमें समभाव रखते हैं, वे अवश्य अपनी स्वतंत्रताको प्राप्त करलेंगे। वे सदा ही आत्मरसका पान करते हुए आनन्दका लाभ करते हैं।

१६३–सत्कार पुरस्कार परिषह जय।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रताकी प्राप्तिके लिए कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारको रोकनेका विचार कर रहा है। मोक्षकी प्राप्ति उन्हीं वीर पुरुषोंको होसक्ती है जो भलेप्रकार राग द्वेष त्याग कर शुद्धोपयोगका अभ्यास करते हैं। निर्ग्रन्थ जैन साधु असंगभावसे एकान्त स्थानमें विहार करके ध्यानाभ्यास करते हैं। ऐसे साधु शास्त्रके ज्ञाता होते हुए मोक्षमार्गका मण्डन व कुमार्गका खण्डन करते हैं। अपने भाषणोंसे धर्मकी प्रभावना करते हैं। भलेप्रकार बारह तपका अभ्यास करते हैं। ऐसा होनेपर किन्हीं साधुओंकी बहुत पूजा व प्रतिष्ठा होती है, तब मान भावका विकार चित्तमें आसक्ता है अथवा बहुत प्रवीण तपस्वी होनेपर भी व जगतमें धर्मकी प्रभावना करनेपर भी कदाचित् जनसमुदाय उनका आदर नहीं करता है, किन्तु अज्ञानीजन उनका निरादर व तिरस्कार करते हैं, तब ऐसा भाव आजाता है कि मैं इतना बड़ा होनेपर भी प्रतिष्ठा नहीं पाता हूं। इस तरह चारित्र मोहंनीय कर्मके उदयसे सत्कार पुरष्कार परिषहका उदय होजाता है, जो समभावी मुनिके नहीं होनी चाहिए। ऐसी अवस्थामें धीर वीर साधु इसको जीतनेका प्रयत्न करते हैं। प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं शुद्धात्मा हूं। पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुणोंका स्वामी हूं। मैं सदा ही अपने स्वरूपमें रमण करता हूं। मेरा सम्बन्ध किसी भी अन्य आत्मासे नहीं होता है। न मेरेमें मान कषायका उदय है, जिससे प्रतिष्ठाकी कामना हो। ऐसा विचार कर वे साधु अप्रमत्तभावमें चढ़ जाते हैं। और निर्विकल्प होकर आत्मसंवेदन करते हैं।

तब वहां इस परिषहका विकल्प भी नहीं रहता है। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब वे प्रमत्त भावमें आते हैं तब ज्ञान भावनासे विचारते हैं कि मैंने कषायोंके जीतनेके लिये ही यतिपद धारण किया है। मुझे मान अपमानमें समान भाव रखना चाहिये। मुझे निरपेक्ष जैनधर्मकी सेवा करनी चाहिये। शासनके प्रचारका प्रेमी होना चाहिए। इस तरह विचार कर इस परिषहको विजय करते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपसे तप साधन करते हुए मानके भूखे होते हैं। प्रतिष्ठा पानेपर उन्मत्त होजाते हैं। अप्रतिष्ठा होनेपर क्रोधित होजाते हैं व नानाप्रकार दुर्वचन व अहित करने लगते हैं, व कभी आत्म स्वातंत्र्यका लाभ नहीं कर सकते हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव स्वतंत्रताके प्रेमी होते हुए उसीकी ओर दृष्टि रखते हैं और मन, वचन, कायको सर्व संसारी प्रपंचोंसे रोककर अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माका मनन करते हैं, तथा स्वात्मानंदका पान करते हैं। वे ज्ञानी सदा अपनेको रागादि भावोंका, ज्ञानावरणादि कर्मोंका, व शरीरादिक व जगतके कार्योंका अकर्ता तथा सांसारिक क्षणभंगुर सुखका अभोक्ता मानते हैं। वे निज शुद्ध परिणतिका कर्ता, व निजानंदका भोक्ता अपनेको मानते हैं। गृहस्थ होते हुए भी जलमें कमलवत् रहते हैं और कषायोंके जीतनेके लिये भेदविज्ञानके द्वारा आत्मानुभवका अभ्यास करते हैं और परम शांतिका लाभ करते हैं।

१६४–प्रज्ञा परिषह–संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता निरोधक कर्मशत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर रहा है। स्वतंत्रताका लाभ करनेवाला वही जैन श्रमण

होसक्ता है जो भावलिङ्ग और द्रव्यलिङ्गसे विभूषित हो। कषायोंका उपशम होकर शुद्ध भावमें रमण करना भावलिङ्ग है। बालकके समान यथाजात नग्न रूप रखना द्रव्यलिङ्ग है। ऐसे साधु रत्नत्रयकी भावनाके लिये अनेक शास्त्रोंके पारगामी होते हैं। न्याय व्याकरण ज्योतिष आदि विद्याओंमें निपुण होते हैं। द्वादशाङ्गवाणीका भी आंशिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे पूर्ण यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। तब कदाचित् ऐसा भाव होजाता है कि मैं सूर्यके समान परम विद्वान और तेजस्वी हूं। मेरे सामने दूसरे विद्वान टिक नहीं सक्ते। इस प्रकार प्रज्ञा परिषहका उदय होजाता है। तब वह ज्ञानी उसी समय परिणामोंको सम्हाल करते हैं। और इसको जीतनेका प्रयत्न करते हैं। प्रथम तो वह निश्चय नयसे विचारते हैं कि मैं पूर्ण अखण्ड अक्रिय ज्ञानका भण्डार हूं। लोकालोकका ज्ञाता हूं। परम वीतराग और निश्चल हूं। परमानंद मय परम निराकुल और कृतकृत्य हूं। मैं निरन्तर ज्ञान चेतनामय रमण करनेवाला हूं। परम समताभावका धारी हूं, मेरेमें प्रज्ञा परिषहका उदय नहीं हो सकता। ऐसा विचार कर अप्रमत्त भावमें चढ़कर निर्विकल्प होजाते हैं। और स्वानुभवमें मग्न होकर आनंदामृतका पान करते हैं।

अन्तर्मुहूर्तके पीछे प्रमत्तभावमें आजाते हैं तब विचारते हैं कि ज्ञानका अहंकार करना मूढ़ता है। जबतक मेरेको पूर्ण ज्ञान न हो तबतक ही समताभावसे शास्त्रोंका मनन करना चाहिये। ज्ञानके प्रतापसे कषायोंको जीतना चाहिये। इस समय विचार करके प्रज्ञा परिषहोंका विजय मोक्षमार्गी जैन साधु ही कर सकते हैं। अज्ञानी

मिथ्यादृष्टी तपस्वी विद्यासम्पन्न व अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता होकर अपने ज्ञानका महान् अभिमान करते हैं। किसी एकांत पक्षको पकड़कर उसकी पुष्टि करते हैं। कुयुक्तियोंसे सत्यका खण्डन करते हैं। इसी ज्ञानके विकारसे समताभावको प्राप्त नहीं कर सकते, मोक्षमार्गसे बहुत दूर होते जाते हैं। जबतक स्याद्वादरूप (सिद्धांत) से वस्तुओंका स्वरूप न समझा जायगा तबतक समदृष्टि नहीं आसक्ती है। और श्रद्धान निर्मल नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर तत्वोंका मनन करते हुए यह विचारते रहते हैं कि मेरा आत्मा अनादिकालसे कर्मोंके सम्बन्धसे संसारमें भ्रमण कर रहा है, जन्म जरा मरणके दुःखोंको भोग रहा है।

मिथ्यात्व भावके कारण अपने स्वरूपको भूल रहा है। कर्मोंके उदयसे जो अशुद्ध भाव होते हैं उन्हीं रूप अपनेको मान रहा है। मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं परोपकारी, मैं पर अपकारी, मैं तपस्वी, मैं ज्ञानी, मैं धर्मात्मा, इस अहंकारमें फंसा रहता है। कर्मोंके उदयसे जो बाहरी संयोग होते हैं उनको अपना मान लेता है। इस तरह अहंकार ममकार करते हुए व इन्द्रिय सुखमें तृषातुर रहते हुए संसारका अन्त नहीं आता है। अब मैंने जिनवाणीके प्रतापसे अपने आत्म-स्वरूपको यथार्थ पहिचान लिया है कि यह सिद्धोंकी जाति रखता है। यह परम सुखी है व निराकुल है। मेरा कर्तव्य है कि मैं स्वानुभवके पुरुषार्थसे वीतराग भावको बढ़ाता रहूं जिससे कर्मोंका संवर होता जाय और निर्जरा बढ़ती जाय, तब मैं अवश्य ही सब कर्मोंसे रहित होकर अपने निज पदको प्राप्त करलूंगा और सदाके लिए स्वतंत्र होजाऊंगा।

१६५–अज्ञान परीषह जय।

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वतंत्रताके लाभ हेतु उसके बाधक कर्म-शत्रुओंके आगमनके द्वारके रोकनेका विचार कर रहा है। स्वतंत्रताका लाभ वे ही महात्मा कर सकते हैं, जो भेदविज्ञानके द्वारा आत्मज्ञानी व आत्मानुभवी हों, जिनको निंदक प्रशंसकपर समभाव हो। ज्ञानावरणीका क्षयोपशम किन्हीं जैन साधुओंको बहुत कम होता है, इससे उनको श्रुतज्ञान व अवधिज्ञानका विशेष लाभ नहीं होता अथवा उनको अल्पज्ञ देखकर दूसरे लोग "अज्ञानी मुनि हैं" ऐसा आक्षेप करते हैं इत्यादि कारणोंसे अज्ञान परीषहका उदय होजाता है तब वे महात्मा सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे इसका विजय करते हैं। प्रथम तो वह निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं सदा ही पूर्ण ज्ञानी हूं, अज्ञानका अंश भी मेरेमें नहीं है, मैं परम वीतरागताके साथ सर्व द्रव्योंको यथार्थ जानता हुआ रागद्वेष रहित रहता हूं, और ज्ञानचेतनाके अनुभवमें लीन हो आत्मीक आनंदका सदा पान करता हूं, इस तरह विचारकर वे अप्रमत्त भावमें चढ़ जाते हैं और आत्मस्थ हो शुद्ध ज्ञानरसका पान करते हैं। अंतर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्त भावमें आते हैं तब वह विचारते हैं कि सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण है, अल्पज्ञान व विशेष ज्ञान नहीं। यदि मुझे शास्त्रका ज्ञान भेदज्ञानपूर्वक थोड़ा भी है तो कार्यकारी है, विशेष ज्ञान ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके ऊपर निर्भर रहता है। यदि मुझे अज्ञान है तो इसका खेद नहीं करना चाहिये।

मुझे दूसरेके वाक्योंको इस भावसे सहना चाहिए–जो आत्मज्ञान केवलज्ञानका कारण है, वह मुझे प्राप्त है, इससे मैं यथार्थ ज्ञानी हूं,

मुझे अज्ञानका कोई विकल्प नहीं करना चाहिये। इस तरह समभावसे वे महात्मा अज्ञान परीषहको विजय करते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी ज्ञानकी कमी होनेपर खेद करते हैं वा अनेक प्रकार सिद्धिको चाहते हैं वा दूसरोंके द्वारा अज्ञानी कहे जानेपर कार्य करते हैं, इसी लिये वे मोक्षमार्गके सच्चे पथिक नहीं होसकते।

सम्यग्दृष्टि जीव आत्मज्ञानकी लब्धिको ही ज्ञान समझते हैं। उनको विश्वास है कि यदि मैंने आत्मतत्वको परद्रव्योंके सम्बन्धसे रहित शुद्धबुद्ध ज्ञातादृष्टा परमानंदमय और वीतरागी पहिचान लिया है, और मेरे भीतर जगतके प्रपंच–जालोंसे वा किन्हीं भी परपदार्थोंसे रागद्वेष नहीं है तो मुझे यथार्थ ज्ञान है। विशेष शास्त्रज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, मोक्षमार्गमें मुख्य कारणभूत नहीं है। तब ये ज्ञान कम हो या अधिक, मुझे समभाव रखना चाहिये। ऐसा सत्य ज्ञान रखते हुए सम्यग्दृष्टि अपने आत्मज्ञानमें सन्तोषी रहते हैं, तभी तो पशु–पक्षी, नारकी आदि भी सम्यग्दृष्टि होसकते हैं। अपने स्वरूपकी पहिचान व उसकी अनुभूति ही सम्यग्दृष्टि है, यही स्वात्मानुभूति है; सीधी सड़क है जो मोक्षपथिकको मोक्षमहलमें ले जाती है। इसके विना ११ अंगका ज्ञान भी हो तोभी वह अज्ञान है, मोक्षमार्ग नहीं है। मैंने आत्मज्ञानके रसपान करनेकी कलाको पा लिया है। स्वतंत्रता मेरा आत्मीक हक़ है, ऐसा ज्ञान सम्यक्त्वीको सदा ही संतुष्ट रखता है।

१६६–अदर्शन परीषह–संवरभाव।

ज्ञानी जीव स्वातंत्र्यके लाभके लिये कर्मशत्रुओंके आगमनके द्वारके रोकनेका उपाय कर रहा है। यह जीव अनादि संसारमें मोहसे

असीभूत पाप पुण्यके आधीन होकर परतंत्र होरहा है। इस परतंत्रताका नाश वही महात्मा कर सक्ता है, जो निर्मोही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होकर चारित्र पालनेमें उद्यमवंत हो। निश्चय चारित्र स्वात्मानुभव रूप है, इसीको धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कहते हैं। इसका बाह्य निमित्त निर्ग्रंथ जैन साधुका चारित्र है, जहां बालकके समान नग्न रहकर बाईस परिषहोंका विजय किया जावे। अन्तिम परीषह अदर्शन है। किन्हीं जैन साधुओंके भीतर ऐसा विकल्प उठ सकता है कि मैंने दीर्घकालसे वैराग्यकी भावना की है, सकल शास्त्रका मैं ज्ञाता हूं, देव शास्त्र गुरुका भक्त हूं, बहुत बड़ी तपस्या करता हूं, महान् महान् उपवास करता हूं, तौ भी मेरे भीतर कोई अतिशय चमत्कार उत्पन्न नहीं हुए। सुनते हैं कि 'साधुओं' को बड़े प्रातिहार्य व ऋद्धियां सिद्धियां होजाती हैं। क्या ये कथन प्रलाप मात्र ही हैं? इस तरह मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे अदर्शन परीषहका उदय होजाता है। उसी समयमें साधु निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं एक अखंड असंग आत्मा हूं। पूर्ण वीर्य, सुख, दर्शन, ज्ञानका धनी हूं।

परम अमूर्तीक अविनाशी सिद्धके समान शुद्ध हूं। सम्पूर्ण आत्मलाभ मुझे प्राप्त है, मेरेमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी पूर्णता है। मुझे कोई रिद्धिसिद्धि प्राप्त नहीं करनी है ऐसा विचार कर वे सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें चढ़ जाते हैं, और थोड़ी देरके लिये बिलकुल आत्मस्थ होकर निश्चय सम्यग्दर्शनका स्वाद लेते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्त भावमें आ जाते हैं तब विचारते हैं कि किसी चमत्कार रिद्धिसिद्धिका पाना तपस्याका हेतु नहीं है, ये सब बातें विशेष

पुण्योदयसे होजाती हैं। मोक्षमार्गका साधन स्वानुभवके लिये करना चाहिये, किसी और बातका लोभ करना मूर्खता है। इस तरह तत्वका मनन कर वे मिथ्यात्वके उदयको जीत लेते हैं। मिथ्यादृष्टि साधु मोक्ष व मोक्षमार्गके स्वरूपको ठीक न पाकर बहुधा चमत्कारोंके लिये ही तप करते हैं। कोई अतिशय दिखाकर भक्तोंसे पूजा कराते हैं। जितनी अधिक मान्यता होती है उतने अधिक प्रसन्न होते हैं, और समझते हैं कि हमने महान तप किया है। ऐसे कषायवान जीव निर्वाणके सच्चे पथिक नहीं होसकते। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्दर्शनकी दृढ़तासे सांसारिक किसी भी पदार्थकी कामना नहीं करते हैं। वर्तमान भोगसामग्रीसे भी उदास रहते हैं, आगामीकी वांछा नहीं करते हैं, वे केवल स्वात्मानंदके ही उत्सुख रहते हैं। धर्मसाधन करते हुए कोई विशेष चमत्कार या अतिशय प्रगट होजाय तो उसको लाभ नहीं समझते। यदि कोई भी चमत्कार नहीं प्रगट हो तो खेद नहीं मानते। ऐसे ही ज्ञानी जीव सम्यक्त्वकी दृढ़तासे आत्मसुखका वेदन करते हुये परमशांतिलाभ करते हैं।

१६७–सामायिक चारित्र–संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओंके निरोधके भावोंका विचार कररहा है। ५ प्रकार चारित्रमें सामायिक बहुत उपयोगी है। निर्ग्रंथ साधुओंका पद परम कर्तव्य है। समय आत्माको कहते हैं। आत्मा सम्बन्धी भावको सामायिक कहते हैं। जहां केवल मात्र अभेद एक शुद्ध आत्मा लक्ष्य हो वहीं सामायिक है; जहां गुण गुणीके भेद नहीं रहते हैं, ध्याता, ध्यान, ध्येयके भेद नहीं रहते हैं, स्वपरकी चिंता नहीं रहती है।

प्रमाण नय निक्षेपका विकल्प नहीं रहता वहीं सामायिक है। इसीको शुद्धात्मानुभव कहते हैं, स्वस्वरूप कहते हैं, वीतराग चारित्र कहते हैं, परम समभाव कहते हैं। सामायिक चारित्रमें लीन मुनि ६ से ९ वें गुणस्थान तक अपने योग्य प्रकृतियोंको संवर करते हैं। निश्चयसे सामायिक एक आत्मीक भाव है। व्यवहारसे विचार किया जाय तो सामायिक चारित्रका धारी साधु दुःख सुखमें, शत्रु मित्रमें, कञ्चन कांचमें, श्मशान महलमें समभाव रखता है। वह जगतके शुभ अशुभ व्यवहारको नाटकके समान देखता है। जैसे नाटकमें खेलनेवाले पात्र कभी हंसते हैं, कभी रोते हैं, कभी दुखी कभी सुखी होते हैं, देखनेवाले मात्र देख लेते हैं, उन रूप परिणमन नहीं करते।

इसी तरह सामायिक चारित्रधारी मुनि अपने कर्मोंके शुभ अशुभ उदयमें, सुख दुःखमें व नानाप्रकार अपने शरीरके परिणमनमें समभाव रखता है। गृहस्थोंके द्वारा उद्दिष्ट रहित जैसा कुछ सरस, नीरस, आहार मिल जाय उनमें समभाव रखता है। जगत्के साथ व्यवहार करते हुये कभी प्रशंसाके कभी निन्दाके वचन सुनने पड़ते हैं, तब भी वह साधु समभाव रखता है। मुनिगण परस्पर धर्मचर्चा करते हैं, तत्वोंका मनन करते हैं, अनेक दर्शनोंका विचार करते हैं, तो भी वस्तुस्वरूपको समझकर समभावका ध्यान रखते हैं। कभी२ जैन साधु अन्य मतके विद्वानोंसे शास्त्रार्थ करते हैं, घण्टों वाद विवाद करते हैं, तो भी समभावको कभी नहीं त्यागते। उस समय व्यवहार और निश्चय दोनों अपेक्षाओंसे सामायिक चारित्रको पालते हैं। सामायिक एक मनोहर उपवन है उसमें प्रवेश कर साधुगण विश्रांति लेते हैं। जैसे मनुष्य

उपवनमें नाना प्रकारके वृक्षोंके फलफूल व पत्तोंपर दृष्टि देते हुये भ्रमण करते हैं उसी प्रकार जैन साधु भी आत्माके अनेक गुण व पर्यायोंका विचार करके आनंद लेते हैं। सामायिक पवित्र गंगाजल है। इसमें अवगाहन कर साधुजन भाव कर्ममलको धोते हैं और आत्मानंदरूपी मिष्ट जलको पान कर परम पुष्टि पाते हैं। सामायिक शान्तिका युद्धक्षेत्र है जहां पर तिष्ठकर कषायरहित शान्त शस्त्रोंसे कर्मोंका संहार किया जाता है। इसीके बलसे मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय होता है। आपसे आपमें आपके लिये आपमेंसे आपको आप ही अनुभव करना सामायिक है। वे स्वयं स्वतन्त्ररूप हैं, इसीलिये स्वतन्त्रताका साधक यह उपाय है।

१६८-छेदोपस्थापना चारित्र-संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके रोकनेका विचार कर रहा है। मोक्षमार्गी वही निर्ग्रन्थ साधु होसकता है जो शुद्धोपयोगमें लीन हो, निश्चिन्त होकर आत्मानुभव करता हो। यही सामायिक चारित्र है। यह अभेद रूप एक है। यहां मन, वचन, कायका सकम्प नहीं है सो इस सामायिक चारित्रसे छूटना छेद है सो भेद रूप चारित्र है। वह २८ मूलगुणरूप है अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इस प्रकार पांच महाव्रत। ईर्या (भूमि देखकर चलना), भाषा (शुद्ध वचन बोलना), एषणा (शुद्ध भोजन करना), आदाननिक्षेपण (देखकर रखना उठाना), व्युत्सर्ग (मल-मूत्र देखकर करना) यह पांच समिति हैं। पांच इन्द्रियोंका निरोध, प्रतिक्रमण (पिछले दोषोंका त्याग), प्रत्याख्यान (आगमी दोष न

करनेकी भावना) स्तुति, वंदना, सामायिक, कायोत्सर्ग ऐसे छः आव-श्यक। सात मूलगुण यह हैं—१ केशलोंच, २ स्नानत्याग, ३ दंतवन-त्याग, ४ एक दफा भोजन, ५ खड़े होकर भोजन करना, ६ भूमि-शयन, ७ वस्त्र त्याग। इस प्रकार भेदरूप चारित्र पालना छेद है।

इसके द्वारा सामायिक चारित्रमें स्थिर होजाना छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा मन वचन, कायद्वारा वर्तन करते हुए प्रमादसे जो दोष हो जावें उनको दूर करना छेदोपस्थापना है। अथवा पुनः दीक्षा लेना छेदोपस्थापना है। इस तरह जैन साधु इस चारित्रको पालते हुए अपनी दृष्टि अपने शुद्ध आत्मापर रखते हैं। उनका ध्येय एक आत्मरमण होता है। यही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्चारित्रकी एकता होती है। यही वह निर्मल शांत रससे पूर्ण जल है जिसका वे पान करते हैं और आत्माको पुष्ट बनाते हैं। यही वह सरल मार्ग है जो मोक्ष—महलतक चला गया है। इसमें कोई वक्रता नहीं है। यह सहज समाधिरूप है। यही वह आसन है जिसपर साधुगण बैठकर विश्राम करते हैं। यही वह मिष्टान्न है जिसका वह भोजन करते हैं। यही भावश्रुत है जिसका वे पाठ करते हैं, संवरका कारण है। सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र छठेसे नवें गुणस्थान तक होता है। यही स्वतंत्रता पानेका सरल उपाय है।

१६९—परिहारविशुद्धि चारित्र—संवरभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके आगमनके निरोधका विचार कर रहा है। मोक्ष आत्माका शुद्ध स्वभाव है। संसारी जीव पाप पुण्य

कर्मके सम्बन्धसे परतन्त्र हो रहे हैं। इस परतन्त्रताका सर्वथा नाश वे ही निर्ग्रन्थ साधु कर सकते हैं जो शुद्धोपयोगके उपवनमें रमण करते हैं। कर्मोंके संवरके लिये पांच प्रकारके चारित्रको पालते हैं। तीसरा चारित्र परिहारविशुद्धि है। यह विशेष चारित्र है। इसको वो ही महात्मा प्राप्त कर सकता है जिसने तीस वर्ष तक सातामें विताये हों। फिर मुनि हो तीर्थङ्करकी संगतिमें आठ वर्ष खर्च किये हों। और प्रत्याख्यान पूर्वको पढ़ा हो। इस चारित्रके प्रतापसे विशेष हिंसाका त्याग होता है और साधुको विशेष शुद्धि प्राप्त होती है। यह छठे व सातवें गुणस्थानमें होता है। निश्चयनयसे विचार किया जाय तो जहां सर्व परभावोंका परिहार या त्याग है तथा आत्माके शुद्ध स्वभावमें निवास है वहीं परिहारविशुद्धि है।

वास्तवमें देखा जाय तो चारित्र एक ही प्रकारका है और वह आत्मरमण है, स्वसमय है, स्वसंवेदन ज्ञान है, स्वात्मानुभव है, अपना ही विलास है। स्वतंत्रताके अधिकारी ही सम्यग्दृष्टी होते हैं। जो स्वपर तत्वके यथार्थ ज्ञाता हैं, जो सर्व संसारको हेय समझते हैं, जिनको विश्वास है कि सच्चा सुख अतीन्द्रिय आत्माका स्वभाव है, जो आत्मको सर्व अन्य आत्माओंसे, सर्व पुद्गलोंसे, धर्म अधर्म, आकाश, काल, द्रव्योंसे तथा अपने भीतर अनादिकालसे पाये जानेवाले ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे रागादि विभावोंसे शरीरादि नोकर्मोंसे भिन्न जानते हैं, जिनको आत्मीक तत्वमें रञ्चमात्र शङ्का नहीं है, जिनके भीतर स्वतंत्रता सिवाय किसी बातकी कांक्षा नहीं है, जो वस्तुस्वभावको विचारते हुए किसीसे ग्लानि नहीं करते हैं। जिनके भीतर रञ्चमात्र मूढ़ता नहीं है, जो अपने आत्मीक-

उपशांत मोह ११वें गुणस्थानमें होता है। वहां पहला शुक्लध्यान है। क्षपकश्रेणीसे चढ़नेवाले साधुको भी १२ वें क्षीण मोह गुणस्थानमें इस चारित्रका लाभ होता है। यहां पहला और दूसरा शुक्लध्यान है। फिर यह चारित्र छूटता नहीं है। १३ वें गुणस्थानमें भी रहता है। यहांतक केवल सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। १४ वें गुणस्थानमें भी यही रहता है। वहां पूर्ण संवर होजाता है। १३ वें गुणस्थानके अन्तमें तीसरा शुक्लध्यान होता है। १४ वेंमें चौथा शुक्लध्यान होता है, उसके प्रतापसे यह जीव सब कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाता है।

सिद्ध भगवानमें भी यह चारित्र सदा बना रहता है। आत्माका आत्मामें लीन रहना चारित्र है। जगतभरके पदार्थोंको गुणपर्यायोंको जानते हुए भी उनमें राग द्वेष नहीं होता है। यह इसी चारित्रका प्रताप है। इसीसे आत्मा अतीन्द्रिय आनंदका सदा उपभोग करता है। इस चारित्रकी जड़ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टी जीव चौथे गुणस्थानमें ही स्वरूपाचरण चारित्रको पालेते हैं। वही चारित्र बढ़ता हुआ यथाख्यात होजाता है। इसके प्रतापसे कषायोंका रस जैसे २ सूख जाता है, चारित्र बढ़ता जाता है और संवर भाव अधिक होता जाता है।

स्वतंत्रताके चाहनेवालेको अपने स्वतंत्र स्वभाव पर दृष्टि रखनी चाहिये। परतंत्रतासे असहयोग करना चाहिये। आप ही अपनेसे अपनेको स्वतंत्रता मिलती है। निर्ग्रन्थ जैन साधु ही इसको पा सकते हैं। बहिरात्मा एकान्ती तापसी इसे नहीं पा सकते। यथाख्यात

चारित्र वीतरागताका समुद्र है, जिसमें संतजन निरन्तर स्नान करते हैं और उसीके समरस जलका पान करते हैं।

१७२–अनशन तप–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके कारणोंका विचार कर चुका है, अब वह उन कर्मोंकी निर्जराका विचार करता है, जो आत्माकी सभामें विद्यमान हैं, जो उदयमें आकर अनिष्ट फल उत्पन्न करते हैं। वास्तवमें वीतराग विज्ञान भाव ही निर्जराका कारण है। यह भाव रत्नत्रयकी एकता रूप है। अपने ही आत्माका शुद्ध स्वरूप श्रद्धान ज्ञान व आचरणमय होना वीतराग विज्ञान है। यही निश्चय तप है। जैसे अग्निमें तपनेसे सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही वीतराग विज्ञानकी ध्यानमय अग्निमें तपनेसे आत्मा शुद्ध होता है। व्यवहार नयसे तपके १२ भेद हैं–प्रथम अनशन तप है जहां चार प्रकार आहारका त्याग होता है, तब साधु निश्चिन्त होकर वीतराग भावकी आराधना करते हैं। जहां कषाय आदि विभावोंका त्याग हो, आत्माको परकीय भावोंका भोजन न दिया जाय वही अनशन तप है। इस तपके तपनेवाले शुद्धोपयोगी निर्ग्रन्थ जैन साधु होते हैं। अन्य मिथ्यादृष्टि तपस्वी इस तपकी आराधना नहीं कर सकते। इस तपकी जड़ सम्यक्दर्शन है, जिसमें व्यवहार नयसे जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वोंका श्रद्धान होता है, फिर भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसके द्वारा अपने आत्माको सर्व अन्यात्माओंसे, सर्व पुद्गलोंसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व असंख्यात कालाणुओंसे तथा

१७३–ऊनोदर तप–निर्जरा भाव।

स्वतंत्रता प्राप्तिका यत्न करनेवाला एक जैन साधु शुद्धोपयोगका साधन करता है, इसीके प्रतापसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। बाहरी साधनोंमें ऊनोदर तपका अभ्यास करता है, जिसका भाव यह है कि भूखसे कम खाता है, जिसमें आलस्यका विजय हो, ध्यान स्वाध्यायमें विघ्न न आवे। वास्तवमें मोक्षमार्गका पथिक एक सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है जिसकी गाढ़ रुचि स्वरूप प्राप्तिकी होजाती है, जिसको पूर्ण विश्वास है कि मेरे आत्मामें कोई रागद्वेषादि विभाव नहीं हैं, न आठ कर्मोंका संयोग है, न शरीरादि नो कर्मोंका संयोग है। जब आत्माको कर्मके बंधमें देखा जाता है तो वहां सांसारिक सब अवस्थायें झलकती हैं, क्योंकि वे सब परकृत हैं, इसलिये त्यागनेयोग्य हैं। सम्यक्ती जीव भेदविज्ञानकी कलासे विभूषित रहता होगा। ६ द्रव्यमई लोकमें भी सब द्रव्योंको अलग अलग देखता है। जगतके जीवोंमें उसको परमात्माका दर्शन होता है। वह भलेप्रकार जानता है कि यह संसार आठ कर्मोंका नाटक है, पुद्गलके संयोगसे ही नानाप्रकारकी विभाव पर्यायें होती हैं। वह इन सबसे उदास रहता है। सम्यक्ती बड़ा वीर होता है, कर्मोंके तीव्र उदयमें भी अपने स्वरूपको नहीं भूलता। उस सम्यक्त्वकी ही यह महिमा है जो चक्रवर्ती सरीखे बड़े२ सम्राट् राजपाट त्यागकर निर्ग्रन्थ साधु होजाते हैं और ध्यानकी सिद्धिके लिये कठिन कठिन तप करते हैं।

ज्ञानी जीवोंके सविपाक निर्जरा भी ऐसी होती है, जो संसार कारणीभूत बंध नहीं करती। सम्यक्तीके परिणामोंसे जब२ स्वानुभव

चाहिये, (३) किसी आसन पर बैठना चाहिये, (४) पद्मासन आदि कोई आसन लगाना चाहिये, ५) मनमें धर्म ध्यानके सिवाय और विषयको न आने देना चाहिये, (६) बचनमें ध्यान संबंधी मंत्रोंके सिवाय और वार्तालाप न होना चाहिये, (७) शरीर शुद्ध और निश्चल रखना चाहिये। निश्चय ध्यानमें अपने आत्माके प्रदेश ही स्थान है, आत्मामें नित्य उपयोग रहना ही काल है. आत्मा ही आसन है, आत्मा ही पद्मासनादि है, वहांपर मन वचन कायका सम्बन्ध नहीं है। आत्मा आत्मामें ही लवलीन है। आप ही ध्येय है। निश्चय ध्यानमें ही शुद्धोपयोगका विलास है। इस ध्यानकी जड़ सम्यग्दर्शनका प्रकाश है। यह सम्यक्त्व आत्माका विशेष गुण है। मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी कषायके उदयसे इसका प्रकाश नहीं होरहा है। इस कर्मके आवरणको हटानेके लिये भेदविज्ञानकी आवश्यकता है। भेदविज्ञानके लिये जीवादिक पदार्थोंके ज्ञानकी आवश्यकता है। यह ज्ञान प्रमाण और नयसे होता है। प्रमाणसे पदार्थोंका सर्वांश ज्ञान होता है, नयसे एकांश ज्ञान होता है। नयोंमें निश्चयनय व्यवहार नय प्रधान है। व्यवहार नयसे कर्मोंसे सापेक्ष आत्माके स्वरूपका ज्ञान होता है, तब यह झलकता है कि जैसे जल मिट्टी अलग है, तिलमें तेल और भूसी अलग है, मलीन वस्त्रमें वस्त्र और मलीनता अलग है, वैसे ही आत्मा सर्व रागादि भावोंसे, ज्ञानावरणादि कर्मोंसे, शरीरादि नोकर्मोंसे भिन्न है, इसी तत्वको ग्रहण कर ध्यानमें लाना चाहिये। तब ही शुद्धोपयोगका प्रकाश होगा और वास्तविक निर्जराका कारण तप प्रकट होगा।

१७५-रसपरित्याग-निर्गंरामाव ।

ज्ञानी जीव कर्मशत्रुओंके क्षयका उपाय विचार कर रहा है। स्वतंत्रताका प्रेमी जैन निर्ग्रन्थ साधु होता है। वह इसलिये शुद्धोपयोगमयी ध्यानका अभ्यास करता है और इसीलिये तपका साधन करता है। रसपरित्याग तपमय रसके स्वादका त्याग होता है। दूध, दही, घी, तेल, शक्कर, नमक इन छः रसोंसे नाना प्रकारके व्यंजन बनते हैं। साधुजन वीतराग भावसे इनका स्वाद लेते हैं। वे महात्मा षट्रसोंके स्वादसे विमुख होकर आत्मरसका स्वाद लेते हैं। आत्मामें परमानन्द है; सुख उसका स्वभाव है। जो आत्म-रसिक होता है वह उस सुखको निरन्तर भोगता है। आत्मरसिक वही हो सकता है जो सम्यक्दृष्टी हो; जिसको भले प्रकार निश्चय है कि पांचों इन्द्रियोंसे जो सुख होता है वह पराधीन होता है; परवस्तुके संयोगसे और पुण्य कर्मके उदयसे होता है।

इस सुखमें अनेक बाधाएँ आजाती हैं। पुण्य कर्मका क्षय होने पर वस्तुका समागम नहीं होता है। इन्द्रिय सुख नाशवान होता है. क्योंकि आयु पर्यन्त ही भोगा जा सकता है। इन्द्रियसुख रागभाव बिना भोगा नहीं जा सकता, इसलिए कर्मबन्धका कारण है और आकुलताका हेतु है इसलिए आदरने योग्य नहीं है। जबकि आत्मिक सुख स्वाधीन है, बाधा रहित है; अविनाशीक है और वीतरागभाव सहित होनेसे कर्मबन्धका नाशक है और निराकुलताके साथ शोभायमान है, इसलिए सम्यग्दृष्टी इसी अतीन्द्रिय सुखका प्रेमी होता है। इसकी निरन्तर प्राप्तिके लिए बाधक कर्मोंका नाश करना चाहता है।

रसपरित्याग तप करते हुए वह ज्ञानी शुद्धोपयोगके दलसे आत्मानुभव करता है और शांतिमय ज्ञानसमुद्रमें स्नान करता है। ज्ञानरसका ही पान करता है और परम तृप्तिको पाता है।

१७६-विविक्त शय्यासन-निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशकी भावना कर रहा है। जैन साधु बारह प्रकारके तपोंमें विविक्त शय्यासन तपकी भावना करते हैं। एकान्त स्थानमें शयन व आसन करते हैं, जिससे ध्यान स्वाध्याय ठीक होता चले। निश्चयनयसे सर्व परपदार्थोंसे व परभावोंसे भिन्न शुद्ध आत्माके भीतर शयन व आसन करना विविक्त शय्यासन तप है। इस तपके द्वारा शुद्धोपयोगका लाभ ही होता है, जिससे कर्मकी निर्जरा होती है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी अपनी आत्माका निश्चय भलेप्रकार कर लेते हैं, क्योंकि आत्म-ध्यानकी भूमिका आत्माका दृढ़ श्रद्धान है।

यह आत्मा अखण्ड होनेकी अपेक्षा एकरूप है, अनेक गुणोंको रखनेकी अपेक्षा अनेकरूप है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा सत्‌रूप है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा असत्‌रूप है। अवि-नाशी होनेकी अपेक्षा नित्य है। स्वाभाविक परिणमन होनेकी अपेक्षा अनित्यरूप है। इत्यादि ज्ञान स्याद्वादके द्वारा होता है। जैन साधु स्याद्वादके ज्ञानमें कुशल होते हैं और अनिर्वचनीय मनसे अगोचर आत्माके भीतर एकतान होजाते हैं। तप ही वह अग्नि है जो सुवर्णके समान आत्माको शुद्ध करती है। तप ही वह पवन है जो आत्माकी कर्मरूपी रजोंको उड़ाता है। तप ही वह समुद्र है जिसमें स्नान करनेसे

परम शांतिकी प्राप्ति होती है। तप ही वह अमृत है जिसके पीनेसे परम संतोष होता है। तप ही वह औषधि है जो कर्मरोग दूर करती है। यह आत्मा सबसे निराला अद्भुत पदार्थ है। इसका आनन्द भी उसीको होता है जो सर्व इन्द्रियोंसे और मनके विषयसे अलग होकर आपमें ही ठहर जाता है और परम सुखको पाता है।

१७७–कायक्लेश तप–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके क्षयका उपाय विचार कर रहा है। बारह तपोंमें कायक्लेश नामका तप है जिसका अभिप्राय यह है कि शरीरको कष्ट देते हुए शान्तभावसे ध्यानका अभ्यास करना। जैन निर्ग्रन्थ साधु इस तपका साधन करते हैं। शीतकालमें नदी तट पर, ग्रीष्मकालमें पर्वतपर, वर्षाकालमें वृक्षके नीचे ध्यान करते हैं। निश्चयनयसे आत्माके कोई पुद्गलकृत शरीर ही नहीं होता इसलिए कायक्लेश नहीं है। आत्मा चैतन्य धातुकी मूर्ति है जिसके ऊपर पुद्गल कोई आपत्ति नहीं कर सकता है। इसलिये आत्मा सदा ही क्लेशरहित हो अपने स्वरूपमें मगन रहता है और आत्मिक आनन्दका स्वाद लेता है। साधक अवस्थामें जैन साधु निश्चयनयके द्वारा अपने आत्माको परम शुद्ध देखकर उसीमें तन्मय होजाता है।

शुद्धोपयोगका प्रकाश करता है जिससे कर्मकी निर्जरा होती है। वे साधु संसार शरीर–भोगोंसे उदास रहते हैं। संसार असार है, दुःखरूपी खारजलसे भरा है, संयोग वियोग सहित है। मानवका शरीर महान् अशुचि है, इन्द्रियभोग अतृप्तिकारक व नाशवंत है।

एक निज स्वरूप ही ग्रहण करनेयोग्य है, जहां किसी पर द्रव्य, पर पर क्षेत्र, पर काल, व पर भावका प्रवेश नहीं है। यह नित्य अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त आदि गुणोंमें तल्लीन है। सर्व बाधा रहित है। आत्मा ही अपने लिये आप ही गङ्गाजल है। आपसे आपको पवित्र रखता है। आत्मा आकाशके समान निर्लेप और असंग हैं। ऐसी भावना जो भाता है वह परम आनंदको पाकर तृप्त रहता है और स्वआत्म रमणरूप तपको साधता है।

१७८–प्रायश्चित्त तप–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। निर्जराका कारण शुद्धोपयोग है, वही वास्तवमें ध्यान है। व्यवहार नयसे बारह तपोंमें प्रायश्चित तप भी है। जैन साधु अपने चारित्रमें मन वचन काय जो कृतकारित अनुमोदनासे लगे हुए हैं, अतिचारोंकी शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त लेते हैं। निश्चयसे आत्मा परम निर्दोष है, उसमें कोई प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है। तप वास्तवमें आनंदका स्थान है। जब सम्यग्दृष्टि सर्व इन्द्रियोंसे और मनके विकल्पोंसे दूर होकर अपनेसे अपनेको अपने लिये आप ही के द्वारा अपने आप ही स्थापित करता है तब वचनसे अगोचर स्वानुभव प्रकट होता है, तब आत्मिक सुखका स्वाद आता है। यही भाव निर्जरा है। सम्यग्दृष्टि जीव भेद विज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सर्व ही परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावोंसे भिन्न जानता है। स्याद्वाद नयके द्वारा भेदरूप अपने स्वरूपका निश्चय कर लेना है।

वह आत्मा अनन्तगुण पर्यायोंका पिंड है इसलिये अभेद रूप है। परन्तु गुण पर्यायोंकी अपेक्षा भेद रूप है। यह आत्मा अपने स्वभावको कभी त्यागता नहीं है इसलिये नित्य है, परिणमनकी अपेक्षा अनित्य है। अपने स्वभावकी अपेक्षा सत्‌रूप है, परभावकी अपेक्षा असत्‌रूप है। इस तरह स्वभावका निर्णय करके व्यवहार निश्चयनयसे आत्माको जानकर जब ज्ञानी सर्व विकल्पोंसे रहित होकर अपनेमें स्थिर होता है तब मन वचन कायके विकल्प नहीं होते हैं।

एक सुन्दर उपवन मिल जाता है उसीमें वह रमण करता है। वह रत्नद्वीपमें पहुंच जाता है, रत्नत्रयका आनंद लेता है। क्षीरसागरके समान परम शान्त आत्मामें स्नान करते हुए परम शांति पाता है। निर्मल आकाशके समान आत्मामें असंग भाव रखकर ही समताका लाभ होता है वही परम सामायिक है, वास्तवमें वही प्रायश्चित्त तप है जिससे शुद्धताका अनुभव होता है और परम तृप्ति मिलती है। मोक्षमार्गका पथिक परम निस्पृह होता है। आपके सिवाय किसी भी अन्यको नहीं चाहता है। देखा जाए तो वह मुक्तरूप ही है अथवा बंध मोक्षकी कल्पनासे बाहर है।

१७९–विनय तप–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोके नाशका विचार कर रहा है। कर्मक्षयका कारण शुद्धोपयोग है। उसीके साधनके लिये विनय तपका विचार जैन साधु करते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र यह रत्नत्रय धर्म मोक्षका साधक है। इसकी ही वे बड़ी भक्ति करते हैं, बड़े प्रेमसे

पालते हैं तथा रत्नत्रयके साधन करनेवालोंसे भी प्रेमभाव रखते हैं। निश्चयनयसे विचारते हैं तो वे अपने ही आत्माकी अनुभूति करते हैं, यही विनय है। विनय तप सम्यग्दृष्टिका मुख्य कर्तव्य है। सम्यग्दृष्टिको पूर्ण विश्वास है कि मेरा आत्मा संपूर्ण रागादिक भावोंसे, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे और शरीर आदि नो कर्मोंसे जुदा है। इसकी सत्ता न्यारी है। यद्यपि स्वभावसे सब आत्माएं समान हैं। रागद्वेषका कारण संसारी आत्माओंके भेदरूप देखना है। एक समान देखनेसे रागद्वेष नहीं रहता, समभाव जागृत होजाता है।

यही समताभाव शुद्धोपयोग है। सम्यग्दृष्टि निश्चयनयकी दृष्टि रखकर व्यवहारनयसे उदासीन रहता है। यद्यपि यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका धारी है, तथापि वे दोनों ज्ञान सविकल्प हैं। स्वसंवेदन ज्ञानके होते हुए मतिश्रुत दोनों उसीमें गर्भित होजाते हैं। वास्तवमें ज्ञान सूर्यके समान एक प्रकाश है, जिसमें पांच भेद नहीं हैं। ज्ञानावरण कर्मका संयोग देखनेपर ज्ञानके भेद देखनेमें आते हैं। सहज ज्ञान आत्माका स्वभाव है, उसी ज्ञानका अनुभव स्वतंत्रताका उपाय है।

जैसी भावना भावे वैसा हो जावे, इस तत्वके अनुसार स्वतंत्रताकी भावना स्वतंत्र होनेका उपाय है। स्वानुभव एक ऐसा शर्बत है जिसमें अनेक रसरूप आत्मिक गुणोंका सम्मिलित स्वाद रहता है। स्वानुभव एक ऐसा आसन है जिसपर बैठनेसे पूर्ण स्थिरता प्राप्त होती है। स्वानुभव एक ऐसा दर्पण है जिसमें आत्माका दर्शन होता है। स्वानुभव अमृतकी घूंट है जिसको पीनेसे परम तृप्ति होती है। स्वानुभव ही निश्चय तप है, इसीसे कर्म स्वयं क्षय होजाते हैं और परमानंदका लाभ होता है।

आत्मामें तपन करे अर्थात् आत्मध्यानकी अग्नि जलाए। असलमें आपसे ही आप शुद्धता होती है, उपादान कारण आपका आप ही है। स्वानुभव ही अद्भुत कला है। जिसको प्राप्त होजाती है वही सम्यक्दृष्टि है। वह अपने भीतर निर्वाणका अनुभव करता है। वह परमानन्दमयी अमृतका प्रवाह अपनेमें बहाता है, उसीमें गोते लगाता है, उसीको पीता है। सर्व तृष्णाका ताप शान्त होजाता है। अपूर्व शान्तिका लाभ होता है। यथार्थ धर्मकी प्राप्ति होती है। संसार-नाशक उपाय मिल जाता है। धन्य हैं वे पुरुष जो शुद्धोपयोगके द्वारा वास्तविक तप तपते हैं और सदा आनन्दमय हैं।

१८१–स्वाध्याय, तप, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओंके क्षयका विचार कर रहा है। जैन निर्ग्रन्थ साधु बारह तपोंका अभ्यास इसी लिए करते हैं कि शुद्धोपयोगरूप अग्नि जल जाए। इसीसे ही कर्मोंका विनाश होना है। स्वाध्याय भी परम उपयोगी तप है। जिनेन्द्रप्रणीत शास्त्रोंका पठन, पाठन, मनन करना स्वाध्याय है। इसके प्रतापसे अज्ञानका नाश होता है और आत्मिक ज्ञानका प्रकाश होता है। निश्चयसे अपने ही शुद्ध आत्माका अनुभव स्वाध्याय है। आत्मा निश्चयसे अपने स्वरूपमें नित्य मगन हैं, उसमें कोई चंचलता नहीं है। वह सदा आत्मीक तपमें तपनशील है। सम्यग्दृष्टि जीव ही तपके साधक होते हैं, उनको भेद विज्ञान रहता है। जिससे वह धानमें चावलकी तरह, तिलमें तेलकी तरह, सुवर्ण पाषाणमें सुवर्णकी तरह अपने आत्माको सर्व पर

द्रव्योंसे व पर भावोंसे जुदा देखते हैं। उनकी दृष्टिमें यह जगत छः द्रव्य रूप जुदा जुदा दीखता है। सर्व पुद्गल परमाणु रूप सर्व जीव सिद्धके समान शुद्ध धर्म अधर्म आकाश काल अपने स्वभाव ही में स्थित दीखते हैं। पुद्गलसे मिले हुए आत्माओंमें भी सब आत्माएँ शुद्ध झलकती हैं। तब समानभाव या वीतरागभाव प्रगट हो जाता है। राग द्वेषका कारण नहीं रहता है।

समताभाव रहना ही परम तप है। ज्ञानी जीव समताभावमें सुखसागरको पाते हैं; उसीमें मगन होजाते हैं, उसीके शान्त रसका पान करते हैं, उसीके निर्मल जलसे कर्म मल छुड़ाते हैं। समताभाव एक अपूर्व चन्द्रमा है, जिसके देखनेसे सदा ही सुख शांति मिलती है। समताभाव परम उज्जवल वस्त्र है जिसको पहननेसे आत्माकी परम शोभा होती है। समताभाव एक शीघ्रगामी जहाज है जिसपर चढ़कर ज्ञानी जीव भवसागरसे पार होजाते हैं। समताभाव रत्नत्रयकी माला है जिसको पहननेसे परम शांति मिलती है। समताभाव परमानंदमयी अमृतका घर है, जिसमें भीतरसे अमृत रस रहते हुए भी वह कभी कम नहीं होता है। जो समताभावके स्वामी हैं वही परम तपस्वी हैं। वे शीघ्र स्वतंत्रताको पाकर परम सन्तोषी होजाते हैं। और तृष्णाके आतापसे रहित होजाते हैं।

१८२—व्युत्सर्ग तप—निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशके लिए आप विचार कर रहा है। शुद्धोपयोग ही सार तप है जिससे कर्मोंका क्षय होता है। उसीके

लिए व्युत्सर्ग नाम अंतरंग तप है। जहां बाहरी क्षेत्र आदि दश प्रकार परिग्रह और मिथ्यात्व रागद्वेष आदि चौदह प्रकार अंतरंग परिग्रहसे पूर्ण ममत्वका त्याग हो वह व्युत्सर्ग तप है। निश्चयनयसे आत्मा व्युत्सर्ग तपरूप ही है। आत्मा बिलकुल निराला है। परद्रव्योंके संबंधसे रहित है। उसमें मोहनीय कर्मका कोई उदय नहीं है जिससे परसे ममत्व भाव हो सके। आत्मा अपनी सत्तामें आप विराजमान है। अपनी शुद्ध परिणतिका आप ही कर्ता है। अपने शुद्ध आनन्दका आप ही भोक्ता है। यह अनन्त गुणोंका पिंडरूप द्रव्य है। असंख्यात प्रदेशी इसका क्षेत्र है। शुद्ध परिणमन इसका काल है। शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि इसका भाव है। इस तरह अपने चतुष्टयसे अपनी सत्ता निराली रखता है। पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका इसमें अभाव है।

जब मन, वचन, कायके व्यापारोंको बन्द कर दिया जाता है और आत्माका उपयोग आत्मामें ही थिर होजाता है तब शुद्धोपयोगका प्रकाश होता है। उस समय आत्मा सम्बन्धी गुण पर्यायोंका विकल्प मिट जाता है। निश्चयनयका भी भाव बन्द होजाता है। मतिश्रुत ज्ञान आदिका विचार भी नहीं रहता है। नाम आदि निक्षेप भी नहीं रहते। एक अद्वैत तत्वका अनुभव जग जाता है। इस अनुभवमें अनन्त गुणोंका स्वाद उसीप्रकार गर्भित है जैसे एक शर्बतमें अनेक वस्तुओंका तत्व मिश्रित हो। स्वात्मानुभव एक अपूर्व दर्पण है जहां आत्माका स्वरूप यथार्थ चमकता है। आत्मानुभव अपूर्व किला है जहां राग आदि भावका व किसी संकल्प विकल्पका प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मानुभव एक अपूर्व शिला है जिसपर बैठकर

आत्मा आपमें मगन हो जाता है। आत्मानुभव एक सुन्दर महल है जहां बैठनेसे शिवसुन्दरीका दर्शन होता है। आत्मानुभव एक ऐसा शस्त्र है जो कर्मोंको काट देता है। आत्मानुभव आनन्द अमृतका घट है जिससे आनंदरस सदा पान किया जा सकता है। आत्मानुभव एक अपूर्व आभूषण है जिससे आत्माकी शोभा होती है। आत्मानुभव शांति और समताकी खान है जहां कभी भव आताप नहीं रहता। आत्मानुभव ही यथार्थ तप है। इसीके स्वामी जैन निर्ग्रन्थ साधु होते हैं जो स्वतन्त्रताका लाभ करते हैं।

१८३–ध्यान तप–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। बारह तपोंमें मुख्य तप ध्यान है। शेष तप ध्यानके लिए कारण हैं। जहां ध्याता किसी ध्येयको चिन्तवन करता है उसको ध्यान कहते हैं और ध्येयमें एकाग्र होजाना ध्यान है। ध्यानयोग्य अपना शुद्ध आत्मा है या अर्हंत या सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय धर्म है। धर्मध्यान शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं। निश्चयनयसे आत्मा ध्यानके विकल्पोंसे रहित है। वह स्वयं आत्मानन्दमें मग्न है। स्वात्मानुभूतिका होना ही निश्चय ध्यान है। जहां मन वचन कायके व्यापार बंद होजाते हैं, स्वसमाधि भाव जागृत होजाता है तब सर्व भेद भाव दूर होजाता है। यही सच्चा नग्नत्व है; यही दिगम्बरत्व है, यही निर्ग्रन्थ लिंग है।

यहां क्रोधादि कषायका भाव नहीं चलता। पांचों इन्द्रियां भी

बेकाम होजाती हैं। स्वानुभूति समताभावको जागृत करती है। यही भाव वीतरागता सहित होनेसे कर्मोंका नाशकारक है। रागद्वेषसे बंध होता है तब वीतराग भावसे बंधका नाश होता है। यह भाव आत्मानन्दसे परिपूर्ण है। इसमें कोई दुःख नहीं है। यही भाव शिव कन्याको मोहित करनेवाला है। यही भाव ज्ञानका मंदिर है। यही भाव शांतिका सागर है। यही भाव निर्मल दर्पण है, जहां अनंत भाव दिखते हैं तोभी कोई विकार नहीं आता। यही भाव संसार बंधनाशक अग्नि है जो अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंको नाश कर देती है। यही भाव प्रचण्ड पवन है जो कर्म रजको उड़ा देता है। यही भाव तीव्र मेघधारा है जो कर्म रजको वहा देती है। यही भाव अनंतगुणोंकी खान है जिसमें शर्बतकी तरह मिश्रित स्वाद रहता है। यही भाव रमणीक उपवन है जहां आत्मा एक रससे रमण करता है। यही भाव परम रत्न है जिससे आत्माकी शोभा होती है। यही भाव निश्चय मोक्षमार्ग है और शिव महलको जानेवाली सीधी सड़क है। यही भाव परम तप है।

इस भावके धारी परम तपस्वी शांतरसमें मग्न हो आत्मानंदका स्वाद लेते हैं और अपने आत्मीक सुवर्णको शुद्ध करते चले जाते हैं, इस भावकी महिमा अपार है, वचन अगोचर है, अनुभवगम्य है। जो जानता है वही आत्मज्ञानी निर्जरा तत्व है।

१८४–पदस्थ ध्यान–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। वह कर्मोंका क्षय ध्यानकी अग्निसे कर रहा है। ध्यान करनेके अनेक उपाय हैं।

उनमेंसे पदस्थ ध्यान भी एक है। पदोंके द्वारा आत्मा व परमात्माका ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। ॐ, अर्हन्त, सिद्ध आदि पदोंको शरीरके किसी स्थानमें स्थापित करके उन पदोंके द्वारा ध्यान करना चाहिये। जैसे 'ॐ' मंत्रको नाभिकमलमें, हृदयकमलमें, मुख-कमलमें, नासिकाके अग्रभागमें, दोनों भवोंके वीचमें व मस्तकपर सिरमें विराजमान करके ध्यान करना। यह व्यवहार ध्यान है। इसके द्वारा निश्चय आत्मध्यानकी सिद्धि होती है। णमोकार मंत्रके पांचों पदोंको एक कमलमें स्थापित करके ध्यान किया जा सकता है। हरएक ध्यानमें लक्ष्य शुद्धात्माका होता है। स्वयं स्वानुभव रूप है। यह ही वास्तवमें सच्चा ध्यान है। जो निश्चयनयका अवलंबन लेते हैं वे अद्वैत एक ब्रह्मभावमें पहुंच जाते हैं तब मन, वचन, कायका विकल्प नहीं रहता, परम समाधि जागृत होजाती है।

असलमें यही ध्यानकी अग्नि है, इसीको धर्मध्यान या शुक्ल-ध्यान कहते हैं। ऐसा ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक लगातार रहनेसे केवलज्ञान होजाता है। जब आपसे आपमें ठहर जाता है तब परपदार्थोंसे संबंध नहीं रहता है। सिवाय अपनी आत्माके और आत्माओंका विचार भी नहीं रहता। इस समय अर्हन्त व सिद्धका ध्यान भी परभावरूप परिग्रह है, परतत्व है। निज तत्व तो आप असंग है। इस तत्वके साथ किसी भी मोहका विकल्प नहीं है। यही वीतरागभाव है जो कर्म नाशक है। वीतराग भाव ही पानीकी धारा है जो कर्म रजको वहाती है। वीतराग भाव ही प्रचण्ड वायु है जो कर्मरजको उड़ाती है। वीतराग भाव ही वह अभेद किला है जिसमें मिथ्यात्व, अविरति,

कषाय आदि आस्रव प्रवेश नहीं कर पाते। वीतराग भाव ही सुन्दर प्रफुल्लित उपवन है, जहां ज्ञानी सुखसे रमण करता है। वीतरागभाव ही वह जहाज है जो भवसागरके पार जीवको ले जाता है। वीतराग भाव ही एक ऐसा अमृत है जिसको पान करनेसे जीव अमर होजाता है। वीतराग भाव ही आनंदका सागर है जिसमें वारवार स्नान करनेसे आत्मा शुद्ध होता है। यही निश्चय तप है।

१८५—पिण्डस्थध्यान—निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। बारह तपोंमें मुख्य तप ध्यान है। ध्यान करनेके अनेक प्रकार हैं। उनमेंसे पिण्डस्थध्यान भी है। पिण्ड नाम शरीरका है, उसमें स्थित आत्माका ध्यान पिण्डस्थध्यान है। उसकी पांच धारणाएं हैं। पहली पार्थिवी धारणा है। उसमें ऐसा विचार किया जाता है कि मध्यलोक क्षीरसागरके समान है, उसके बीचमें जम्बूद्वीपके समान एक हजार पांखडीका कमल है। कमलके मध्यमें सुमेरु पर्वतके समान कर्णिका है। सुमेरु पर्वतपर पांडुक वन है, उसमें पांडुक शिला है। उसपर मैं पद्मासन बैठा हूं। प्रयोजन कर्मोंके भस्म करनेका है। इसतरह वारवार ध्यान करना पार्थिवी धारणा है। इससे उपयोग एक स्थानमें केन्द्रीभूत होजाता है। निश्चयनयसे आत्मा स्वयं ध्यानस्वरूप है। आत्मा निरन्तर अपने स्वभावमें वसता हुआ परभावसे विरक्त रहता है। अपनी स्वाभाविक सम्पदाका ही भोग करता है। उसकी ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अमिट व अविनाशी सम्पदा है।

इस सम्पदाका धनी कभी भी परस्वरूप परिणमन नहीं करता है, अपने ही रसमें मगन है। सम्यक्दृष्टी ज्ञानी जीव ही इस तत्वको पहचानते हैं । वे जानते हैं कि जगतमें छः द्रव्योंकी सत्ता होने पर भी अपने अपने प्रदेशोंसे हरएक पदार्थ अलग अलग हैं। हर जीव भी दूसरे जीवोंसे भिन्न अपनी सत्ता रखता है। हरएक जीव अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे न्यारा है। अपनेको न्यारा देखते हुये सम्यक्ती जीव अपने समान सब जीवोंको भी देखता है इस-लिये राग द्वेष नहीं करता। आत्मानंदके लिये अपने ही स्वरूपमें थिर होजाता है। यही वास्तविक आत्मध्यान है। इस आत्मध्यानमें वीतरागताका संचार है; जिससे कर्मकी निर्जरा होती है। निर्जराभाव अपना ही तत्व है। इस तत्वमें समुद्रके समान गम्भीरता है, पृथ्वीके समान क्षमता है, जलके समान शीतलता है, अग्निके समान दाहकता है, सूर्यके समान प्रकाशपना है। इस तत्वमें अद्भुत सौंदर्य है जिसकी उपमा जगतमें नहीं दी जा सकती है। इस तत्वका प्रेमी अन्तरात्मा सदा सुखी रहता है। उसको सांसारिक विकल्प जाल आकुलित नहीं करते। जो इस तत्वमें रम जाता है वही वास्तवमें ध्यान करने-वाला है और वही सुखशांतिका सदा भोग करता है।

१८६–पिण्डस्थ ध्यान–संवर भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। ध्यानसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। पिण्डस्थ ध्यानकी दूसरी धारणा आग्नेयी धारणा है। ध्यान करनेवाला मेरु पर्वत पर पद्मासन बैठा हुआ ऐसा

विचार करता है कि मेरे नाभिस्थानमें ऊपरसे उठा हुआ सोलह पत्तेका एक कमल है, उन पत्तों पर अ, आ आदि सोलह स्वर लिखे हुए हैं। कमलके बीचमें 'र्हं' शब्द है। दूसरा कमल इसीके ऊपर हृदयस्थानमें औंधा आठ पत्तोंका है जो ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रूप है। फिर विचारे कि नीचेके कमलके 'र्हं' की रेफसे धुआं निकला, फिर अग्निकी लौ बन्ध गई, वह ऊपर उठती हुई आठ कर्मोंके कमलको जलाने लगी। उसकी लौ मस्तक पर आगई। फिर शरीरके तरफ फैल गई। अग्निमें त्रिकोण बन गया। यह त्रिकोण र र.... अक्षरोंसे व्याप्य है। त्रिकोणके तीनों वायु कोणोंमें तीन स्वस्तिक अग्निमय बने हैं।

इस तरह बाहरका अग्निमंडल शरीरको और भीतरी अग्निमंडल आठ कर्मोंको जला रहा है। जलते जलते शरीर और कर्म गल होगये। ऐसा बार बार चिंतवन करना आग्नेय धारणा है। यह व्यवहार ध्यान है। निश्चयसे आत्मा सदा ही ध्यान रूप है। वह कभी अपनेसे बाहर नहीं जाता, उसमें परम थिरता बनी रहती है, जिससे वह आत्मीक आनंदका रस लेता रहता है। महा वीतरागताके प्रभावसे कर्मास्रव नहीं होता। अद्भुत आत्म विकास रहता है। शुद्ध सूर्यके समान ज्ञान चमकता है। उसमें विश्वके सकल पदार्थ गुणपर्याय सहित झलकते रहते हैं। परन्तु विकार उत्पन्न नहीं करते। वह निर्मल ज्ञान दर्पणके समान होता है। ज्ञान ज्ञेयमें जाता नहीं ज्ञेय ज्ञानमें जाते नहीं। निर्मल आत्म अनुभूति सदा बनी रहती है, जिसके प्रतापसे आत्मामें कोई परकी अनुभूति नहीं होती है। स्वसम्वेदन ज्ञान झलकता है;

वीतराग चारित्र चमकता है, निश्चय सम्यग्दर्शन झलकता है, स्वातंत्र्यमयी एक सागर बन जाता है। परिणमन स्वभावकी अपेक्षा नाना स्वाभाविक पर्यायें कल्लोलवत् उठती हैं। तौभी आत्मसमुद्रमें कोई मलीनता नहीं होती है। इस समुद्रमें आत्मा आप ही स्नान करता है। आप ही उसमें क्रीड़ा करता है। परम सुख शांतिको भोगता है। इस तत्वको जो समझता है वही कर्मोंका नाश कर सकता है।

१८७-पिण्डस्थ ध्यान-निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। पिण्डस्थ ध्यान बहुत उपयोगी है। अग्नि धारणाके बाद पवन धारणाका विचार किया जाता है। ध्याता विचार करता है कि मेरे चारों तरफ पवनका मण्डल घूम रहा है जो कर्म शरीरकी रजको उड़ा रहा है, आत्माको शुचि कर रहा है। यह व्यवहार ध्यान है। निश्चयनयसे आत्मामें ध्यान ध्येय ध्याताका विकल्प नहीं है। आत्मा स्वयं आत्मारूप है। ज्ञान गुण अपेक्षा ज्ञानमय है। दर्शन गुण अपेक्षा दर्शनमय है। चारित्र गुण अपेक्षा चारित्रमय है। सुख गुण अपेक्षा सुखमय है। वीर्यगुण अपेक्षा वीर्यमय है, तथापि अखण्ड स्वरूप है। इसमें भेद कल्पना भी नहीं है। इसका ज्ञान समुद्रसमान गम्भीर है। ज्ञेयोंकी अपेक्षा अनेक कल्लोलें उठती हैं तौभी ज्ञान सामान्यको प्रकट करती है। आत्मामें कोई रागादि विकार नहीं होता है। वह पूर्ण शान्तिमय बना रहता है। जो कोई आत्माको आत्मारूप जानता है वही सम्यक्दृष्टि तत्वज्ञानी है। वह कभी भावकर्म रागादिक, द्रव्य

कर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादिको अपना नहीं मानता है। सम्यक्ती जीव परम ज्ञान वैराग्यसे परिपूर्ण रहता है। उसका ज्ञान केवली भगवानके समान पदार्थोंको यथार्थ जानता है। उसको सांसारिक पदार्थोंमें किंचित भी राग नहीं होता। कर्मके उदय होनेपर ज्ञाताद्दष्टा रहता है। अन्तरंगमें उसका भाव परम शांत रहता है। वह ज्ञानी स्वात्मीक रसका पान करता है, जिस समय ही ध्यानकी अग्नि प्रगट होती है जो कर्म ईंधनको जलाती है। यही सच्चा तप है, यही भाव-निर्जरा है, यही मोक्षमार्ग है। यही भवसागरसे तारनेका जहाज है, यही परम तृप्तिकारी आत्माका भोजन है, यही तृष्णा समनकारी अमृतरस है. यही आकुलता नाशक निराकुल निजपद है, यही भवरोग शमनकारी औषधि है, यही साधुओंका रमण करनेलायक एक मनोहर उपवन है, यही समता प्रसारक चन्द्रकला है, यही परम पुष्टिकारक बल है। जो इस भावके स्वामी हैं, वे ही परम ध्यानी हैं। वे नित सुख-शांतिका भोग करते हैं।

१८८-पिण्डस्थ ध्यान-निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। कर्म क्षयका कारण आत्मध्यान है। पिंडस्थ ध्यानमें चौथी जल धारणा है। ध्याता ऐसा विचारता है कि काली घटाएं आरही हैं। मेघोंसे जोरसे पानी बरसने लगा। मेरे ऊपर जल मण्डल बन गया। जलकी धाराएं कर्मरजको व शरीरकी रजको दूरकर आत्माको स्वच्छ कर रही हैं। यह व्यवहार ध्यान है। निश्चयसे आत्मा स्वयं ध्यान स्वरूप है।

हाथ लग जाता है, सन्तोष होता है। यही अमृत रसायन है जो अमर करती है। यही वीतराग भाव है। यही समताका मंदिर है, जिसमें आत्मदेव शांतिसे विराजता है। उसीकी उपासना करना ज्ञानीका कर्तव्य है।

१८९–पिण्डस्थ ध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार रहा है। ज्ञानसे ही कर्मोंकी निर्जरा होती है। पिंडस्थ ध्यानकी पांचवी धारणा तत्व-रूप होती है। ध्याता विचारता है कि मेरे आत्माके सर्व कर्म जल गये, कर्मरज धुलगई, आत्मा सिद्ध समान शुद्ध हो गया। मैं सिद्ध हूं, ऐसा ध्यान करता हुआ शुद्ध भावना करता है और कर्मोंकी प्रचुर निर्जरा करता है। पिंडस्थ ध्यान व्यवहार ध्यान है। निश्चयसे आत्मा स्वयं ध्यान स्वरूप है, उसमें कोई विकल्प नहीं होते। सम्य-ग्दृष्टि इस बातको जानता है, मिथ्यादृष्टि इस तत्वको नहीं जानता। वह कर्मजनित भावोंमें अहंकार ममकार करता है। मैं करता हूं, मैं भोक्ता हूं इस भावमें फंसा रहता है। क्योंकि उसको भेदविज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई। सम्यग्दृष्टी जानता है कि मैं अपनी परिणतिका करता हूं, और अपने ज्ञान स्वभावका भोक्ता हूं। उसको अतीन्द्रिय ज्ञानमें प्रेम होगया है। वह इंद्रिय जनित भोगोंसे उदास है। उसको निज पदके सिवाय और किसी पदकी इच्छा नहीं है। भेदविज्ञानकी कलासे वह अपनेको परमात्मा रूप देखता है या अन्य सर्व आत्मा-ओंको भी अपने समान देखता है। इसलिये रागद्वेषादि भावोंसे

दूर रहता है। और वीतरागी बना रहता है, समभावमें मगन रहता है। इस तरह स्वानुभूतिको जगाता है तब सब विकल्पजालोंसे मुक्त होजता है। आत्माका नामनिर्देश भी नहीं रहता, न गुण गुणीका भेद रहता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान भी विलय होजाते हैं। स्वसंवेदन सहज ज्ञानका उदय होजाता है। वह ज्ञान सूर्यके समान प्रकाशमान होता है। वह पूर्ण और अखंड है। ज्ञेयोंके निमित्तसे ज्ञानमें भेद नहीं होते। जैसे दर्पण पदार्थोंको दिखलाता हुआ भी निर्विकारी रहता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टीका ज्ञान निर्विकार रहता है। वह अपने ज्ञानसागरमें कल्लोल करता है। ज्ञानदर्शनका ही पाठ करता है। सम्यग्दृष्टीका आत्मा एक परम दृढ दुर्गके समान है जिसमें परद्रव्य परभावोंका प्रवेश नहीं हो सकता। वह निश्चिन्त निराकुल होकर विराजमान रहता है। स्वानुभूतिमें रमण करना ही वास्तवमें तप है। जहां आनन्दका अनुभव होता है, वीतरागता प्रकाशमान होती है। इसीसे कर्मकी निर्जरा होती है। स्वानुभूति ही वह क्रिया है जो आत्मरूपी सुवर्णको ज्ञानवैराग्यके मसालेसे शुद्ध करती है। और मोक्षनगरमें पहुंचा देती है। जो स्वानुभूतिमें रमण करते हैं वे ही तपस्वी हैं। वे परम सन्तोषी रहते हैं।

१९०—रूपस्थ ध्यान—निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। कर्मोंका नाश आत्मध्यानसे होता है। उसका उपाय रूपस्थ ध्यान भी है। रूपस्थ ध्यानमें तीर्थङ्कर भगवानका स्वरूप विचारना होता है। अरहंत परमेष्ठी समोशरणके श्री मंडपमें सिंहासन पर अन्तरीक्ष पद्मा-

सन्नसे विचार जमाता है। चमर आदि आठ प्रातिहार्यसे सुशोभित है। चारों तरफ बारह सभाओंमें चारों प्रकारके देव देवी, मुनिराज, आर्यिका, मनुष्य, पशु विराजमान हैं। इन्द्रादिक देव स्तुति कर रहे हैं। बड़ी भक्तिसे पूजन कर रहे हैं। भगवानकी दिव्यवाणी खिर रही है। भगवानका स्वरूप परम वीतराग है। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य–चार अनंत चतुष्टयसे शोभायमान हैं। वे स्वात्मानुभवमें लीन हैं। आत्मानंदका रसपान कर रहे हैं। भक्तों पर प्रसन्न नहीं होते हैं तौ भी भक्तजन भक्ति करके पुण्य बांध रहे हैं। उनकी शांत मुद्रा देखकर भक्तजन अपने आत्माका स्मरण करते हैं। स्वयं आत्मानुभवमें लीन होजाते हैं। इसतरह बार २ चिंतवन करना रूपस्थ ध्यान है।

यह ध्यान व्यवहारनयसे किया जाता है। निश्चयनयसे आत्मामें ध्याता ध्येय ध्यानका विकल्प नहीं है। आत्मा अपने स्वरूपमें सदा स्थित है। आत्मा चैतन्य धातुकी मूर्ति है, परम समता-रसमें लीन है। अपने गुणोंसे अभेद्य है। इसके असंख्यात प्रदेशोंमें स्फटिकमणिके समान परम शुद्धता है। इसका निष्कंप योगमें रहनेसे कोई कर्म नोकर्म इसमें प्रवेश नहीं कर सकते।

इसलिये वह परम निराकुल रहता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर भी परम वीतरागी बना रहता है। नित्य ही अतींद्रिय आनंदका स्वाद लेता है। इस तत्वको जो कोई समझता है वही सम्यग्दृष्टी है। वही उस नौकाको पा लेता है जो आत्माको भवसागरसे पार ले जाती है। यह नौका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रयसे बनी हुई है,

आत्मानुभूतिरूप है। ये बिना किसी चंचलताके मोक्षनगर पहुंच जाती है। जो इस नौकापर आरोहण करता है वह सदा निराकुल रहकर स्वात्मीक रसका पान करता है, संसारके मोहजालसे छूटा रहता है, परम सन्तोषी और सुखी बना रहता है। इसी नौकाको भाव निर्जरा कहते हैं।

१९१-रूपातीत ध्यान-निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। ध्यान अग्निमें कर्म जलते हैं। रूपातीत ध्यान भी बहुत उपकारी है। इस ध्यानमें सिद्धोंके स्वरूपका विचार किया जाता है। सिद्ध भगवान आठ कर्म रहित सम्यक्तवादि आठ गुण सहित पुरुषाकार पद्मासन खड्गासन अमूर्तीक स्वरूप लोकाग्र विराजमान हैं। वे अपने स्वरूपमें तन्मय निरंजन निर्विकार हैं। कर्ता और भोक्ता हैं। आत्माकी सर्वज्ञ स्वाभिमुखी स्वात्मीक रसपान करता है. उसी समान मैं हूं : देहरूपी मंदिरमें विराजमान हूं, परमात्मा स्वरूप हूं। इस प्रकार सिद्धोंका ध्यान रूपातीत ध्यान है। ये भी पर तत्व है, इसलिये व्यवहार ध्यान है। निश्चयसे आत्मा ध्यानके विकल्पोंसे रहित है, सदा ही स्वरूपमें स्थित है, अखण्ड है। हरएक प्रदेश आनंद गुणसे व्याप्त है। जैसे लवणकी डलीमें खारापन होता है, आत्मा बंध मोक्षकी कल्पनासे रहित है, अपने आप ही अपने गुणोंका विकास करनेवाला है। परम निश्चल और स्वतंत्र है।

ऐसे आत्माको जो सम्यक् पहचानता है, वही निश्चय मोक्ष-

मार्गमें स्थित है, वही रत्नत्रयसे विभूषित है, शिवनगरका स्वामी होता है। वास्तवमें आप ही अपना उद्धारक है, आप ही साधक है, आप ही साध्य है, आप ही देवल है, आप ही देव है, आप ही पूजक है, आप ही पूज्य है, आप ही समरसको उत्पन्न करके आप ही उसका पान करता है, आप अपने स्वभावमें परम सन्तोषी है। निज तत्वमें परम गंभीरता है। वह अनन्त शक्तिका धारक है। इस तत्वका अनुभव स्वानुभव है। सम्यग्दृष्टीको ये कला आ जाती है इससे वह गृहस्थ हो या साधु सदा ही निर्लेप रहता है। जगतके प्रपञ्चका ज्ञातादृष्टा बना रहता है। दर्पणके समान निर्विकारी रहता है।

तत्वज्ञानीको जीवन्मुक्त कहते हैं। उसके ज्ञानमें और केवलज्ञानीके ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं है। सामान्य ज्ञानका अनुभव निर्विकल्प सुखका साधन है, यह ही वास्तवमें तप है, यह ही ध्यान है, जो कर्मोंकी निर्जरा करता है। स्वतंत्रताका अनुभव स्वतंत्र होनेका उपाय है, परम मंगलस्वरूप परम आनंदप्रद है, परम तृप्तिकारक है, सहजहीमें मुक्तिका साधन है।

१९२–आज्ञाविचय धर्मध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। आत्मध्यानसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। आज्ञाविचय धर्मध्यान भी बहुत उपयोगी है। इसमें जिनेन्द्रकी वाणीके अनुसार तत्वोंका विचार किया जाता है। मुख्य तत्व जीव अजीव हैं। जीवका स्वभाव अनेकान्त रूप ध्यान करना योग्य है। आज्ञाविचयमें आज्ञाकी प्रधानता है। सूक्ष्म तत्वकी परीक्षा करनेकी शक्ति न होनेपर आगमके अनुसार

विचारपूर्वक तत्वको मान लेना आवश्यक होता है, यह भी व्यवहार ध्यान है। निश्चयसे आत्मा स्वयं ध्यान–स्वरूप है। आत्माका तत्व वचन अगोचर है, अनुभवगम्य है। इसमें ज्ञाता ज्ञेयका विकल्प नहीं है। जहां मन वचन काय स्थिर हो जाते हैं वहीं आत्माका दर्शन होता है। आपसे आपको जानना स्वसंवेदन ज्ञान है। यही भाव श्रुतज्ञान है। द्वादशांग वाणीका यह सार है। सम्यग्दृष्टी जीवके यही ज्ञान अवश्य होता है। इसमें रत्नत्रय गर्भित है।

महामुनिगण इसी तत्वका ध्यान करते हैं जिससे अतीन्द्रिय आनन्दका भी लाभ होता है। यह तत्व गंगाजलके समान निर्मल है। इसमें अवगाहन करना परम शांतिप्रद है, सब पापोंका निवारक है। इन्द्रादिक देव इसी तत्वकी स्तुति करते हैं। यही तत्व चौथे गुण-स्थानसे झलकने लगता है। इसी तत्वसे अर्हन्त और सिद्धको पर-मात्मा पद प्राप्त है। तत्वज्ञानी इसी तत्वको मनन करते हुये एक-एक दशामें सुखी रहते हैं। जहां रागद्वेष मोहका कोई विकल्प नहीं होता है वहीं आत्मतत्व झलकता है। यही समयसार है। परम अविकार है। ज्ञानियोंका आभूषण है। इसके विना द्रव्यलिंगी मुनि मिथ्यात्व भावमें बने रहते हैं। यही भावलिंग है। परम समताका साधक है। यही निश्चयनय है।

१९३–विपाकविचय धर्मध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म–शत्रुओंके क्षयके लिए उपाय विचार कर रहा है। वीतरागभाव ही कर्मकी निर्जराका कारण है। इसकी प्राप्तिका

उपाय विपाक विचय धर्मध्यान भी है। जगतमें संसारी जीव कर्म-बन्धनसे मलीन होरहे हैं। उन कर्मोंमें कुछ पुण्य कर्म हैं, कुछ पाप कर्म हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, और मोह यह चार घातीय कर्म तथा असाता वेदनीय, अशुभ नाम, नीच गोत्र, अशुभ आयु, यह चार अघातीय कर्म पाप हैं। और साता वेदनीय, शुभ नाम, उच्च गोत्र और शुभ आयु यह पुण्य कर्म हैं। इन पाप-पुण्य-कर्मोंके विपाकसे आत्माके विभाव भाव और दुःख सुखके समान होते हैं।

संसारी प्राणियोंकी सर्व प्रकारकी दुःखित वा सुखित अवस्थाका हेतु कर्मका उदय है। ध्याता अपनी और दूसरोंकी भिन्न २ अवस्थाओंपर विचार करते हुए उनके कारण कर्म उदयपर लक्ष्य देता हुआ साम्यभावकी प्राप्ति करता है और कर्मोंसे भिन्न शुद्ध आत्माको उपादेय मानता है। इस प्रकारका चिन्तवन, विपाकविचय धर्म ध्यान है। यह व्यवहार ध्यान है।

निश्चयनयसे आत्मामें ध्यानका कोई विकल्प नहीं है। आत्मा सदा अभेद, एकरूप, नित्य, निरंजन, निर्विकार, ज्ञाता, दृष्टा, परमानंदमयी झलकता है।

ज्ञानी जीव इसी नयके द्वारा शुद्ध तत्वका मनन करते हैं। स्वतत्व ही शुद्ध तत्व है। इसके सामने अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु यह पंच परमेष्ठी भी परतत्व हैं। पुद्गलादि पांच द्रव्य तो परतत्व हैं ही। निज तत्वमें रमण करना स्वानुभव है। जहां स्वानुभव है, वहीं रत्नत्रयकी एकता है, वहीं मोक्षमार्ग है। इस तरह निश्चयनयसे आप ही ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय है; ध्याता ध्यान ध्येय है, पूजक, पूजा,

पूज्य है, परम तपस्वी इस ही स्वानुभवको तप समझते हैं। यही ध्यानकी अग्नि है, जो कर्मोंको जलाती है, आत्मबल बढ़ाती है, परमानंद प्रदान करती है। स्वानुभव ही निर्मल जल है जिसमें अवगाहन करनेसे भव-आताप मिट जाता है। जिसके पान करनेसे तृषा शमन हो जाती है।

स्वानुभव ही वह दुर्ग है जिसमें बैठ जानेसे मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योग द्वारा आनेवाले कर्मास्रव प्रवेश नहीं कर सक्ते। स्वानुभव एक दर्पण है जिसमें आपसे आपका दर्शन होता है। जिस दर्शनसे परम सुख शांतिका लाभ होता है। स्वानुभव एक ऐसी कला है जिसके द्वारा सम्यक्दृष्टि जीव व्यवहारकार्य करते हुये भी अकर्ता बने रहते हैं। सुख दुःखको भोगते हुये भी अभोक्ता बने रहते हैं। स्वानुभव एक चन्द्रमा है जिसका पूर्ण प्रकाश परमात्मामें होता है और उसके अपूर्ण प्रकाशका प्रारम्भ सम्यक्दृष्टिको अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानमें होजाता है। सर्व द्वादशांगवाणीका सार स्वानुभव है।

यह ही भाव श्रुतज्ञान है। केवलज्ञानके समान है। स्वानुभवके करनेवाले वास्तवमें परम निस्पृही, परम सन्तोषी रहते हैं। स्वानुभव ही भावनिर्जरा है। स्वानुभव ही एक सीधी सड़क है जो मोक्षनगरको चली गई है। धन्य हैं वे मानव जो स्वानुभवके स्वामी होजाते हैं।

१९४-अपायविचय धर्मध्यान-निर्जरा भाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। तपहीसे कर्मकी निर्जरा होती है। अपाय विचय धर्मध्यान भी बड़ा उपकारी

है। ज्ञानी जीव विचारता है कि आत्माका बंधन रागद्वेष मोहादि भावोंके कारण होता है। उस बंधसे आत्माको पराधीन होना पड़ता है, स्वतंत्र सुखका स्वाद नहीं आता है। इसलिये परतंत्रकारक बंधके कारणोंको मिटा देना ही हितकारी है। इसलिये वह अपने आत्माके सिवाय सर्व परभावोंसे उदासीन होजाता है; और वीतराग भावकी भावना भाता है। यह भी व्यवहार ध्यान है, क्योंकि परतत्वका सम्बन्ध है। निश्चय-नयसे आत्मा सदा ध्यानस्वरूप है, निर्विकल्प है, अभेद है, अपने शुद्ध गुणोंसे परिपूर्ण भरा हुआ उन्हींके साथ कल्लोल किया करता है। उसके स्वरूपमें कोई परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल और परभावका प्रवेश नहीं हो सकता है।

वस्तुका यह स्वरूप ही है कि वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अस्तिरूप है, उसी समय परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है। आत्मतत्वमें मगन रहना सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य है। वह जानता है कि अपना पद अपने ही पास है। उसमें कोई आकुलताका कारण नहीं है। वहींपर ब्रह्मस्वरूप है, वही भाव अहिंसारूप है, वही समताका सागर है, वही रत्नत्रयका आभूषण है, वही दश लक्षण धर्मकी एक माला है; वही ज्ञानियोंका पूजनीय तत्व है। सम्यक्ती इसी तत्वका अत्यन्त प्रेमी होकर सर्व परतत्वसे विमुख होजाता है। गृहस्थ हो या साधु; उसकी दृष्टि इस ही तत्वमें रमण किया करती है। व्यवहार कार्य करते हुए भी सम्यक्ती उसमें रंजायमान नहीं होता, जैसे स्वर्ण कीचड़में पड़ा होनेपर भी दूषित नहीं होता। सम्यक्तीको यह शुद्ध श्रद्धान, ज्ञान, और स्वरूपाचरण चारित्र उनके जीवनको मंगलमय बना देता है।

और वह रत्नत्रयमयी भाव वास्तवमें भाव निर्जरा है, इससे कभी भी किसीको बन्ध नहीं होता यही वास्तवमें तप है। इस तपके तपनेवाले तपस्वी स्वानुभूतिको जगा लेते हैं और उसके प्रकाशमें जागृत रहते हुए स्वात्मानंदका स्वाद लेते हैं। उनको यह जगत शांतिमय झलकता है। कहीं भी कोई अशांतिका दर्शन नहीं होता। वे तपस्वी वास्तवमें इस ही तपके द्वारा आत्माको शुद्ध करते हुए मोक्षनगरमें पहुंच जाते हैं। और सदा ही सुख-शांतिका अनुभव करते हैं।

१९५-संस्थानविचय धर्मध्यान-निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। कर्मकी निर्जरा ध्यानसे होती है। संस्थान विचय धर्मध्यान भी एक उपाय है। इस ध्यानमें ध्याता लोकका स्वरूप विचार करता है। यह लोक पुरुषाकार अनादि अनन्त अकृत्रिम है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल और आकाश इन छः द्रव्योंसे भरा हुआ है। यह छः द्रव्य सत्रूप हैं, उत्पाद व्यय ध्रुव स्वरूप हैं, नित्य होते हुए भी परिणमनशील हैं। इनमें जीव चेतन है और शेष द्रव्य अचेतन हैं। जीव स्वभावसे शुद्ध बुद्ध निरंजन निर्विकार परमानंदमय स्वतंत्र एकसत्ता रखनेवाला अमूर्तिक द्रव्य है। वही मैं हूं। यद्यपि कर्म संयोगसे मेरी पर्याय मलीन होरही है परन्तु मेरे द्रव्यका स्वभाव सदा ही निर्मय है। ऐसे ही संसारमें सर्व जीव हैं, इसलिये मेरे परम समताभाव है। राग द्वेषका कोई कारण नहीं है। इस तरह विचारना व्यवहार धर्मध्यान है। निश्चयनयसे आत्मामें ध्यानका विकल्प नहीं है। आत्मा अपने द्रव्य,

क्षेत्र, काल, भावसे, सर्व अन्य द्रव्योंसे पृथक् अपने अस्तित्वको रखता है। यद्यपि गुणोंका समुदाय है तथापि अभेद है। सर्वगुण सर्वाङ्ग व्यापक हैं, कभी पृथक् नहीं हो सकते।

बन्धमोक्षकी कल्पना व्यवहार है। आत्मामें बन्धमोक्ष नहीं हैं। यद्यपि व्यवहारमें उत्तम क्षमा आदि दश धर्म कहे जाते हैं तथापि निश्चयसे आत्मा अपने एक अभेद धर्मस्वभावरूप है। इस तरह निश्चय-नयसे विचार कर तत्वज्ञानी जीव अपने स्वरूपमें मग्न हो जाता है तब जैसे नोनकी डली पानीमें घुल जाती है वैसे ही यह आप अपने स्वरूपमें तन्मय होजाता है। तब निश्चय सम्यक्चारित्रका भाव निक्षेप-रूप प्रकाश हो जाता है। इसीको स्वानुभव अथवा सुसमय कहते हैं। यह भाव वीतरागताका द्योतक है।

ध्यानी जीव इसी स्वानुभवके प्रतापसे गुणस्थानोंके क्रमसे चढ़ कर अन्तरात्मासे परमात्मा होजाता है। स्वानुभव ही वह मसाला है, सुवर्ण पाषाणके समान अशुद्ध आत्माको शुद्धकर देता है। स्वानुभव ही सुखका सागर है। इसमें तत्वज्ञानी वारवार स्नान करते हैं और उसीके शांत अमृतका पान करते हैं, जिससे वह पुष्ट बने रहते हैं, और सर्व चिंताओंसे मुक्त होकर एक अद्वैत भावमें विश्राम करते हैं। यही एक अपूर्व शय्या है जिसपर लोटकर सुख निद्रामें शयन करते हैं तथापि सदैव जागृत रहते हैं। यही भाव निर्जरा है जो कर्मोंका क्षय करती है।

१९६–जीवतत्व विचय धर्मध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्म-शत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। धर्मध्यानमें जीवतत्व विचय भी उपयोगी है। निश्चयसे जीव

सुख सत्ता चैतन्य बोध इन चार प्राणोंका धारी है । सहज ज्ञान दर्शनोपयोगका रखनेवाला है । वर्णादि रहित अमूर्तीक है । अपने शुद्ध परिणामोंका करनेवाला है । सहजानन्दका भोक्ता है । लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश रखनेवाला है । कर्मबन्धसे रहित है । सदा ही निश्चल क्रिया रहित है । अपने स्वभावमें एकाकार है । अपने गुणोंमें गुणोंसे अभेद है. रागादि रहित है । एक अनादि सत् पदार्थ है । न इसका कोई कारण है, न यह किसी द्रव्यका उपादान कारण है । स्वभावसे यह प्रेरक निमित्त कारण भी नहीं है । जब कर्म बंध सहित जीवका विचार किया जाता है तब व्यवहारनयसे ऐसा कहा जाता है कि यह जीव इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोश्वास चार प्राणोंका धारी है । मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान इन पांच उपयोगोंका रखनेवाला है । चक्षु, अचक्षु, अवधि. केवल. इन चार दर्शनोपयोगका रखनेवाला है । शरीर प्रमाण आकार रखता है । रागादि भावोंका करनेवाला वा सुख दुःखका भोगनेवाला है ।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय. तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय भेदरूप है। नर, नारक, तिर्यंच, देव इन चार गतिमें भ्रमण करनेवाला है । जीव अकेला ही अपने कर्मोंका कर्ता और भोक्ता रहता है । इसप्रकार जीव-तत्वका विचार करते हुए व्यवहार धर्मध्यान होता है। निश्चय-नयसे आत्मामें ध्यानका कोई विकल्प नहीं है । यह आत्मा शुद्ध स्फटिकमणिके समान निरंजन और निर्विकल्प रहता है। अपने स्वानु-भवमें मगन रहता है जिसके प्रतापसे सहजानंदका सदा भोग करता है।

यह स्वानुभवजनित स्वाद हरएक सम्यग्दृष्टिको प्राप्त होता है;

क्योंकि उसकी दृष्टि भलेप्रकार अपने ही आत्मतत्वपर स्थिर हो जाती है। वह संसारसे विमुख और मुक्तिके सन्मुख होजाता है। इस कारण एक गृहस्थ सम्यग्दृष्टि प्रयोजनवश मन, वचन, कायसे व्यवहार करते हुए भी निर्लेप और निर्द्वन्द रहता है, उसको भेदविज्ञानकी कला प्राप्त है। जैसे स्वर्ण कीचमें पड़ा हुआ मलिन नहीं होता वैसे सम्यक्ती जगतके कार्योंको करते हुए मलिन नहीं होता।

सम्यग्दर्शनकी महिमा अपूर्व है। इसीलिये इसको रत्न कहते हैं। यह सदा बन्धमोचक संवर निर्जराका कारण है।

सम्यक्ती जीव निराकुल रहनेका उपाय जानता है। कर्मके उदयमें समभाव रखता है, भेदविज्ञानपूर्वक स्वानुभवका लाभ जिनको हो जाता है वे ही अन्तरात्मा या महात्मा कहलाते हैं। स्वानुभव ही निर्जरा तत्व है, क्योंकि वहां वीतरागता है। वीतरागता ही समसुखरूप है। शीतल आत्मा रूपी चंद्रमाकी शुद्ध ज्योति है। ज्ञान सूर्यका प्रताप है। मोह-शत्रुके लिये कृपाण है। स्वानुभव प्राप्त योगी या तपस्वी ही निर्जराके अधिकारी होते हैं। जीव तत्वका यही सार मनन है। परम अद्भुत है। सिद्धके समान जीवको शुद्ध दिखाता है। यही परम संतोषका बीज हैं।

१९७-अजीव विचय, धर्मध्यान-निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका विचार कर रहा है। अजीव-तत्वके विचारसे धर्मध्यान करता हुआ तत्वज्ञानी ऐसा विचार करता है कि इस लोकमें जीव तत्वके सिवाय अजीव तत्व भी हैं।

विना अजीवके रहे जीव तत्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती । संसार और मोक्ष नहीं हो सकते । जिसमें राग द्वेषपूर्वक काम करनेवाली कर्मचेतना, सुख दुःख भोगनेवाली कर्मफलचेतना, शुद्ध ज्ञानको अनुभव करनेवाली ज्ञानचेतना, ऐसी तीन चेतना न हों उसको अजीव तत्व कहते हैं। अजीवमें मुख्य द्रव्य पुद्गल द्रव्य है, जो मूर्तीक है। इसीकी संगतिमें जीव संसारमें काम कर रहा है । जब इसकी संगत छूट जाती है तब जीव संसाररहित क्रियारहित रहता है। परमाणुको पुद्गल कहते हैं, उन परमाणुओंसे स्कन्धोंमेंसे आहारक वर्गणासे औदारिक वैक्रियिक आहारक शरीर बनते हैं। भाषा वर्गणासे भाषा बनती है, मनोवर्गणासे मन बनता है, कार्माण वर्गणासे कार्माण शरीर बनता है। यही पुण्यपापमें कर्मदेय है। इन्हींके फलसे जीवोंको सांसारिक सुखदु ख जीवन मरण होता है। कर्मबन्धसे ही जीव अशुभ कहलाता है।

जीव और पुद्गल यह दो मुख्य द्रव्य हैं, इनके कार्योंमें सहकारी शेष चार अजीव द्रव्य हैं। इनके गमन होनेमें उदासीनरूपसे सहकारी लोकव्यापी धर्मद्रव्य है। जहांतक यह दो द्रव्य हैं वहांतक लोककी व्यवस्था है।

इनके माननेसे लोक मर्यादा रूप नहीं रह सकता । द्रव्योंकी अवस्था बदलनेमें सहकारी काल द्रव्य है। यह अमूर्तिक अखण्डरूप लोकमें व्याप्त असंख्यात कालाणु हैं। इस कालके विना समय रूप व्यवहार काल नहीं हो सकता है। द्रव्योंको अवकाश देनेवाला आकाश द्रव्य है जो अनंत है। इस प्रकार पांच प्रकार अजीव द्रव्य , वही मैं हूं। पुद्गलसे भिन्न देखूं तो मैं शुद्ध हूं। इस प्रकार

व्यवहारनयसे अजीव तत्वका विचार धर्मध्यानमें करे। निश्चयनयसे ध्यानकी कल्पना ही नहीं है। आत्मा सदा ही अपने स्वभावके किलेमें विराजमान रहता है, जहांपर द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता और न कोई उपाधि उत्पन्न कर सकता है। आत्मा परम निराकुल रहता हुआ अपनी स्वानुभूति तियासे रमण किया करता है, परम आनन्दका भोग करता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव इस तत्वके रसिक होकर अपना जीवन सफल करते हैं। भेदविज्ञानपूर्वक स्वानुभवको जगाकर अपने स्वरूपमें जागृत रहते हैं। और निश्चय रत्नत्रयकी भावनासे समताभावको प्राप्त करते हैं। यही समताभाव निर्जरातत्व है। यही वास्तविक तप है। इस तपको तपनेवाले ही तपस्वी कहलाते हैं। जितनी देर तप होता है सहजसुखका वेदन होता है। जिससे परम शान्तिका लाभ होता है। इस शान्तिके भोगनेवालेको ही जिन या जिनेन्द्र कहते हैं। जिन मार्ग शान्त स्वरूप है। जो इसका अनुयायी है वह परम सन्तोषके साथ शान्तरसका पान करता है।

१९८–आस्रवविचय धर्मध्यान–निर्जरा तत्व।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। धर्मध्यानमें आस्रव तत्वका विचार करते हुये वह ऐसा मनन करता है कि जीवके पांच भाव होते हैं–औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायक, पारिणामिक, औदयिक। इनमेंसे औदयिक भाव ही कर्मके आस्रवका कारण है। पूर्वमें बांधे हुये कर्मोंके उदयसे तत्वका अश्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव, अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे अविरति भाव, सामान्य

कषायके उदयसे कषाय भाव, शरीर नाम—कर्मके उदयसे योगोंकी चंचलता ऐसे चार आस्रवके कारणभाव हैं। मिथ्यात्व गुणस्थानमें चारों ही होते हैं। आगे चौथे गुणस्थान तक अविरति आदि तीन भाव रहते हैं। आगे दशवें सूक्ष्मलोभ गुणस्थान तक कषाय और योग दो भाव रहते हैं। तेरहवें सयोग केवली गुणस्थानमें एक योग ही रहता है। सातवें गुणस्थान तक हरएक जीवके हर समय ज्ञानावरणादि सात कर्मोंका आस्रव हो सकता है। परन्तु त्रस-भागमें आठों कर्मोंका आस्रव होसकता है। आठवें नौवें गुणस्थानमें आयु विना सात कर्मोंका ही आस्रव होता है। दसवें गुणस्थानमें मोहनी कर्मके विना छह कर्मका ही आस्रव होता है। तेरहवें गुणस्थानमें एक सातावेदनीय कर्मका ही आस्रव होता है। पिछले कर्मके उदय होनेपर ज्ञानी आत्मा समभाव रखता है तब कषायका जोर घट जाता है इसलिये आस्रव भावकी मंदता होजाती है। कभी आस्रवके कारणसे जीवको संसारमें भ्रमण, अनादिकालीन संसारमें बीजवृक्षके समान कर्मोंके उदयसे आस्रव भावोंसे नवीन-कर्मोंका आस्रव होता है।

इस आस्रवको रोकनेवाले औपशमिक आदि चार भाव हैं। आत्मा स्वभावसे आश्रव रहित है। इस तरह व्यवहारनयसे विचारते हुए ज्ञानी आत्मा जब शुद्ध नयसे विचारता है तो आत्मामें आश्रव तत्वका सम्बंध ही नहीं दीखता। आत्मा स्वभावसे परम संवररूप है, स्वभाव गुप्तिके किलेमें बैठा हुआ है। तब कोई आश्रव भाव इस किलेमें प्रवेश नहीं कर सकते। आत्मा निरंजन निर्विकार निश्चल अभेद नित्य ज्ञाता दृष्टा आनन्दमय झलकता है। शुद्ध नयसे देखनेवाले सम्य-

दृष्टी होते हैं। उनको भेदविज्ञानकी कला मिल जाती है जिससे वह अपने आत्माको और पर आत्माको संसार दशामें रहते हुवे भी स्व भाव रूप देखते हैं। जैसा द्रव्य है वैसा उनको दिखाई देता है, इस कारण वे अपनी शुद्ध आत्मद्रव्यमें स्थिर होकर स्वानुभव प्राप्त कर लेते हैं। स्वानुभवमें रत्नत्रयकी एकता होती है, यही साक्षात् मोक्षमार्ग है, यही सीधी सड़क मोक्षनगर तक चली गई है। इस सड़कपर चलते हुये कभी आकुलता नहीं होती, सुख शांतिका लाभ होता है। स्वतंत्रता पानेका यही उपाय है। जो स्वानुभव करते हैं, वे ही अंतरात्मासे परमात्मा होजाते हैं। स्वानुभव विना जप तप पूजा पाठादि स्वतंत्रताका उपाय नहीं है। स्वानुभव परम मंगलरूप है, आत्मज्योति स्वरूप है, स्वसमयरूप है, ज्ञानियोंका परम मित्र है। यही स्वानुभव वास्तवमें निर्जरा तत्व है। स्वानुभवी जीव परम सन्तोषी और सुखी बने रहते हैं।

१९९–बंधतत्व विचय धर्मध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। बन्धतत्वका विचार करते हुये वह ऐसा मनन करता है कि यद्यपि आस्रवके पीछे बन्धतत्व कहा गया है तौ भी कर्मोंका आस्रव और बन्ध एक ही समयमें होता है। कर्मवर्गणाओंका आत्माके प्रदेशोंमें ठहर जाना बंध है, इसको उभयबन्ध कहते हैं। कार्माण शरीरसे कार्माण वर्गणाके बंध होनेको द्रव्यबंध कहते हैं। कर्मके उदयसे आत्माके रागादिक भावोंको भाव बन्ध कहते हैं। आस्रव बन्धके कारण एक ही हैं अर्थात् मिथ्यात्व अविरत कषाय योग यह चार

बंधके कारण हैं। बंध चार प्रकारका होता है। योगोंकी विशेषतासे प्रकृति प्रदेशबंध होते हैं। कर्मवर्गणाओंमें ज्ञानावरणादि प्रकृति पड़ती है और वर्गणाओंकी संख्या बढ़ जाती है इसको प्रकृति प्रदेशबंध कहते हैं। कषायोंसे स्थिति और अनुभागबंध होते हैं। कषाय तीव्र होनेसे आयुकर्म सिवाय सब कर्मोंमें स्थिति मन्द कषायसे देव मनुष्य तिर्यञ्च आयुकी स्थिति अधिक पड़ती है। तीव्रसे कम। जब कि नर्क आयुमें तीव्र कषायसे अधिक और मंद कषायसे कम पड़ती है। तीव्र कषायसे पापकर्मोंमें अनुभाग अधिक पड़ता है। मन्द कषायसे कम। मंदकषायसे द्रव्यकर्मोंमें अनुभाग अधिक पड़ता है तीव्र कषायसे कम पड़ता है। बन्धके ही कारणसे यह आत्मा संसारमें सुख दुख उठाता है। आप ही बन्ध करता है, आप ही उसका फल भोगता है। बंधसे आत्मा स्वतंत्र नहीं होता है, किंतु बन्ध छेदका उपाय स्वानुभवको प्राप्त करें तो बन्धका नाश होसक्ता है। इस तरह व्यवहारनयसे बंध तत्वका विचार करते हुए जब निश्चयनयसे विचार करता है तो आत्मामें बन्ध मोक्षकी कल्पना ही नहीं है। जैसे कमलनीका पता जलसे अलिप्त रहता है वैसे आत्मा अपने स्वभावमें पूर्ण स्वतंत्र है, गुणोंमें अभेद है, शुद्ध चैतन्यमय है, परमानंदमय है। यद्यपि इसके ज्ञानमें विश्वके पदार्थ झलकते हैं, तो भी दर्पणके समान ज्ञान अलग है, पदार्थ अलग है, आत्मा परम निरंजन निर्विकार निराकुल एक महान तत्व है। इसके श्रद्धान ज्ञानचारित्रको रत्नत्रय धर्म कहते हैं। वह धर्म स्वसमय-रूप, समयसार, अविकार है। इस धर्मके अनुयायी ही यथार्थ धर्मात्मा हैं। और वे ही परतन्त्रताके छेदका उपाय पा लेते हैं। जिस समय

स्वानुभव जाग्रत होजाता है उस समय परमानन्दका लाभ होता है और कर्मकी निर्जरा होती है। स्वानुभव ही अमृत रसायन है, जिसके पीनेसे अमरत्वका लाभ होता है, निश्चयनयके द्वारा अपना तत्व परसे भिन्न झलकता है और समताभावका लाभ होजाता है। यही समभाव निर्जरा तत्व है, यही भाव तत्व है, तप है। इसके विना बाह्य तप, असार है। यही सारभूत आत्मा कल्याणकारी अध्यात्मविद्या है। इसीके ज्ञाता विद्वान और पण्डित हैं, व परम सन्तोषी रहते हैं।

२००–संवरतत्वविचय धर्मध्यान–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। संवर तत्वका मनन करते हुये विचारता है–स्वतंत्रता प्राप्तिके लिये कर्मोंके आगमनको रोकनेकी जरूरत है जैसे–नावमें पानी रोकनेके लिये छेद बंद करनेकी जरूरत है। चार प्रकार आस्रवके लिये चार ही संवर भाव हैं। मिथ्यात्वको सम्यग्दर्शनसे, अविरति भावको व्रतोंके धारणसे, कषायको वीतराग भावसे, योगको अयोग भावसे रोका जाता है। संवरके लिये मन, वचन, काय आदि महाव्रत, ईर्या आदि पांच समिति, उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म, अनित्यादि बारह भावना, क्षुधादि बाईस परीषहका विजय, सामायिक आदि चारित्र, अनशनादि तपकी जरूरत है। मूल संवरका कारण भेदविज्ञान है जिससे अपने आत्माको सर्व परसे भिन्न समझा जाय। चौथे गुणस्थानसे संवरका प्रारम्भ होता है। चौदहवें गुणस्थानमें पूर्ण संवर होता है। संवर भावसे मुख्यतया पापकर्मोंके निरोधकी जरूरत है। क्योंकि उनका उदय आत्माकी ही उन्नतिमें विघ्नकारक है। संवर भावसे यदि पुण्य कर्मका आस्रव होता

है तो वह पुण्य आत्माकी उन्नतिमें बाधक नहीं होता है। तो भी साधकको पुण्य कर्मकी वांछा नहीं करना चाहिये। अनंतानुबन्धी कषायके निरोधसे स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान संज्वलन कषायोंके निरोधसे यही स्वरूपाचरण चारित्र बढ़ता रहता है। दशवें गुणस्थानके ऊपर इसीको यथाख्यात चारित्र कहते हैं। इस तरह व्यवहारनयसे विचारकर निश्चयनयसे जब मनन करता है तो उसे प्रतिभासता है कि आत्मा स्वयं संवररूप है। इसके प्रदेशोंमें इतनी दृढ़ता है कि पुद्गल कर्म प्रवेश नहीं कर सकते। यह आत्मा परम पवित्र है, चैतन्य स्वरूप है, अविनाशी है, परम आनन्द-मय है, अपने आनन्द गुणोंको सदा अपने भीतर कायम रखता है।

क्योंकि इसमें अगुरुलघु गुण है जिस गुणके प्रतापसे कोई द्रव्य अपनी मर्यादाको उलंघन नहीं करता, आत्मा अपनी सत्ताको भिन्न रखता है। हरएक आत्मा अपना तत्व है, पर आत्मामें पर तत्व है। इस तरह जो निज तत्वको लक्ष्यमें लेकर अनुभव करता है वह स्वानु-भवको प्राप्त कर लेता है। जब स्वानुभव होता है तब मन, वचन, कायकी चंचलता मिट जाती है और वीतरागता पैदा हो जाती है। यही ध्यानकी अग्नि है जो कर्म ईंधनको जलाती है। और आत्माके बलको दृढ़ करती है, अज्ञानके अन्धकारको मेटती है। स्वानुभव क्षीरसागरके समान अमृतका समुद्र है। जिसमें आत्मारूपी हंस कल्लोल किया करते हैं। और उसी शांत रसका पान करता है जिससे परम तृप्तिको पाता है। स्वानुभवी जीव सम्यग्दृष्टी महात्मा होते हैं, जो रत्नत्रयकी नौकापर चढ़कर भवसागरसे पार होजाते हैं।

— — —

०२।५।। (२०६१७) 2

२०१–निर्जरातत्व विचय धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके क्षयका विचार कर रहा है। निर्जरातत्वका विचार धर्मध्यानका एक उपाय है। कर्मोंका एक देश क्षय होना निर्जरा है। संसारी जीवोंके कर्म अपने समयपर पक कर उदय आते हैं, और झड़ जाते हैं, यह सविपाक निर्जरा है। यह गजस्नानकी तरह आत्माको शुद्ध करनेवाली नहीं है। सम्यग्दृष्टी जीवके अविपाक निर्जरा होती है। कर्मोंकी स्थिति घटाकर शीघ्र समयके पहिले निर्जरा करना अविपाक निर्जरा है। सम्यग्दृष्टी जैसे २ गुणस्थान चढ़ता जाता है यह निर्जरा बढ़ती जाती है। यह निर्जराका मुख्य कारण तप है। आत्मामें आत्माका तपना ही तप है। यहां सब इच्छाओंका निरोध होता है। आत्मलीनतामें वीतरागता उत्पन्न होती है। यही निर्जराका साधक है। यह निर्जरा संवरपूर्वक होती है। इसलिये मोक्षका साधक है।

इस तरह व्यवहार नयसे विचार करते हुये जब निश्चयनयसे विचार करता है तो देखता है कि आत्मामें कोई कर्मका बंध ही नहीं है, जिसकी निर्जरा करना पडे। आत्मा अपने गुणोंसे अभेद है, एकरूप है, ज्ञायक पदार्थ है, अमूर्तिक है, निरञ्जन निर्विकार है। यह आत्मा आपको आपरूप देखने जाननेवाला है। अपनी परणतिका ही कर्ता है, अपने ही आनंद गुणका भोक्ता है, सर्व विकल्पोंसे रहित है, परम गम्भीर है। इसमें ज्ञेय पदार्थ प्रतिविम्बित होते हैं तौ भी उनसे विकारी नहीं होता है। इसतरह विचार करते हुये जब ज्ञानी आत्मतत्वमें लय होजाता है तो स्वानुभव दशा प्राप्त होजाती है, वहां निश्चयनय और व्यवहार नयका कोई विकल्प नहीं रहता। स्वानुभव होते हुये

अद्वैत भाव झलकता है, उस समय ज्ञानमें उसी तरह मगन हो जाता, जैसे नमककी किंकरी पानीमें घुल जाती है ।

इस तरहका साधक भाव जिसको प्राप्त होता है, वही तपस्वी है। उनका आत्मा समुद्रवत् क्षोभ सहित निश्चल झलकता है। वह उस समुद्रमें स्नान करता है, और उसीके आनन्द—अमृतको पान करता है . परमशान्ति सुखका अनुभव करता है । द्वादशांग वाणीका सार यही है। शुद्धात्मानुभव एक जहाज है जो सीधा जीवको मोक्षद्वीपमें ले जाता है। स्वानुभव ही परम मंगल है, जिससे आत्मा पवित्र होता है। धन्य है वह भेद-विज्ञानी जीव जो न्यारियेके समान कर्मरजके भीतरसे आत्माको अलग कर लेते हैं। और उसीके शान्त उपवनमें कल्लोल करते हैं।

२०२—मोक्षतत्त्व विचय धर्मध्यान, निर्जरा भाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्म-शत्रुओंके नाशका उपाय विचारता है। मोक्ष तत्त्वका मनन करते हुए ज्ञानी विचारता है कि जीव और पुद्गल दो द्रव्योंके विना बन्ध मोक्षकी कल्पना नहीं बन सकती। जो लोग जगतमें एक ही द्रव्य मानते हैं चेतन या जड़ उनके मतमें मोक्षतत्व नहीं बन सकता। बन्धसे छूटनेका नाम मोक्ष है। आत्मा संसार अवस्थामें अज्ञानी व रागी, द्वेषी, मोही हो रहा है। अज्ञान व रागादिक दोष हैं, यह बात सर्वमान्य है, आत्माके स्वभाव नहीं होसकते। इससे सिद्ध है कि आत्माको आवरण करनेवाला कोई कर्म अवश्य है उसी कर्मके [illegible] मोक्ष कहते हैं। जिस तरह सुवर्ण शुद्ध होजाता है, फिर

मलिन नहीं होता या जिस तरह चना भुन जाता है, फिर उग नहीं सकता, इसी तरह कर्मके अभावसे मुक्ति हो जाती है तब फिर यह आत्मा बंधको प्राप्त नहीं होता।

मोक्ष अवस्थामें आत्मा सदा अपने स्वभावमें अटल बना रहता है। उसके ज्ञान आनन्द आदि गुण विकसित होजाते हैं। मोक्षको अपवर्ग कहते हैं। क्योंकि वहां धर्म, अर्थ, काम तीन वर्ग नहीं हैं। मोक्ष प्राप्त आत्मा ही परमात्मा है। यह सदा ही निर्विकार रहता है। उसमें कोई कर्तापनेकी इच्छा नहीं हो सकती। मोक्षतत्व बाधा रहित परम सूक्ष्म है। मोक्ष प्राप्त आत्माको सिद्ध कहते हैं। क्योंकि अपने साध्यको सिद्ध कर लिया। मोक्ष प्राप्त आत्मा अपने स्वरूपमें तल्लीन होकर आत्मानंदरूपी अमृतका पान किया करता है तो आत्मामें बंध मोक्षकी कल्पना नहीं है। यह त्रिकाल अपने ध्रुव स्वभावमें अटल बना रहता है। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप है। पर चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है।

आत्मा अनन्त गुणोंका समुदाय है, अखण्ड द्रव्य है, असंख्यात-प्रदेशी है, यही इसका स्वक्षेत्र है। अपने स्वभावमें परणमन होना स्वकाल है, शुद्ध भाव इसका स्वभाव है।

आत्मामें अनंत शक्ति है, पर द्रव्य इसको बांध नहीं सकता है यह एकरूप रहता है। क्षोभ रहित समुद्रके समान निश्चल है, परम वीतरागी है। इस प्रकार शुद्ध आत्माका अनुभव भेदविज्ञानके द्वारा होता है। ज्ञानी जीव द्रव्य कर्म, ज्ञानावरणादि भावकर्म, रागद्वेष आदि नोकर्म शरीरादिसे भिन्न आत्माको देखते हैं। धारावाही अभ्याससे

स्वात्मानुभवका लाभ होता है। यही वास्तवमें निर्जरा तत्व है। स्वानुभव ध्यानकी अग्नि है, जो कर्मोंको जलाती है, ज्ञानको प्रकाश करती है, आत्मबलको बढ़ाती है। स्वात्मानुभवी जीव सच्चे जिन उपासक हैं, वे ही परम जिन होजाते हैं। स्वानुभव एक गम्भीर नदी है, जिसमें स्नान करनेसे पवित्र होजाता है और सुख-शांतिका अनुभव करता है।

२०३-उपशम सम्यग्दर्शन विचय धर्मध्यान-निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। उपशम सम्यग्दर्शनके संबंधमें मनन करता है। यह बड़ा उपकारी है। मोक्षमार्गमें चलते हुए अनादि कालके मिथ्यादृष्टीके सबसे प्रथम उपशम सम्यग्दर्शनका लाभ होता है तब अनंतानुबंधी क्रोधादि, कषाय और मिथ्यात्व कर्मोंका अन्तमुहूर्तके लिये उपशम होजाता है अर्थात् उदय नहीं रहता। जब यह सम्यक्त छूट जाता है तब सादि मिथ्यादृष्टिके सात प्रकृतिका या कभी पांचका ही उपशम होता है। मिश्र और सम्यक्त प्रकृतिका भी उपशम हो जाता है इसको प्रथम उपशम सम्यक्त कहते हैं। उपशम श्रेणी चढ़ते हुए वेदक सम्यक्तको जो उपशम सम्यक्त होता है उसको द्वितीय उपशम कहते हैं।

यह सम्यक्त किसीको स्वभावसे किसीको दूसरेके उपदेशसे होता है। इसके होनेमें भेदविज्ञानकी जरूरत है। सम्यक्तीको यह झलक जाना चाहिये कि मेरा आत्मा स्वभावसे शुद्ध है, रागादि भावोंसे भिन्न हैं। कोई सात तत्वोंको विस्तारपूर्वक जाने या उसके भावको ही प्राप्त होजावे। मुख्य बात यह है कि शुद्ध स्वभाव ग्रहण करनेयोग्य

भासना चाहिये। सम्यक्तीके भीतर अतीन्द्रिय सुखकी श्रद्धा होजाती है। वह संसार शरीर भोगोंसे उदास होजाता है। कर्मोदयसे जो कुछ मन वचन कायकी क्रिया करता है उसको अपने आत्माका कर्तव्य नहीं जानता। वह शुद्ध उपयोगका प्रेमी होता है। अशुभकी तरह शुभ उपयोगको भी बंधका कारण जानता है। ज्ञान वैराग्यसे भीजा रहता है। इस सम्यक्तकी प्राप्तिमें करणलब्धि होनी चाहिये। अंतर्मुहूर्तके लिये परिणाम समय२ अनंत विशुद्ध होते जाते हैं। उपशम सम्यक्तमें आयुका बंध नहीं होता है न मरण होता है। परन्तु द्वितीय उपशममें मरण हो सकता है। इस सम्यक्तको चारों गतिके पञ्चेन्द्रिय सैनी जीव प्राप्त कर सकते हैं। विना इसके धर्मध्यानका प्रारम्भ नहीं होता है। आर्त या रौद्रध्यान बना रहता है। इस तरह व्यवहारनयसे विचार करता है तो आत्मामें उपशम सम्यक्तका कोई विकल्प नहीं है। यह सदा सम्यक्ती है। मिथ्यात्वका प्रवेश निश्चयसे आत्मामें नहीं होता। आत्मा परम शुद्ध निर्विकारी बना रहता है। ज्ञान चेतनाका अनुभव करता है, निराकुल आनंदमें मगन रहता है।

निश्चयनयसे आत्मतत्वका ज्ञान बहुत जरूरी है। तभी इस ज्ञानके होनेसे सम्यक्त हो सकता है। सम्यक्ती जीव जगतके पदार्थोंको द्रव्यार्थिक नयसे देखते हैं तब उनको छहद्रव्य अलग भासते हैं। संसारी और सिद्धात्मामें कोई भेद नजर नहीं आता। जिससे समताभावको पालेते हैं। यही भाव निश्चयनय है, यही भाव परम समाधि है, शांत रसका समुद्र है। जो इस समुद्रमें स्नान करते हैं, वे पवित्र होजाते हैं।

२०४–उपशम चारित्र विचय, धर्मध्यान निर्जरा भाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा हैं। धर्म-ध्यानमें उपशम चारित्रपर लक्ष देते हुए मनन करता है कि जब जैन साधु शुक्लध्यान करते हुए उपशम श्रेणीपर चढ़ते हैं तब आठवेंसे ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशम चारित्र होता है। उपशांत कषाय गुण-स्थानमें इसकी पूर्णता होती है। यहां चारित्र मोहनीका उपशम हो जाता है। अन्तर्मुहूर्तका समय है। फिर ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचे आता है। यदि मनन करें तो चौथे गुणस्थानमें आकर देवलोकमें जाता है। वीतरागताके अंश झलक जाते हैं। इस चारित्रको एक जन्ममें २ दफे या कुल ४ दफे पाकर फिर साधु अवश्य क्षपकश्रेणीपर चढ़कर मुक्त होजाता है। इस चारित्रके होते हुए शुद्धोपयोग रहता है जिससे ध्याताको आत्मानंदका लाभ होता है और कर्मकी निर्जरा भी होती है। क्षायक सम्यग्दृष्टी और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी इस चारित्रको पा सकते हैं। वास्तवमें कषायोंके उदयसे ही परिणामोंमें कलुषता रहती है। कषायोंका दमन बड़ा उपकारी है। वीतरागता ही चारित्र है। संसारका उच्छेदक है, जीवके औपशमिक भाव दो प्रकार होते हैं—औपशमिक सम्यक्त; औपशमिक चारित्र। यद्यपि क्षायक भाव प्राप्त किये विना मोक्ष नहीं होता है तो भी औपशमिक चारित्र साधकको उपकारी है, जहां इक्कीस प्रकार कषायोंका उपशम किया जाता है। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामोंको प्राप्त होकर उपशम चारित्र होता है। निश्चयनयसे आत्मामें उपशम चारित्रकी आवश्यकता नहीं

रित्रपर सदा आरूढ़ रहता है।

आत्म द्रव्य परम शुद्ध निर्विकार निरंजन अभेद अमिट अविनाशी अनादि अनन्त स्वतंत्र तत्व है। इसमें अनंतगुण वास करते हैं, इसकी शक्ति अनन्त है। अपने आत्माको शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके बलसे शुद्ध अनुभव करना चाहिए। शुद्ध अनुभव यही सम्यक्तका प्रकाश है, ज्ञानका विकाश है, स्वरूपाचरण चारित्र है। आत्मज्ञान विना क्रियाकांड मोक्षका साधक नहीं है। आत्मज्ञान एक अपूर्व महत्व है जिसके भीतर बिराजनेसे परम शांतिका लाभ होता है, दुखोंका शमन होता है। जो इस तत्वको समझते हैं वे ही संसारसागरसे पार होनेकी नौका पा लेते हैं। आत्मज्ञानमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों गर्भित हैं व आत्मज्ञानी परम सन्तोषी होते हैं। ज्ञान चेतनाका स्वाद लेते हैं यही भाव निर्जरा हैं, यही यथार्थ तत्व है।

२०५–क्षायक ज्ञान विचय धर्मध्यान–निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। नौ प्रकार क्षायक भाव हैं। उनमें क्षायक ज्ञान, ज्ञानावरणीय कर्मोंके क्षयसे प्रकाशवान होता है। यद्यपि ज्ञान आत्माका स्वभाव है, तथापि अनादिकालसे ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे अप्रकाशित है। जब भेद-विज्ञानका अभ्यास किया जाता है, आत्माके स्वभावको परभावोंसे भिन्न विचार किया जाता है और आत्मानुभव किया जाता है, तब शुक्ल-ध्यानके द्वारा पांचों ही प्रकारका ज्ञानावरणीय कर्म क्षय किया जाता है तब केवलज्ञान प्रगट होता है। यह ज्ञान सूर्यके प्रकाशके समान स्वपर प्रकाशक है। जितने भी जाननेयोग्य पदार्थ हैं उन सबको विना क्रमके एकसाथ यह ज्ञान जान लेता है।

यदि लोकालोकके पदार्थ जितने हैं उनसे अनंतगुने ही पदार्थ हों तो भी यह ज्ञान जान सकता है। जैसे सूर्य प्रकाश करते हुये किसीसे रागद्वेष नहीं करता है वैसे ही यह ज्ञान निर्विकार रहता है। केवलज्ञानसे ज्ञानी आत्मा सबको जानते हुये भी अपने स्वरूपमें मगन रहता है, स्वात्मानंदका भोग करता है जिसमें अनन्त आनन्द शक्ति है। इसीसे इस ज्ञानकी महिमा अनन्त है, अनुपम है, सकल प्रत्यक्ष है। इस तरह व्यवहारनयसे विचारते हुये निश्चयनयसे देखा जावे तो ज्ञान आत्माका स्वभाव है। सदा ही निरावरण रहता है।

ज्ञान और ज्ञानीका भेद भी व्यवहारनयसे है। निश्चयनयसे आत्मा अपने गुणोंमें अभेद है, बाधा रहित है, निरञ्जन है, परम वीतराग है, एकरूप अखण्ड प्रकाशमान है। आत्मस्वभावका ज्ञान ही सात तत्वज्ञान है। इसका लाभ हरएक सम्यग्दृष्टीको होता है, जिससे वह आत्मानुभवका अभ्यास करता है और सुखशांतिका लाभ करता है। धर्मका सार यही है। यही संसारसमुद्रसे पार होनेकी नौका है। जिसमें न कोई कर्माश्रव न बंध होता है। तत्वज्ञानी इसीके प्रतापसे कर्मोंकी निर्जरा करता है और शुद्ध हो जाता है। आत्मज्ञान एक सुन्दर वाटिका है, जिसमें तत्वज्ञानी रमण करता हुआ परम संतोष पाता है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों रत्न गर्भित हैं, इसीसे इसको मोक्षमार्ग कहते हैं। इसके विना व्यवहार चरित्र मोक्षमार्ग नहीं है। आत्मज्ञान ही भाव निर्जरा है, या भाव तप है।

तपस्वीजन इसी तपके लिये साधन करते हैं और अपने जीवनको सफल कर लेते हैं। केवलज्ञानके प्रकाश होनेपर प्रत्यक्ष रूपसे

स्पष्टरूपसे अपने आत्माका दर्शन हो जाता है। जहांतक यह ज्ञान प्रगट न हो वहांतक श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका साक्षात्कार होता है। अमूर्तीक पदार्थोंको केवलज्ञान ही देख सकता है। जो इस ज्ञानके रसिक हैं, वे परम संतोषी होते हुए सुख–शांतिका लाभ करते हैं।

२०६–क्षायक दर्शन विचय धर्मध्यान, निर्जरा भाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। नौप्रकार क्षायक भावोंमें दूसरा भाव क्षायक दर्शन है, जो दर्शनावरणीय कर्मके क्षयसे प्रगट होता है। जब साधु बारहवें गुणस्थानमें दूसरे शुक्लध्यानको ध्याते हैं, तब शुद्ध भावोंके प्रतापसे चार घातिया कर्मोंका क्षय होजाता है, तब क्षायक दर्शन उत्पन्न होता है। इसके द्वारा संपूर्ण पदार्थोंका सामान्य स्वरूप एक-साथ अवलोकनमें आता है। जगतके पदार्थ सामान्य विशेष रूप हैं। सामान्यको जाननेवाला दर्शन है, विशेषको जाननेवाला ज्ञान है। अल्पज्ञानियोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, परन्तु केवलज्ञानियोंके दर्शन ज्ञान साथ होते हैं।

क्षायक दर्शनको आत्माका स्वभाव जानना चाहिए। इसमें कोई प्रकारकी आकुलता नहीं होती है। केवलज्ञानी सर्व पदार्थोंको देखते जानते हुए भी निर्विकार रहते हैं। उनका आत्म अवलोकन स्थिर रहता है। यद्यपि उपयोगमें सब पदार्थ आ जाते हैं तथापि कोई मल उत्पन्न नहीं होता है यही क्षायकदर्शन, अनंतकाल तक बना रहता है। क्योंकि शुद्ध आत्माके फिर कर्मका बन्ध और आवरण नहीं होता है, अल्प ज्ञानियोंके यह दर्शन प्रकट नहीं होता है। क्योंकि पूर्ण शुद्ध उपयोगका प्रकाश नहीं होता है।

इस तरह व्यवहारनयसे विचार करते हुये जब निश्चयनयसे मनन किया जाता है तो आत्मामें सदा ही दर्शनगुणका प्रकाश है। आत्मा निश्चयसे निरञ्जन निर्विकार अविनाशी सार तत्व है। यह अपनी सत्ता सब जीवोंसे निराली रखता है। जैसे मिठाइयोंके भीतर मीठापना या मिष्ट पदार्थ भिन्न है वैसे आत्मा पुद्गलोंके मध्य रहता हुआ भी भिन्न है। भेदविज्ञानके द्वारा हरएक ज्ञानी जीव अपने आत्माको ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, दर्शनादि नोकर्म और रागादि भावकर्मसे भिन्न देखता है। तब इसको आत्मा अपने द्रव्य स्वभावसे यथार्थ देखनेमें आता है। ज्ञानी जीव इसी आत्म तत्वपर लक्ष्य रखते हुये ध्यानका अभ्यास करते हैं, और आत्म-अनुभवको पाते हैं तब उनका आत्मा अपने आत्माके ही गम्भीर सागरमें गोते लगाता है। और इसीसे आत्म आनन्द रूपी अमृतका पान करता है। स्वानुभव एक परम प्रतापवान सूर्य है।

जिसके द्वारा आत्मा अपनी परम ज्योतिमें देदीप्यमान रहता है और सब पदार्थोंको जानते हुये भी निर्विकार रहता है। आत्मानुभव परम सुगंधित फूलोंकी माला है, जिसे पहिनकर तत्वज्ञानी परम शोभायमान रहता है। और आत्मीक वीतरागतामें गंधको ग्रहण करता है। आत्मानुभव एक चन्द्र ज्योतिके समान चमकता हुआ शांतभावको झलकाता है। आत्मानुभव ज्ञानियोंके ज्ञानका आभूषण है, उससे अलंकृत होकर आत्मा परम शोभायमान रहता है। यही वास्तवमें भाव निर्जरा है, जिससे कर्मका क्षय होता है और सुखशांतिका लाभ होता है।

२०७–क्षायिक दान विचय धर्मध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके विनाशका उपाय विचार कर रहा है। ९ प्रकार क्षायिक भावोंमें तीसरा भाव क्षायिक दान है। जब साधु शुक्लध्यानके बलसे घातीय कर्मोंका क्षय करता है तब दानांतराय कर्मके क्षय होनेसे क्षायिक दानकी शक्ति प्रकट होजाती है। इस शक्तिके कारण अनन्त भगवान प्राणीमात्रको अभयदान देते हैं। उनके द्वारा किसी भी प्राणीको कोई भय या कष्ट नहीं होता है तथा दिव्य ध्वनि द्वारा सम्यक्ज्ञानका दान करते हैं, जिससे भव्यजीव आत्म-कल्याणका मार्ग पाकर संसार-समुद्रसे पार होनेका उपाय करते हैं। निश्चयसे वह अपने आत्माको निरन्तर आत्मानंद देते हैं, अन्तराय कर्म न होनेपर उनके दानमें कोई विघ्न बाधा नहीं होती। अल्प ज्ञानियोंके अन्तराय कर्मके उदय होनेपर दान करनेकी इच्छा होनेपर भी दान नहीं कर पाते हैं। शुक्लध्यान बारवें गुणस्थानमें एकत्वरूप रहता है जिससे परम शुद्ध परिणामोंका विकास होता है क्योंकि वहां मौनी कर्मोंका उदय बिलकुल नहीं होता है। यह क्षायिक दान अनन्त कालतक बना रहता है।

सिद्ध भगवान भी अपनेको स्वात्मानन्दका दान करते रहते हैं। इसके सिवाय जो कोई भक्त श्री अरहन्त सिद्ध भगवानकी आराधना करता रहे, उसको सुख शांतिका लाभ होता है। यह भी दान है। इस भावकी महिमा अपार है। शुद्ध आत्मानुभवके प्रतापसे इस शक्तिका प्रकाश होता है। आत्मानुभव परम कल्याणकारी है, यही मार्ग है।

निश्चयनयसे विचार किया जाय तो आत्मामें क्षायिक दानका विकल्प भी नहीं होता है। आत्मा अपने गुणोंसे अभेद है। परम निरंजन निर्विकार है। न उसमें कर्मोंका बंध और स्पर्श होता है, न वह नर नारक आदि रूप धारण करता है, न उसमें कोई चञ्चलता होती है, न वहां रागद्वेष आदिका विकल्प होता है। वह सदा ही ध्रुव ज्ञायक भावको रखनेवाला है, क्योंकि विकल्पोंसे बाहर है। नाम स्थापना द्रव्यभाव निक्षेपोंसे दूर है, न उसमें ज्ञानके भेद हैं। वह सूर्यके समान सदा प्रकाशमान रहता है। अपनेको और सकल विश्वको विना क्रमके एक साथ जानता है।

हरएक आत्माकी सत्ता निराली है। तो भी द्रव्य अपेक्षा सब समान हैं। जो ज्ञानी जीव इसतरह निश्चयनयसे विश्वकी आत्माओंको देखते हैं उनके अन्तरङ्गमें समताभाव जग जाता है, वे इस समता देवीकी उपासना बड़े गौरसे करते हैं जिस कारण उनके परिणामोंकी उज्वलता समय समयपर बढ़ती जाती है, सम्यग्दृष्टिकी चौथे गुणस्थानसे बराबर समतादेवीकी उपासना करते हैं तब मन, वचन, काय स्थिर हो जाते हैं और आत्मा अपने आत्मिक समुद्रमें मग्न हो जाता है वहीं निरन्तर स्नान करता है, उसीके शांत रसका पान करता है, यही अमृत रसायन है, इसीसे भव्य जीव अमर हो जाता है। समतादेवी अरहन्त, सिद्ध, उपाध्याय, साधु पांचों परमेष्ठियोंको परमप्रिय हैं, वे इसकी आराधनामें तन्मय रहते हैं। परम समाधिभावका उपयोग रखते हैं। समता परम सुखकारिणी है। ये ही भाव निर्जरा है जिससे कर्मोंका क्षय हो जाता है, सूर्यका विकाश होता है, ज्ञानियोंको इसीकी उपासना करनायोग्य है।

२०८–क्षायकलाभ–विचय धर्मध्यान–निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। नौ प्रकार क्षायक भावोंमें क्षायकलाभ चौथा भाव है। जब साधु बारहवें गुण-स्थानमें शुक्लध्यानके द्वारा घातिया कर्मोंका क्षय करता है तब लाभांतराय कर्मोंके क्षयसे क्षायक लाभ शक्ति प्रगट होती है। इसके प्रभावसे अर्हंत भगवानके परमोदारक शरीरको पुष्टिकारक नोकर्मवर्गणाओंका लाभ होता है, जिससे ग्रास रूप भोजन किये विना ही शरीरका पोषण होता है। अर्हंतको नित्य ही आत्मानंदका लाभ होता है, यह भी क्षायक लाभ है। यह शक्ति अनन्तकाल तक बनी रहती है। सिद्धोंके कषायके प्रभावसे कर्मोंका बंध नहीं होता है, इससे उनके ज्ञान और आनंदमें कोई अन्तराय नहीं पड़ता है। निश्चयनयसे आत्मामें क्षायकलाभका कोई भेद नहीं है, आत्मा सदा ही अनन्त वीर्यमय है। आत्मा अपने स्वभावसे अभेद निरंजन निर्विकार है इसका स्वरूप परमशुद्ध ज्ञानानंदमय है। यद्यपि हरएक आत्माकी सत्ता भिन्न है तथापि स्वरूपसे समान है। तत्वज्ञानी जीव द्रव्य दृष्टिसे अपने और परके आत्माको एकसमान शुद्ध देखते हुए समताभावमें लीन होजाते हैं, वीतरागताका प्रकाश करते हैं, जिससे कर्मोंकी निर्जरा होती है, और आत्मानंदका लाभ होता है। आत्माकी परतंत्रताका कारण रागादिक भाव हैं। इन्हींसे कर्मका बंध होता है। स्वतंत्रताका उपाय सिद्धत्वका शुद्ध तत्वका श्रद्धान ज्ञानादिक आचरण हैं, यही निश्चय रत्नत्रयका भाव है। संसारी जीवोंमें लाभन्तरायका उदय रहनेसे साता-

कारी पदार्थोंका लाभ नहीं होता है। शुद्धात्मामें अन्तराय कर्मोंके नाशसे अनन्त वीर्य प्रगट होता है।

आत्मा अपने स्वरूपसे दर्पणके समान है जिसमें लोकालोकके समन्त पदार्थ एकसाथ झलकते हैं तौभी कोई विकार नहीं होता है। क्योंकि रागादिकका कारण मोहभाव नहीं है। तत्वज्ञानी व सम्यग्दृष्टी भलेप्रकार निज तत्वके श्रद्धानमें दृढ़ रहते हैं और भेदविज्ञानके प्रतापसे अपने स्वरूपको ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्मसे भिन्न अनुभव करते हैं। जब उपयोगको मन, वचन, कायके विकल्पोंसे दूर रक्खा जाता है, तब स्वानुभवकी शक्ति प्रगट होती है। स्वानुभव ही स्वतंत्रताकी सीधी सड़क है। इसी ही पर सर्व ही धर्म आत्मा गृहस्थ या साधु चलते हैं। उनका मुख सिद्ध स्वरूपकी तरफ रहता है। संसारसे विमुख रहता है। उनको दृढ़ श्रद्धान है कि अपना निज स्वरूप ही ग्रहण करनेयोग्य है। और पर स्वरूप त्याग्य है। वे अपने स्वरूपमें निःशंक रहते हैं, पर पदार्थकी वांछा नहीं रखते, सबपर समताभाव रखते हुए ग्लानि भावसे अलग रहते हैं, कभी भी मूढ़ताको आश्रय नहीं करते हैं। अपने गुणोंको बढ़ाते हैं। अपने श्रद्धानमें स्थिर रहते हैं। रत्नत्रयसे वात्सल्यभाव रखते हैं। आत्म-धर्मकी भावना करते हैं। इन आठों अंगोंको पालते हैं और मोक्षमार्गको तय करते जाते हैं। स्वानुभव ही निर्जराभाव है, यही सार तप है, इसहीका आश्रय करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। सुख शांतिका यही मार्ग है, स्वतन्त्रताका यही उपाय है।

शांतिका अनुभव करता है और मोक्षमार्गके ऊपर चलता है, संसारसे उदासीन रहता है, मंगलमय जीवन बिताता है। आत्मिक रसका पान ही स्वतंत्रताका उपाय है इसीसे कर्मकी निर्जरा होती है। इसके विना व्रत, तप, जप सब वृथा है।

धर्मका सार आत्मज्ञान है। जैसे रसोईमें लोन डालनेसे स्वाद आजाता है ऐसे ही आत्मज्ञानसे हरएक धर्मकार्यमें रस आजाता है। आत्मज्ञान चिंतामणि रत्नके समान है, सब आकुलताओंका निवारण करनेवाला है। आत्मामें गुणोंका समूह है और अनंतधर्म है। स्याद्वाद-नयसे इसका यथार्थ ज्ञान होता है। जो स्याद्वादनयमें कुशल हैं वो संयमी पुरुष हैं, वो ही आत्म श्रद्धान कर सक्ते हैं, सुख-शांतिका अनुभव उन्हींको होता है।

२१०-क्षायिक उपभोगविचय-धर्मध्यान निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। नव प्रकार क्षायिकभावमें क्षायिक उपभोग छठा भाव है। शुक्लध्यानके बलसे घातीय कर्मोंका क्षय हो जाता है तब क्षायिक उपभोगकी शक्ति प्रगट होजाती है, जिससे अरिहन्त भगवानके समोसरणमें नाना प्रकारकी समोसरण विभूतिका संयोग होता है। और आत्मामें आत्मानंदका वारवार उपभोग होता है। यह शक्ति अनन्तकाल तक बनी रहती है। सिद्धोंमें भी रहती है। निश्चयनयसे आत्मा अपने गुणोंसे अभेद है। निरंतर अपने स्वरूपमें तल्लीन है, निरविकार है, निरंजन है, सर्व प्रकार रागादि भावोंसे शून्य है। परम प्रतापशाली है। एक

अद्भुत पदार्थ है। उसी ज्ञानमें सर्व विश्व रहता है। तौ भी वो निर्लेप है। आत्मतत्वका ज्ञाता ही सम्यग्दृष्टी होता है। वह अपने स्वरूपमें एकसा बना रहता है। उसको संसार असार दीखता है। मोक्षतत्व ही सार दीखता है। वह स्वतंत्रताका पुजारी है। हरएक पदमें निराकुल रहता है। और आत्मानन्दका उपभोग करता है। जिससे परम शांतिका अनुभव कर रहा है। उसके ज्ञानमें केवली भगवानकी तरह सर्व पदार्थ यथार्थ दिखते हैं। वह किसी पदार्थमें रागद्वेष नहीं करता है। कर्मोंके उदयको साम्यभावसे देखता है और अपनी बुद्धीको तत्वज्ञानके साधनमें लगाता है, परम संतुष्ट रहता है। गुणस्थानोंके अनुसार भावमें निश्चल रहता है, मोक्षमार्गपर दृढ़तासे चलता है। ज्ञान वैराग्यको अपनी खड्ग बनाता है। जिससे कर्मोंको काटता जाता है, परम सन्तोष मानता है।

तत्वज्ञानके प्रतापसे समभाव जाग्रत होजाता है. जिससे यह विश्वकी आत्माओंको सिद्ध और संसारी जीवोंको एक-समान देखता है। समताभाव सीधी सड़क है, जो मोक्षमहल तक चली गई है। उसके पथिक समान दृष्टिसे चलते हैं, और निराकुल रहते हैं। समता भावके दृढ़ करनेको स्याद्वादके ज्ञानकी जरूरत है। जिससे वस्तुओंके अनेकान्त धर्मोंको सम्यक् प्रकारसे विचार करके वीतराग रहा जाय। और संयमकी आवश्यक्ता है, जिससे मन वचन कायको स्थिर करके स्वरूपमें तल्लीन किया जाय। भेदविज्ञानके प्रतापसे अपना स्वरूप परसे भिन्न दीखता है। जैसे दाल छिलके अलग है, तेल और खल अलग है, व्यंजनोंमें लवण अलग है और शाकादि भिन्न हैं, उष्ण

जल मल, जल और अग्नि अलग है, उसी तरह कर्म नोकर्म, भाव-कर्मके भीतर आत्मा भिन्न दीखता है। तब स्वानुभव करनेकी कला प्रगट होजाती है। जिससे ज्ञानी जीव अपने स्वरूपके सन्मुख रहता है ; यही परम पुरुषार्थ है। इससे निर्जरा-भाव प्रगट होजाता है, जो आत्माको कर्मोंसे छुड़ाता है। और शुद्धताका प्रकाश करता है। परतंत्रताको मेटकर स्वतंत्रता प्रकाश करता है।

२११-क्षायकवीर्य विचयध-र्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। शुक्ल-ध्यानके प्रभावसे जब घातिया कर्मोंका क्षय होजाता है तब वीर्यांतराय कर्मके नाशसे क्षायकवीर्य गुण प्रगट होता है। इस गुणके प्रतापसे अनन्तकाल तक कोई निर्बलता नहीं आती। यह गुण अनन्तकाल तक बना रहता है। सिद्धोंमें भी प्रगट रहता है। जहांतक इस गुणका लाभ नहीं होता है, आत्मा पूर्ण शक्तिको प्राप्त नहीं होता है। संपूर्ण गुणोंको यह गुण स्थिर रखनेवाला है। निश्चयनयसे विचार किया जावे तो आत्मामें इस गुणका कोई विकल्प नहीं है। आत्मा सदा ही अपने गुणोंसे अभेद है। परम निरंजन निर्विकार है। आत्मद्रव्य स्वपर ज्ञाता-द्रष्टा है, दर्पणके समान पदार्थोंको प्रकाश करते हुए निर्विकार रहता है।

यह परम सूक्ष्मतत्व है। मन, वचन, कायसे अगोचर है। यद्यपि छः द्रव्यमई लोक है तथापि आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय उभय रूप है। अन्य द्रव्य ज्ञेय मात्र है। जो इस तत्वको समझते हैं वही सम्यग्दृष्टी हैं, उनको हरपदमें भेदविज्ञानके द्वारा आत्माका दर्शन होता है।

श्रुतज्ञान इसमें सहायक है। आत्म दर्शन ही मोक्षमार्ग है, इसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों गर्भित हैं। आत्मा एक गम्भीर समुद्र है, जो कि अपने स्वरूपमें नियमित रहता है। पवनके वेगोंके समान मारी पदार्थोंके सम्बंधमें विकृत नहीं होता है और आत्मा अनंत गुण-रूपी रत्नोंका भण्डार है। आत्मतत्वका ज्ञाता ही जिन हैं।

इसीका अपूर्ण प्रकाश अभ्यासमें रहता है। केवलज्ञानके समय पूर्ण प्रकाश होजाता है। अनन्तवीर्य आत्माका प्रभावशाली गुण है। शुद्ध आत्माको कभी अशुद्ध नहीं होने देता। मुनियोंको बड़े बड़े उपसर्ग आते हैं जो वे आत्मबलसे जीतते हैं। परमानंदका लाभ शुद्ध आत्माको इसके प्रतापसे बना रहता है। यह आत्माका परम आभूषण है।

आत्माको आत्मरूपमें सदा रखनेको यह परम सहायक है। अन्तराय कर्मके नाश हो जानेके बाद फिर उसका बंध नहीं होता। इसलिये कोई निर्बलता नहीं आती। ज्ञानी जीव अपने आत्मबलको संभालते हुए आत्माका अनुभव करते रहते हैं। इससे सुख-शांतिका अनुभव करते हैं और स्वतंत्रताको प्राप्त करते हैं।

२१२-क्षायक सम्यक्तविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है। नौ प्रकार क्षायक भावोंमें, क्षायक सम्यक्त आठवां भाग है। जब क्षयोपशम या वेदक सम्यग्दृष्टी करणलब्धिके द्वारा अनन्तानुबन्धी चार कषायको विसंयोजन करके दर्शनकी तीनों प्रकृतियोंका क्रमशः क्षय करता है, तब क्षायक सम्यक्त भाव प्रगट होता है। यह भाव केवली व श्रुत-

केवलीके निकट चौथे गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक किसीमें प्रगट होता है । यह परम निर्मल भाव है, इसका कभी नाश नहीं होता है। केवलज्ञानीके इस भावको परमावगाढ़ सम्यक्त कहते हैं । इस भावका धारी अपने शुद्ध आत्माको परम निर्मल निश्चल अनुभव करता है। और उसी भवसे या तीसरे भवसे या चौथे भवसे मुक्त हो जाता है।

निश्चयनयसे विचार किया जावे तो आत्मामें इस भावका कोई विकल्प नहीं है । आत्मा अपने गुणोंसे अभेद है । आत्मा नित्य निरञ्जन निर्विकार परम शुद्ध ज्ञातदृष्टा एक अखण्ड पदार्थ है । यह मन वचन कायके अगोचर है। आत्मतत्व सब तत्वोंमें सार है। इसके सिद्धांतको जो ठीक समझता है वही जैनी है । वह जगतमें दर्पणके समान ज्ञातादृष्टा रहता है । उसके ज्ञानमें सर्व पदार्थ यथावत् झलकते हैं । तो भी कोई विकार नहीं होता है । क्योंकि मोहनीय कर्मका सर्वथा नाश हो गया है । आत्मतत्व एक अद्भुत रत्नाकर है, जिसमें अनन्त गुणोंका निवास है, परन्तु ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रागादिक भाव कर्मोंका अभाव है । इस समुद्रमें परम शांत समरसका प्रवाह है। इस शांत रसको आत्मज्ञानी पीते हैं । और उसीमें मज्जन करते हैं। और कर्ममलको धोते हैं। शांत रसके सामने कोई भी रस ठहर नहीं सकता । क्योंकि उसमें वीतरागताका अनुभव रहता है । स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, जिसपर साधुगण चलकर मोक्षमार्गको तय करते हैं और अनुपम ज्ञानभावका स्वाद आता है । स्वानुभव परम प्रतापशाली सूर्य है जिसमें कषायकी उष्णता नहीं है, परम निष्कषाय भाव है । इस भावके प्रकाश करनेवाले सम्यग्दृष्टी होते हैं, जो निरन्तर

साम्यभाव रहकर समय विताते हैं और जगतमें शांतिका उदाहरण पेश करते हैं। क्षायक सम्यक्ती निर्मल सम्यक्तीके प्रभावसे अपने श्रद्धानमें निश्चल रहते हैं। कर्मोंके आने पर भी विचलित नहीं होते हैं। उनके सम्यक्तके प्रभावसे सदा ही निर्जरा रहती है। आत्मानुभवके समय-विशेष कर्मकी निर्जरा करते हैं। यह उनके ज्ञानवैराग्यका फल है। वास्तवमें सम्यग्दृष्टी किसी भी परभावकी इच्छा नहीं करते। अपने स्वरूपके स्वादके प्रेमी बने रहते हैं. जिससे सदा ही निर्मोही रहते हैं।

२१३–क्षायिक चारित्रविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। नौ प्रकारके क्षायिक भावोंमें क्षायिक चारित्र नौवां भाव है। जब साधु शुक्लध्यानके बलसे क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होता है तब दशवें गुणस्थानके अंतमें चारित्र मोहनीयकी सर्व प्रकृतियोंका क्षयकर डालता है। तब क्षायिक चारित्रगुण प्रगट होता है। इससे वीतरागता प्रकाशमान होजाती है। रागद्वेष आदिकी कल्लोलें मिट जाती हैं, आत्माका भाव पूर्ण निर्विकार रहता है। यह गुण अर्हन्त और सिद्धोंमें भी रहता है। शुद्ध पारणामिक भाव हो जाता है। आत्माका स्वभाव निरंजन अमूर्तिक निर्विकार है। ज्ञानकी अपेक्षा देखा जावे तो आत्माके ज्ञानमें सर्व विश्वके पदार्थ अपने गुणपर्याय सहित दर्पणके समान झलकते हैं। न पदार्थ ज्ञानमें प्रवेश करते हैं, न ज्ञान पदार्थमें प्रवेश करता है। आत्मतत्व ही सारतत्व है, इस तत्वको जो समझते हैं वही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी हैं। संसारमें सम्यग्दृष्टी जीव जलमें कमलके समान अलिप्त रहते हैं। धर्मका सार आत्मज्ञान है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,

सम्यक्चारित्र तीनों गर्भित हैं। भेदविज्ञानके द्वारा आत्मज्ञान होता है। तैजस कार्मण और औदारिक शरीरके मध्यमें आत्मा व्यापक है तौ भी उनसे स्पर्श नहीं करता है। मिथ्यादृष्टीकी श्रद्धा आत्मतत्व पर नहीं रहती। वह आत्माका स्वरूप औरका और जानता है। चिदानंदमई आत्मतत्व उसकी पकड़में नहीं आता है। आत्मतत्व बहुत सूक्ष्म है। मन, वचन, कायके अगोचर है।

जो कोई सर्व इंद्रियोंको और मनको रोककर भीतर देखता है उसको स्वानुभव जागृत होजाता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है, इसीसे स्वतंत्रताका लाभ होजाता है। इसी भावसे कर्मोंकी निर्जरा होती है और आत्माके गुण प्रगट होते रहते हैं। जहांपर सर्व तत्वोंके विकल्पोंका अभाव है वहां स्वानुभव प्रगट होजाता है। चौथे गुणस्थानसे स्वसंवेदन झलक जाता है और बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष, मोह नहीं होते हैं।

जगतमें घोर उपसर्ग सह करके भी जबतक आत्मतत्व प्रगट नहीं होता है, तबतक मोक्षमार्गका लाभ नहीं होता है। क्योंकि वहां भेदविज्ञानकी कला नहीं जागी। स्वानुभव चंद्रमाके तुल्य बढ़ता जाता है। केवलज्ञानीके भीतर स्वानुभव पूर्ण होजाता है। वे परम वीतराग और निश्चल रहते हैं। स्वानुभव अमृतमयी भोजन है, जिसका स्वाद सुखशांतिमय है। सिद्धोंके भीतर यह स्वानुभव सदा बना रहता है। इसीसे सिद्ध भगवान अनन्तसुखका वेदन करते हैं। ज्ञानी जीवोंका आभूषण यह स्वानुभव है। संसारमें रागद्वेष, मोहके बंधके कारण हैं। वीतरागभाव संवर निर्जराका उपाय है। इसको प्राप्त करके अभ्यासी जीव परम तृप्त होजाता है।

२१४–क्षयोपशमिक मतिज्ञान विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। अठारह प्रकार क्षयोपशमिक भाव हैं। मतिज्ञान पहिला भाव है। मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे और वीर्य अन्तरायके क्षयोपशमसे मतिज्ञान पैदा होता है। सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयसे प्रगट होता है। मतिज्ञान पांच इंद्रियां और मनके द्वारा पदार्थका सीधा ज्ञान है। सम्यग्दृष्टिसे ज्ञानको मतिज्ञान कहते हैं। अवग्रह ईहा अवायके भेदसे मतिज्ञान होता है। चार इन्द्रियां पदार्थको स्पर्श करके जानती हैं। आंख और मन दूरसे जानते हैं। मतिज्ञानमें पहिले दर्शन होता है, फिर अवग्रह, जिसमें कुछ आकार ग्रहण होता है। फिर विशेष ज्ञान होता है, जिसको ईहा कहते हैं। फिर पदार्थका निश्चय हो जाता है जिसको अवाय कहते हैं। फिर धारणा हो जाती है। फिर स्मृति प्रत्यभिज्ञान चिन्ता अनुमान होजाता है। सम्यग्दृष्टी जीव पदार्थोंको जानकर समभाव रखते हैं, वस्तु स्वरूपको विचार लेते हैं, पदार्थोंमें रागद्वेष नहीं करते हैं, मतिज्ञानसे मोक्षमार्गका साधन करते हैं। यह मतिज्ञान मोक्षमार्गमें सहायभूत पदार्थोंके जाननेमें उपकारी है। निश्चयनयसे ज्ञानमें कोई भेद नहीं है।

ज्ञान एक प्रकार सूर्य समान तेजस्वी है। आत्मा परम शुद्ध निरंजन निर्विकार है। कर्मोंसे न बद्ध है न स्पृष्ट है। आत्मा अनेक अवस्थाओंमें रहनेपर भी अपने अमूल्य स्वरूपको नहीं त्यागता है। आत्मतत्वकी गम्भीरताको समुद्र आदिक किसी पदार्थकी उपमा नहीं दी जा सकती। आत्मा परम पुद्गल तत्व है। जो इस तत्वको पहि-

२.१६–अवधिज्ञानविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। तीसरा क्षयोपशमभाव अवधिज्ञान है। जिसमें द्रव्यक्षेत्रकालभावकी मर्यादा है। इसलिये उसको अवधिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान परकी सहायता विना आत्मासे ही होता है। इसलिये इसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञानके द्वारा भविष्य और भूतकालकी बातोंको भी जाना जाता है। देव और नारकियोंको यह ज्ञान जन्मसे ही होता है। इसलिये इसको भव प्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान सम्यग्दर्शन तथा तपादिकके प्रभावसे होता है, उसको गुणप्रत्यय कहते हैं। मनुष्य तिर्यंचोंको भी गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है, जिसमें ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है।

अवधिज्ञान छह प्रकारका भी है। अनुगामी जो दूसरे क्षेत्रभवमें साथ २ जाय। अननुगामी जो दूसरे क्षेत्रभवमें साथ न जावे। वर्द्धमान जो ज्ञान बढ़ता जावे। हीयमान जो ज्ञान घटता जावे। अवस्थित जो ज्ञान स्थित रहे। अनस्थित जो ज्ञान एकसा स्थित न रहे। जो कभी घटे कभी बढ़े। इस ज्ञानके तीन भेद और भी हैं–देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। परमावधि और सर्वावधि दो ज्ञान साधुओंको होता है, जो उसी जन्ममें मोक्ष जानेवाले हैं। देव नारकियोंको देशावधि ही होता है। अवधिज्ञानी कई जन्मोंकी बातोंको जान सकता है। अवधिज्ञानका विषय मूर्तिक पदार्थ है। अर्थात् संसारी आत्मा और पुद्गल है। अमूर्तिक पदार्थोंको नहीं जानता है यह अवधिज्ञान [illegible]के होता है।

सम्यग्दृष्टी अवधिज्ञानसे विषयोंको जानकर उनमें आसक्त नहीं होता है। निश्चयनयसे विचार किया जाय तो ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। कर्मोंके निमित्तसे यह भेद हो जाते हैं। ज्ञानी जीव हरएक आत्माको शुद्ध व एकरूप देखते हैं तब उनके रागद्वेषका अभाव हो जाता है, समभाव जागृत होजाता है। इस समभावसे कर्मोंकी निर्जरा होती है, और सुखशांतिका लाभ होता है। तत्वज्ञानी जीव आत्माके भीतर आपसे आप मगन होते हुए मोक्षमार्गपर चढ़ते जाते हैं। धर्म-ध्यान शुक्लध्यान इस भावसे प्रगट होजाते हैं। स्वानुभूति जागृत हो जाती है। भेदविज्ञानका अभ्यास करनेसे स्वानुभूति प्रगट रहती है।

स्वानुभूतिके समय मन, वचन, कायके विकल्प नहीं उठते हैं। एक शुद्ध अद्वैतभाव प्रकाशमान होजाता है। मन, वचन, कायकी क्रिया स्थिर होजाती है, और निर्जराभाव झलक जाता है।

२१७–मनःपर्यय ज्ञानविचय–धर्मध्यान निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। मनः-पर्यय ज्ञान क्षयोपशम भाव है। यह मनःपर्यय ज्ञानावर्णीय कर्मके क्षयो-पशमसे उत्पन्न होता है, ऋद्धिधारी साधुको प्राप्त होता है। दूसरेके मनमें चिंतित बातको जानना उसका विषय है। इसके दो भेद हैं– ऋजुमती, विपुलमती। दूसरेके मनमें सरल उपस्थित बातको जान लेना ऋजुमतीका विषय है। वर्तमान कालमें चिंतित की हुई बातको ऋजुमती जानता है। सरल और वक्र दोनों प्रकारकी बातोंको जो दूसरेके मनमें वर्तमानमें हो या भूतकालमें हो या भविष्यमें हो उसको विपुलमती ज्ञान जान सक्ता है। इसका विषय अवधिज्ञानसे भी सूक्ष्म

है। इसका क्षेत्र ४५ लाख् योजन ढाईद्वीप है। अवधिज्ञानकी -अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञानवालेके परिणामोंमें विशुद्धि अधिक रहती है। इसका विषय मूर्तिक पदार्थ है। केवलज्ञानकी प्राप्तिमें यह नियमसे सहकारी नहीं है। श्रुतज्ञानसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होजाती है। निश्चयनयसे ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। ज्ञान अभेद एक रूप आत्माका स्वभाव है। आत्मा निश्चयनयसे अखण्ड अभेद निरंजन और निर्विकार है, ज्ञाता द्रष्टा है। यह अपनेको भी, और परपदार्थोंको भी एक समयमें जानता है। आत्मा स्वभावसे भावकर्म' रागादिक, द्रव्य-कर्म ज्ञानावरणादिक और नोकर्म शरीरादिकसे भिन्न है। जो आत्माके स्वरूपको परमशुद्ध अनुभव करते हैं वही सम्यग्दृष्टी है। उनके अनुभवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों रत्नोंकी एकता प्रकाशमान होती है।

भेदविज्ञानके प्रतापसे ज्ञानी जीवोंको आत्मानुभवका लाभ होता है। उस समय शुभ शांतिका स्वाद आता है। समरसका पान होता है। समरसमें कोई प्रकारका विकार नहीं है। यह निर्मल अमृतमई पदार्थ है। समरसमें निर्जराभाव रहता है। और उससे कर्मोंकी निर्जरा रहती है। स्वतन्त्रता प्राप्तिका यही उपाय है कि पांच इन्द्रियों और मनको वशमें रखकर एक आत्माको ही लक्ष्यविन्दु बनाया जावे तभी आत्मानुभव प्रगट होता है और कर्मकी निर्जरा होती है।

२१८—कुमतिज्ञानविचय—धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोके नाशका उपाय विचार कर रहा है। कुमतिज्ञान एक क्षयोपशम भाव है जो मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयो-

पशमसे होता है। मतिज्ञानके साथ मिथ्यादर्शनका उदय रहता है। इसलिये इसको कुमतिज्ञान कहते हैं। कुमतिज्ञान पांच इन्द्रिय और मनके द्वारा पदार्थोंको जानकर अपने ज्ञानको मोक्षमार्गसे विपरीत कार्योंमें प्रयोग करता है। जिनसे अपना और दूसरोंका हित न हो ऐसे कार्योंके करनेकी बुद्धि करता है मतिज्ञानके ३३६ भेद इस प्रकार होते हैं अवग्रह, ईहा, आवाय, धारणा, चार प्रकार मतिज्ञान १२ प्रकारके पदार्थोंका होता है बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध, क्षिप्र (शीघ्रगामी), अक्षिप्र (मंदगामी), अनिःश्रित (छिपा हुआ), निःसृत (प्रगट दिखनेवाले), अनुक्त (विना कहा हुआ), उक्त (कहा हुआ), ध्रुव (दीर्घकाल स्थायी) और अध्रुव (क्षणभंगुर)।

इसलिये १२को ४ से गुणा करनेपर ४८ भेद हुये। यह ५ इन्द्रिय और मन हरएकसे हो सकता है। इसलिये ४८ को गुणा करनेपर २८८ हुये। यह भेद अर्थ—अवग्रहके हैं, जिसमें पदार्थका स्पष्ट ज्ञान होता है। जहां पदार्थका ज्ञान स्पष्टज्ञान न हो, कुछ ग्रहण मात्र हो उसको व्यंजनावग्रह कहते हैं। इसमें ईहा, आवाय, धारणा नहीं होसकते स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण, यह ४ इन्द्रियां पदार्थोंको स्पष्ट कर जानती हैं। आंख और मन दूरसे जानते हैं। बारह प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण होसकता है। इसलिये बारह भेद हुए। ४ इन्द्रीकी अपेक्षासे ४८ भेद हुए। कुल भेद ३३६ हुए। मिथ्या-दर्शनके कारण कुमतिज्ञान बहुत अनर्थकारी होता है। कुमतिज्ञानके कारण बुद्धि उल्टा काम करती है। हिंसादि पापोंको बढ़ानेमें बुद्धि प्रवीणता बताती है। कुमतिज्ञानी पदार्थोंको जानकर उनसे संसारवर्धक

विषयकषायोंमें प्रयोग करता है। नानाप्रकारके अलङ्कल खोटे अभिप्रायसे बनाता है। जितना अधिक कुमतिज्ञान होता है, उतना अधिक उसके आत्माको हानिकारक होता है। उसको आत्मतत्वका श्रद्धान नहीं होता है।

कुमतिज्ञानसे इन्द्रियोंका दुरुपयोग करता है। कुमतिज्ञान एकेंद्री आदि सब ही मिथ्यादृष्टी प्राणियोंमें पाया जाता है। जिनके मन नहीं है वे अधिक विचार नहीं कर सकते तथापि प्राप्त शरीरमें मोह होनेके कारण अज्ञान भाव रहता है। सैनी मनवाले प्राणियोंका कुमतिज्ञान सम्यग्दर्शनके होनेपर सुमतिज्ञान हो जाता है। इस तरह कुमति ज्ञान हानिकारक है। निश्चयनयसे विचार किया जाय तो ज्ञानमें अनेक भेद नहीं हैं। ज्ञान एक आकार सूर्यके समान सर्व प्रकाशक है और वीतराग भी है। क्योंकि जाननेमात्रसे राग द्वेष नहीं होता है। निश्चयसे आत्मतत्व एक अद्भुत पदार्थ है, जिसका सम्यक् प्रकारसे ज्ञान सम्यक्दृष्टी महापुरुषोंको होता है। वे अपने ज्ञानमें पदार्थोंका सत्य स्वरूप केवलज्ञानीकी तरह जानते हैं। और ज्ञान वैराग्यकी शक्तिसे कभी पदार्थमें मोहित नहीं होते। वे आत्मतत्वके ज्ञाता आत्माके ध्यानपर लक्ष रखते हैं, जिससे स्वानुभूति उत्पन्न होजाती है, जिससे उनको क्षुधा-शांतिका अनुभव होता है।

स्वानुभूति एक अग्नि है जो कर्मरूपी ईंधनको जलाती है। यह रत्नत्रय स्वरूप है। यही भाव निर्जरा है। इसी अग्निको सेवन करनेवाले यथार्थ ब्रह्मभेदी हैं। उन्हींका जीवन सफल है।

२१९-कुश्रुतज्ञान विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार रहा है। कुश्रुत ज्ञान भी क्षयोपशमिक भाव है। इस ज्ञानको कुश्रुत इसलिये कहते हैं कि श्रुतज्ञानके साथ मिथ्यादर्शनका उदय मिला हुआ है, जिसके कारण प्राणी श्रुतज्ञानका उपयोग सांसारिक भावनामें करता है। जिनके मन नहीं है उनको अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान होता है। सैनिक प्राणीके अक्षरात्मक श्रुतज्ञान भी होता है। कुश्रुत ज्ञानके प्रभावसे शास्त्रज्ञान कषायकी पुष्टिमें काम करता है। कुछ लोग किसीपर क्रोधित होकरके किसी व्यक्तिके हानि करनेमें कुश्रुति ज्ञान काम करता है। कुछ लोगोंको शास्त्रज्ञानका अभिमान हो जाता है, वे अपनी प्रतिष्ठा करानेमें ही शास्त्रज्ञानका उपयोग करते हैं। और मानपुष्टिके लिये नाना प्रकारके व्याकरणादि ग्रन्थोंकी रचना करते हैं और सन्मान पाकर बहुत राजी हो जाते हैं। कभी कोई मिथ्या ज्ञानके प्रचारमें अपनी माया कषायके कारण तत्पर हो जाते हैं। कुछ लोग लोभके उदयसे ऐसे शास्त्रोंकी रचना करते हैं जिनसे उनका लोभ पुष्ट होता है। और जगतमें मिथ्यात्वका प्रचार होता है। कुश्रुतज्ञानके कारण ऋग्वेद आदि ग्रंथोंका ऐसा अर्थ किया जाता है जिससे यज्ञमें व देवी देवताओंके मठोंमें धर्मके नामसे पशुबलि हों। कुश्रुतज्ञानी शास्त्रज्ञानका बड़ा दुरुपयोग करते हैं। जिन शास्त्रोंसे आत्मकल्याण करना था उनसे सांसारिक प्रयोजन चलता है। कुश्रुतज्ञानी मिथ्या ज्ञानके कारण कुधर्मका प्रचार करके जगतको ठगते हैं। कुश्रुतज्ञानी एकान्त नयसे वस्तुका स्वरूप प्रतिपालन करते हैं, असत्यका जगतमें प्रचार करते हैं।

जिस शास्त्र ज्ञानसे मोक्षमार्गका प्रयोजन सिद्ध न किया जावे वह सब कुश्रुतज्ञान है। कुश्रुतज्ञानी अशुभ परिणामोंसे महान कर्म-बंध करते हैं। इसलिये कुश्रुतज्ञान जीवका अपकार करनेवाला है। निश्चयनयसे ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। ज्ञान ही एक अभेद सूर्यके प्रकाश समान उद्योतमान है। निश्चयसे आत्मा परम शुद्ध निर्मल व अविनाशी अमूर्तिक ज्ञाताद्रष्टा एक स्वतंत्र पदार्थ है। इसमें कोई पर पदार्थका सम्बंध नहीं है। वह स्फटिकमणिके समान परम स्वच्छ है। आत्मज्योतिकी उपमा किसी भी भौतिक पदार्थसे नहीं दी जा सकती। वह अखण्ड ज्योति निरन्तर प्रकाश करनेवाली है। उसको रात्रिका अन्धकार नहीं है, न वह भोगोंसे आच्छादित होता है, न राहु आदि नक्षत्र उसमें बाधक होजाते हैं। इस आत्म-ज्योतिको भीतर देखनेवाले ज्ञानी और सम्यग्दृष्टी हैं। वे इस दृष्टिसे स्वस्वरूपमें रहते हैं। और इंद्रिय विषय विकारोंसे बचकर अतीन्द्रिय आनंदका लाभ करते हैं। उनके भीतर शुद्ध उपयोग भाव निर्जरारूप प्रगट रहता है जिससे पिछले कर्मसे निर्जरा होती है और सुख-शांतिका लाभ करते हुये वे परम संतोषी रहते हैं।

२२०-कुअवधिज्ञानविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। कुअवधिज्ञान क्षयोपशमिक भाव अवधिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है। यह ज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल भावके मर्यादापूर्वक पदार्थोंको जानता है। मिथ्यादर्शनके उदयमें इस ज्ञानको कुअवधिज्ञान

कहते हैं। मिथ्यादर्शनके कारण मिथ्यादृष्टी जीव उस ज्ञानसे पदार्थोंको जानकर ज्ञानका उपयोग अशुभ भावमें करता है। परिणामोंको संक्लेशित कर लेता है। जो भाव संसारको बढ़ानेवाले हैं उनकी पुष्टि करता है। यह ज्ञान चारों गतिके जीवोंको हो सकता है। इस ज्ञानसे मिथ्यात्व कर्म पुष्ट होता है, कषायोंकी तीव्रता होजाती है। मिथ्यात्वके समान जीवका कोई शत्रु नहीं है। उल्टे मार्गमें चलानेवाला मिथ्यात्व भाव है।

जो सम्यग्दर्शनरूप, आत्मीकगुणको प्रगट नहीं होने देता, मिथ्यादृष्टि जीवको स्वानुभवका लाभ नहीं हो सकता है। क्योंकि उसका श्रद्धान अपने आत्मतत्वपर नहीं होता है। निश्चयनयसे ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। सूर्यके प्रकाशकी तरह ज्ञान एकाकार सदा प्रगट रहता है। ज्ञानका स्वभाव सर्व ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थोंको अक्रमसे एकसाथ जानना है। ज्ञानके विषयको मन, वचन, काय द्वारा प्रगट करनेमें क्रमवार होता है। क्योंकि इसमें परकी सहायता होजाती है। ज्ञान स्वभावसे असहाय और स्वतन्त्र है। आत्माका स्वभाव स्व और पर दोनोंको एकसाथ जानना है। और किसी प्रकारका विकार या राग द्वेषभाव नहीं करना है। यह विकार मोहनीयकर्मके उदयसे होता है।

आत्माके स्वभावमें कर्मोंका संयोग नहीं है। वह सदा ही निराला निरञ्जन निर्विकार है। स्फटिकमणीके सदृश निर्मल परिणमनशील है। आत्मस्वभावके ज्ञाता सम्यक्दृष्टि जीव होते हैं। ग्यारह अंग नौ पूर्वके ज्ञाता भी आत्मज्ञानके विना अज्ञानी कहलाते हैं। क्योंकि आत्माके ज्ञानमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है। इन तीनोंकी एकता आत्मज्ञानमें रहती है। और वहां ही सच्चा वैराग्य भाव होता है।

इसी आत्मज्ञानका अनुभव स्वानुभव है । यही ध्यानकी अग्नि है जो कर्म ईंधनको जलाती है और आत्माको शुद्ध करती है । आत्मज्ञानसे ही आनन्दरूपी अमृत झरता है, जिसको पानकर ज्ञानी संतुष्ट होजाता है । आत्मज्ञान ही दोजके चन्द्रमाके समान है, यही बढ़ते २ पूर्ण चन्द्रमाके समान केवलज्ञान होजाता है ।

आत्मज्ञान मोक्षमहलकी प्रथम सीढ़ी है । जो कोई निःशंक होकर इस सीढ़ीपर गमन करता है वह शीघ्र ही सिद्ध स्थानको प्राप्त होजाता है। आत्मज्ञानमें कोई विकल्प या विचार नहीं रहता । मैं हूं या नहीं यह विकल्प भी नहीं उठता है। आत्मज्ञान अद्वैतभाव जागृत कर देता है। विश्वके अन्दर छह द्रव्योंके रहते हुए भी स्वानुभवमें आत्मस्वरूप ही झलकता है, जो मन, वचन. कायसे अगोचर है।

आत्मज्ञानी स्वरूपमें तृप्त रहकर अन्य विषयकी आकांक्षा नहीं करता है । यही निर्जराभाव है, और परम उपादेय है ।

२२१–चक्षुदर्शन विचय–धर्मध्यान निर्जराभाव ।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशके उपायोंका विचार कर रहा है । चक्षुदर्शन क्षयोपशमिक भाव है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होता है । चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सामान्य निराकार अवलोकनको चक्षुदर्शन कहते हैं । मतिज्ञानके पहले यह होता है। त्रीन्द्रिय जीवों तक उसका प्रकाश नहीं होता । चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंको उसका प्रकाश होता है। सब जीवोंके शक्ति एकसी प्रकट नहीं होती। जैसा क्षयोपशम होता है वैसी ही शक्ति प्रकट होती है । यह चक्षु-

दर्शन बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। यद्यपि इसका प्रकट कार्य छठे प्रमत्त गुणस्थान तक ही होता है क्योंकि संकल्प विकल्प-पूर्वक ज्ञानकी क्रिया यहीं तक संभव है। आगेके गुणस्थानोंमें सब साधु ध्यानमग्न रहते हैं, आत्मध्यानमें लीन रहते हैं। दर्शनमें वस्तुका विशेष बोध नहीं होता, केवलगम्य सामान्य ग्रहण होता है। चक्षु-दर्शन भी अपने कार्योंमें उपयोगी है। निश्चयनयसे आत्मामें गुणोंकी अपेक्षा भेद नहीं है। आत्मा निरञ्जन द्रव्य या स्वतन्त्र द्रव्य है। इसका ज्ञान दर्पणके समान निर्विकार है।

ज्ञेयोंको जानते हुए भी उनसे पृथक् रहता है। आत्माके ज्ञानकी अपूर्व महिमा है। सम्यग्दर्शनका अविनाभावी है। इसके विना आत्मा-नुभूति नहीं होती है। आत्मानुभूतिमें ही मोक्षमार्ग है। क्योंकि वहां सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों ही गर्भित हैं। आत्मानुभूतिके विना सुख और शांतिका लाभ नहीं होता। जब उपयोगको सर्व अन्य पदा-र्थोंसे विरोध करके और मनके संकल्प विकल्पोंको दूर कर अन्तर्मग्न हुआ जाता है तब स्वानुभूति प्रगट होती है। इसका प्रारम्भ अविरत सम्यग्दृष्टी चौथे गुणस्थानसे होता है। और पूर्ण स्वानुभूति केवलि परमात्माके होती है। सिद्धोंमें भी इसीका प्रकाश रहता है। यह एक अद्वैतभाव है, जिसमें प्रमाण नय निक्षेपका भी कोई विकल्प नहीं रहता है। द्वादशांगवाणीका भी यही सार है। अभव्य श्रुतज्ञानका पाठ करनेपर भी इसको प्राप्त नहीं कर सकते। यह एक अमूल्य अमृतका समुद्र है। जो इसमें अवगाहन करते हैं वे कर्मोंसे शुद्ध होजाते हैं।

२२२–अचक्षुदर्शन विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी जीव कर्मके नाशका उपाय विचार कर रहा है। अचक्षुदर्शन क्षयोपशमिक भाव है। अचक्षुदर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय पर्यंत प्राणियोंके होता है। इसके द्वारा चक्षुइन्द्रियके सिवा स्पर्शनादि चार इन्द्री और मन द्वारा सामान्यपने पदार्थोंका अवलोकन किया जाता है। दर्शनपूर्वक मतिज्ञान होता है। मतिज्ञानमें पदार्थोंका आकार ग्रहण होता है। परन्तु दर्शन उपयोगमें आकारका ग्रहण नहीं होता। आत्माका उपयोग पदार्थोंके ग्रहणके लिये तैयार होना है। दर्शनोपयोगका उपयोग अल्पज्ञानीके मतिज्ञानके पहिले होता है। इसका तात्पर्य केवली भगवानके ज्ञानगम्य है; चैतनागुणके दर्शन, ज्ञान दो भेद हैं। ऐसा भी आगमका मत है।

निश्चयनयसे आत्माके गुणोंमें कोई भेद नहीं है। आत्मा अभेद अखण्ड एक ज्ञायक पदार्थ है।

आत्माके स्वरूपमें कोई राग द्वेष आदि विकार नहीं हैं, वह स्फटिकमणीके समान परम शुद्ध पदार्थ है। जो भव्य जीव इस आत्माको परम शुद्ध निर्विकार अनुभव करते हैं वही सच्चे मोक्षमार्गपर चलनेवाले सम्यग्दृष्टी हैं। वे अपने शुद्ध आत्माका यथार्थ अनुभव करते हुये सुख-शांतिका परम अमृतपान करते हैं और कर्मोंके मध्यमें पड़े हुये भी अपनेको उनसे निराला जानते हैं। जैसे–सुवर्ण कीचमें पड़ा हुआ भी अलिप्त रहता है।

आत्मा एक परमशान्त अद्भुत चन्द्रमा है, जिसको कभी कोई आवरण नहीं हो सकता। जैसे सूर्य निरावर्ण रहता है। आत्मा सूर्यके

समान स्वपर प्रकाशक और परम वीतराग है। इस आत्मतत्वके अनुभव करनेवाले परम योगी होते हैं। जिस तत्वके जाने विना कोटि ग्रन्थका पाठ ज्ञानी नहीं बना सकता है, क्योंकि आत्मज्ञान ही सार पदार्थ है। बड़े बड़े महर्षि इसी तत्वका रात दिन मनन करते हैं। आत्माको ही परमात्मा निर्मल स्वरूप पदार्थ देखते हैं। और उसीमें मगन होकर अपने जीवनको सफल समझते हैं। निर्जराका साधन वीतराग भाव है, जो आत्माकी अनुभूतिसे भले प्रकार प्राप्त होता है। सर्व व्रत संयम आदि आत्मज्ञानमें गर्भित हैं। आत्मज्ञानके विना घोर तप भी निःसार है। आत्माकी अनुभूति सीधी सड़क मोक्षमहलको चली गई है। इसमें कोई रागादिक विकारकी कोई जगह नहीं है। वह एक अद्वैत भाव है, जिसमें सर्व चिन्तवन बन्द हो जाते हैं, मन वचन काय दूर रह जाते हैं। यही धर्मध्यान है, जो कर्मकी निर्जराका कारण है।

२२३–कुअवधिदर्शनविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। कुअवधि दर्शन एक क्षयोपशमिक भाव है, जो अवधिदर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है। इसको कुअवधि इसलिये कहते हैं कि मिथ्यात्वके उदयके साथ ही होता है। अवधिदर्शनसे अवधिज्ञानको प्राप्तकर उसका मिथ्या उपयोग करता है, आर्तध्यान या रौद्रध्यानको बढ़ा लेता है, जिससे घोर कर्मोंको बांधता है और मोक्षमार्गसे दूर होता जाता है, सुख और शांति कभी प्राप्त नहीं कर सकता। यह भाव संसार बढ़ाने-

वाला है। नारकी, देव, मनुष्य, पशु, सैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके होसकता है। व्यवहारनयसे दर्शनके भेद होते हैं। निश्चयनयसे आत्माके गुणोंमें भेद नहीं है आत्मा एक अभेद अनुपम पदार्थ है। यह स्वभावसे परम वीतराग आनंदमय है। इसमें कोई रागादिक विकार नहीं हैं न कर्मोंका संयोग है। यह परम निरंजन देव हरएक प्राणीके भीतर विराजमान है। मैं आत्मा हूं और सब अन्य आत्मा मेरे बराबर हैं। ऐसा जाननेसे समभाव प्रगट होता है। तब कोई और विकार नहीं रहते। यह समताभाव परम उपकारी है। वीतरागभावको प्रगट करता है। इससे नवीन कर्मोंका संवर होता है, पुराने कर्मोंकी निर्जरा होती है। इसको भाव निर्जरा कहते हैं। यही धर्मध्यान है। सर्व आपत्तियोंसे दूर है। जो इस समताभावका अनुभव करते हैं वही सम्यग्दृष्टि हैं। उन्हींका जन्म सफल है। उनको सत्य मार्गपर चलते हुए थकन मालूम नहीं होती। क्योंकि वह आनंद अमृतका पान करते हैं और आकुलता रहित रहते हैं। समताभाव गुणोंका प्रकाश करता है और विभावोंको नहीं आने देता, जिससे साधक साध्यकी सिद्धि शीघ्रकर लेता है। और निर्वाणको निकट बुला लेता है और अपने स्वरूपका पूर्ण प्रकाश कर लेता है, परम मंगलमय होजाता है। ध्यान ही सब कामोंमें मुख्य है। जो अपना हित चाहते हैं उनको निरंतर अभ्यास करना चाहिये।

द्वादशांग वाणीका सार यही है कि भाव श्रुतज्ञानको प्राप्त किया जाय। आत्माका अनुभव ही भावश्रुतज्ञान है। जिन २ जीवोंने इसका अनुभव प्राप्त किया है, वे जीव शुद्ध स्वरूपका स्वाद लेते हुए

परम तृप्त रहते हैं। और अनादिकालसे चली आई हुई बंध पद्धतिका अन्त कर देते हैं। हरएक गुणस्थानमें चौथे अविरत सम्यग्दर्शनसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक आत्मानुभव बढ़ता जाता है। और अन्तमें पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान प्रकाशमान होजाता है। इसीसे कर्मकी निर्जरा होती है और आत्मानंदका झलकाव होता है। तत्वोंका सार यही है—इसीको पाकर सर्व भ्रम दूर होजाता है और निःशंक वृत्ति ठहर जाती है, सब जप तप व्रत इसीसे सफल होते हैं, ज्ञानका पूर्ण प्रकाश होता है।

२२४-क्षयोपशम दानविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। १८ प्रकार क्षयोपशम भावोंमें क्षयोपशम दान एक लब्धि है, जिसके कारण दान देनेके भाव होते हैं। यहां दानान्तराय कर्मका क्षय नहीं हुआ है, किन्तु क्षयोपशम है, जिससे दान देनेकी पूर्ण शक्ति विकाश नहीं हुई है। इस लब्धिका लाभ एकेंद्रिय आदि जीवोंको भी रहता है। मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान पर्यन्त इस लब्धिका प्रकाश है। सैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्यके पांचवें और छठे गुणस्थान पर्यन्त यथासंभव दानका विकल्प रहता है। दानान्तरायके उदयसे इच्छित दान नहीं हो सकता। केवली भगवानके दानान्तराय कर्मका क्षय होजाता है, इसलिये उनके अनंत दानकी शक्ति प्रकट हो जाती है। व्यवहार नयसे इस तरह विचार करता हुआ निश्चयनयसे जब विचार करता है, तो आत्माके गुणोंमें

कोई दोष नहीं है । आत्मा अभेद, निरंजन, ज्ञायक, परम वीतराग, एक अद्भुत सत्‌रूप पदार्थ है । हरएक आत्मा अपनी सत्ताको भिन्न भिन्न रखता है । निश्चयसे सब आत्माएं समान हैं । इस दृष्टिसे देखते हुए राग द्वेष मोहकी उपाधि नहीं रहती है, परम समताभाव जागृत होजाता है । यही साम्यभाव है, यही मोक्षमार्ग है; क्योंकि इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्रकी एकता है । इसी भावमें लय होनेसे स्वात्मानुभव प्रकट होजाता है । तब सर्व विकल्प मिट जाता है । एक अद्वैत आत्मीक भाव ध्याताके ध्यानमें रह जाता है । तब परम आनंद अमृतका प्रवाह वहता है । यह अतीन्द्रिय सुख आत्माका स्वाभाविक गुण है । रागादिक मोह विकार होनेके कारण इस सुखका अनुभव नहीं होता । स्वानुभवकी कला चौथे अव्रत सम्यग्दर्शन गुणस्थानसे प्रारम्भ होजाती है, और जैसे जैसे गुणस्थानमें साधक बढ़ता है, स्वानुभूतिकी निर्मलता और स्थिरता बढ़ती जाती है । यहांतक कि परमात्मामें पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान विकाश होजाता है । सिद्धोंमें भी यह स्वानुभव प्रकाशित रहता है ।

आत्मतत्वके ज्ञाता ही द्वादशांग वाणीके यथार्थ समझनेवाले होते हैं । स्वानुभव ही भाव श्रुतज्ञान हैं, यही केवलज्ञानका साधक है । अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान केवलज्ञानके साधक नहीं हैं । क्योंकि उनके अभावमें भी केवलज्ञान हो जाता है । स्वतंत्रताका साधक यह ही आत्मानुभव है ।

योगी तपस्वी बाह्य तप करते हुए इसी तत्वपर दृष्टि रखते हैं । ःसे यही सार तप है । क्योंकि इसमें इच्छाओंका निरोध है ।

यही भाव तप कर्मकी विशेष निर्जराका कारण है। जो आत्महित करना चाहते हैं उन्हें उचित है कि आत्मतत्वको अनेकान्त स्वरूपसे समझ लें और सतत इसका मनन करें, तब जैसे दही विलोनेसे मक्खन निकलता है वैसे भावना भानेसे स्वानुभवका प्रकाश होता है। कर्मकी परतन्त्रताका क्षय इसीसे होता है।

२२५–क्षयोपशम लाभ विचय–धर्मध्यान निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। अठारह प्रकार मिश्र भावोंमें क्षयोपशम लाभ एक वह भाव है जिसके कारण इष्ट वस्तुके लाभमें अन्तराय नहीं पड़ता। लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे यह शक्ति प्रगट होती है।

एकेन्द्रियादि सब प्राणियोंके यह शक्ति कम या अधिक होती है। बारहवें गुणस्थान तक इसका प्रकाश रहता है। फिर लाभानन्तरायके क्षयसे अनन्त लाभका प्रकाश होजाता है। मिथ्यादृष्टि जीव इष्ट वस्तुके लाभमें बहुत हर्ष और वियोगमें बहुत विषाद करता है। सम्यग्दृष्टी जीव इष्ट वस्तुके लाभ व अलाभमें साम्यभाव रखता है। धन धान्यादिकका अधिक लाभ होते हुये उस सम्पत्तिको शुभ कार्योंमें लगाता है। विशेष लाभ होनेपर उनमत्त नहीं होता। वह जानता है कि मेरी सम्पत्ति आत्मिक गुणोंका विकाश हैं। परवस्तु छूट जानेवाली है। पाप पुण्यसे उसका संयोग या वियोग होता है। निश्चयनयसे आत्मामें भावोंके भेद नहीं हैं।

आत्मा अभेद अखण्ड अजर अमर अमूर्तिक शुद्ध स्वभावका

धारी है। ६ द्रव्योंमें यही सार है क्योंकि यह सुख और शांतिका भंडार है।

आत्माका ज्ञान बहुत आवश्यक है। अनेक शास्त्रोंके पढ़नेपर भी आत्मिक ज्ञान विना आत्महित नहीं हो सकता; क्योंकि निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आत्मामें ही हैं। जो आत्मशुद्धिके इच्छुक हैं वे भेद विज्ञानपूर्वक आत्मिक ज्ञानको प्राप्त करते हैं। यह आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टकर्म, रागादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्मसे निराला है। इसके स्वभावमें कोई विकार नहीं है। कमलनीके पत्तेके समान यह आत्मा सर्व अन्य द्रव्योंसे अलिप्त रहता है। इसका स्वभाव स्फटिकमणिके समान निर्मल ह। सम्यग्दृष्टी जीव इसी आत्मतत्वका अनुभव करके आत्मशुद्धिको बढ़ाते रहते हैं। जो कोई आत्मारूपी गंगामें स्नान करते हैं, उनके सर्व कर्म मल धुल जाते हैं। आत्मज्ञानके समान कोई जहाज नहीं है, जो सीधा मोक्ष द्वीपको जाता हो। जो इस पर आरूढ़ होते हैं और दृढ़ताके साथ बढ़ते हैं वे अवश्य भव-सागरसे पार हो जाते हैं।

आत्मज्ञान एक ऐसी कला है जिसके होते हुये सम्यग्दृष्टी मन वचन कायसे क्रिया करते हुये भी आसक्त नहीं होते। तीर्थंकरादि महापुरुषोंने इसी आत्मज्ञानका आश्रय लेकर सिद्धिको प्राप्त किया था। जो भव्य जीव इसलोक और परलोकमें सुख और शांतिको चाहते हैं उन्होंने आत्मज्ञानका आश्रय लेकर सिद्धिको प्राप्त किया था। जो भव्य जीव इस लोक और परलोकमें सुख और शांतिको चाहते हैं उन्हें आत्मज्ञानका आश्रय ही लेना चाहिये। निरन्तर आत्मज्ञानको

भावना करनेसे आत्मानुभूति प्रगट होती है तब एक अनुपम अद्वैत भावका अनुभव होता है। यही भाव निर्जरा है, जो कर्मोंको नष्ट कर देती है।

२२६–क्षयोपशम भोगविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। अठारह प्रकारके मिश्र भावोंमें, क्षयोपशम भोग भी है। भोगान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे यह शक्ति उत्पन्न होती है जिससे पदार्थोंका भोग किया जा सकता है। यह शक्ति एकेन्द्रियादिक सब जीवोंमें कम या अधिक प्रगट रहती है। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक इसका प्रकाश रहता है परन्तु बुद्धिपूर्वक उपयोग प्रमत्तविरत्त छठे गुणस्थान तक रहता है। सम्यग्दृष्टी जीव पदार्थोंका भोग करते हुये भी समभाव रखता है, उन्मत्त नहीं होता है।

निश्चयनयसे आत्मामें गुणोंका या भावोंका भेद नहीं है। यह आत्मा एक स्वतन्त्र ज्ञाताद्दष्टा निरंजन निर्विकार पदार्थ है, जिसके ज्ञानमें सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ एकसाथ झलकते हैं, तौ भी कोई विकार नहीं होता है। आत्मा स्वभावसे रागादि विकारोंसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे शरीरादि नो कर्मोंसे परे है। इसका स्वभाव शुद्ध जलके समान परम निर्मल है। इस आत्मतत्वको जो व्यक्ति ठीक ठीक जानते हैं वे मोक्षमार्गपर आरूढ़ होकर चल सकते हैं। आत्मिक ज्ञानके द्वारा आत्माका अनुभव प्रगट होता है। इस अनुभवसे सर्व संकल्प विकल्पोंका अभाव हो जाता है और ध्यानकी अग्नि प्रगट होती है। जिससे कर्ममलका नाश होता है। और आत्मशुद्धि प्रगट होती है।

तथा सुखशांतिका अनुभव होता है। यह आत्मानुभव अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानसे प्रकाशित होता है। और बढ़ते बढ़ते तेरहवें गुणस्थानमें पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान प्रगट हो जाता है। यही सार्थक तत्व है जिसको पाकर ज्ञानी जीव सन्तुष्ट हो जाते हैं। आगमका निचोड़ यही है। जो आत्मानुभव किया जावे उसमें कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान आदि षट्कारकोंका विकल्प नहीं है। निर्विकल्प तत्व परतन्त्रताका नाश करनेवाला है, स्वतन्त्रताको जागृत करनेवाला है।

यही भाव निर्जरा है, यही तप है। उपवास आदि तप बाह्य निमित्त कारण हैं। आत्माकी शुद्धिका उपादान कारण आत्मा ही है। आपसे आपकी शुद्धि होती है। परभावोंसे बन्ध होता है। स्वभावोंसे मुक्ति होती है।

२२७–क्षयोपशम उपभोगविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। १८ प्रकार क्षयोपशम भावोंमें क्षयोपशम उपभोग भी है। भोगान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे यह भाव एकेंद्रियादि सर्व प्राणियोंमें प्रगट होता है। जो पदार्थ वारवार भोगनेमें आवे उसको उपभोग कहते हैं। जैसे वस्त्र, गृह आदि। इस शक्तिके द्वारा उपभोग करनेयोग्य पदार्थोंका उपभोग किया जासकता है। यह शक्ति बारहवें गुणस्थान तक प्रगट रहती है, परन्तु बुद्धिपूर्वक इस शक्तिका उपयोग छठे गुणस्थान तक रह सकता है। मिथ्यादृष्टी जीव उपभोग करते हुए रंजायमान होजाता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव आसक्त नहीं होता। तेरहवें गुणस्थानमें अनंत उपभोग

शक्ति प्रगट होजाती है। वहां अन्तराय कर्मका क्षय हो जाता है। व्यवहारनयसे ऐसा भेदभाव रहता है। निश्चयनयसे आत्मामें कोई भी भेदभाव नहीं। वह अखण्ड एक ज्ञातादृष्टा पदार्थ है, जिसकी महान संपत्ति ज्ञान है, जिसमें सब ज्ञेय पदार्थ यथार्थ जैसेके तैसे प्रकाशमान होते हैं। आत्मा सुखशांतिका सागर है, जिसमें रागादि दोषोंका खारापन नहीं है। आत्मतत्व परम शुद्ध अविनाशी है। इस तत्वको जिन्होंने पाया है और अनुभव किया है, वे मोक्षमार्ग पर चलनेवाले महान आत्मा हैं।

इसी तत्वके ध्यानसे कर्मकलंक जल जाता है और अन्तरात्मा परमात्मा हो जाता है। इस तत्वको पानेके लिये पुनः भावना भानेकी जरूरत है। जिस तरह दूध विलोनेसे मक्खन निकलता है, उसी तरह भावना भानेसे आत्माका अनुभव प्रगट होता है, यही यथार्थ भाव श्रुतज्ञान है द्वादशांगवाणीका यही सार है गणधरादि महान ऋषीश्वर इसी तत्वज्ञानसे अपनी आत्म-उन्नति करते हैं।

इस तत्वके ध्यानसे सुख-शांतिका लाभ होता है और प्रच्छन्न आत्मीक गुणोंका विकाश होता है। सम्यग्दृष्टी जीव सदा ही इस तत्वके मननसे संतोषित रहते हैं। निराकुलता प्राप्त करनेका यही उपाय है। जिन जीवोंको संसार-समुद्रसे पार होना हो उनको आत्मतत्वरूपी जहाजपर चढ़ना चाहिये और स्थिरताके साथ स्वतंत्रतापर लक्ष रखते हुए सीधे गमन करना चाहिये। आत्मतत्वका अनुभव ही भाव तप है, जो कर्मकी निर्जराका कारण है। आत्मानुभव ही ज्ञानियोंका अमृतपान है, जो परम तृप्तिका कारण है।

२२८–क्षयोपशम वीर्य विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है । १८ प्रकार निश्र भावोंमें क्षयोपशम वीर्य भी है । वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे यह प्रगट होता है । एकेन्द्रियादि सम्पूर्ण प्राणियोंके इसका प्रकाश कम वा अधिक विद्यमान रहता है । जिससे आत्मीक बल काम करता है । बारहवें गुणस्थान तक यह प्रगट रहता है । फिर वीर्यान्तरायके क्षयसे अनन्त वीर्य केवली भगवानके प्रगट हो जाता है । मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिमें आत्मवीर्य उपयुक्त होता है । इसीके प्रतापसे तपस्वी-जन अनेक प्रकारका तप करते हैं । और आत्माको उन्नत बनाते हैं । अशुभसे निवृत्ति शुभमें प्रवृत्ति इसीसे होती है । पुरुषार्थ करनेमें यह सहायक होता है । व्यवहारनयसे ऐसा विचार करके फिर निश्चयसे विचारता है, तो आत्मामें स्वभाव और गुणोंकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है । आत्मा अखण्ड, अभेद, ज्ञातादृष्टा परम पदार्थ है । आत्मा निर्विकार निरञ्जन अविनाशी अमूर्तिक एक स्वतन्त्र वस्तु है ।

आत्माका यथार्थ ज्ञान जिनको होजाता है वे आत्मस्वातन्त्र्यकी तरफ बढ़ते जाते हैं । और कर्मोदयकी परतंत्रताको मेटते जाते हैं । और भवसागरसे पार होनेमें अग्रसर होते जाते हैं । जहां आत्मिक ज्ञान है वहां सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीनों रहते हैं । आत्मज्ञानके द्वारा आत्मानुभव होता है, तब सब विकल्प मिट जाता है और अद्वैत भाव प्रगट होजाता है तब सुख शान्तिका स्वाद आता है । यही धर्मध्यान और शुक्लध्यान है । आत्मानुभव स्वतन्त्रताके लिये एक परम कला है । इसीको सम्यग्दृष्टी श्रावक मुनि आदि सर्व

अनुभव करते हैं। और मोक्षमार्गको तय करते जाते हैं। आत्मानुभव एक परम रसायन है, जो सर्व रागद्वेषादिक दोषोंको मेटनेवाला है। जहां आत्मानुभव है, वहीं अन्य सब उत्तम गुणोंका विकाश होता है। आत्मानुभव ही भाव निर्जरा है, यही वीतराग भाव है, यही त्याग और संयम है, यही ब्रह्मचर्य है, यही शील संतोष है, यही अद्भुत आत्मगुण है, जो एक अन्तर्मुहूर्तमें आत्माको परमात्मा बना देता है। यही ज्ञानियोंका परम धर्म है।

२२९–क्षयोपशम सम्यक्त–विचय, धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। सम्यग्दर्शन यद्यपि एक प्रकार है, तथापि कर्माचरणकी अपेक्षा तीन प्रकार है। उपशम, क्षायोपशम या वेदक क्षायक। १८ प्रकार मिश्रभावोंमें क्षयोपशम क्षम्यक्त भी है। प्रथम उपशम सम्यक्तमें दर्शनमोहनी अनंतानुबंधी कषायका उपशम रहता है। क्षयोपशम सम्यक्तमें सम्यक्त मोहनी प्रकृतिका उदय रहता है। जिसके कारण सम्यक्तमें कुछ अतीचार रहता है। इस प्रकृतिके उदयको वेदन करनेसे इसको वेदक सम्यक्त कहते हैं। उसके कई भेद हैं। एक भेद यह है–अनन्तानुबंधी कषायका विसंयोजन हो, अर्थात् प्रत्याख्यानादि कषाय रूप परिणमन होजाय। और मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृतिका उपशम हो। दूसरा भेद यह है–मिथ्यात्वका क्षय हो और मिश्रका उपशम हो। तीसरा भेद यह है कि मिथ्यात्व और मिश्र दोनोंका क्षय हो। चौथा भेद यह है कि अनंतानुबंधी कषाय मिथ्यात्व और मिश्र इन छहोंका उपशम हो।

यह सम्यक्त उपशम सम्यक्तके बाद होता है। और इसीसे क्षायक सम्यक्त होता है। क्षायक सम्यक्त होनेके पहिले जब सम्यक्त मोहनी उदय रहता है और वह उदय क्षयके सन्मुख होता है, तब उसको कृतकृत्य वेदक सम्यक्त कहते हैं। इस सम्यक्तको लिये हुये मनुष्य-गतिसे अन्य गतिमें जा सकता है। वहां क्षायक हो जाता है। क्षयोपशम सम्यक्त चारों गतियोंमें पैदा हो सकता है। इस सम्यक्तकी उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर है। जघन्य अन्तर्मुहूर्त। यह सम्यक्त उपशम और क्षायकके समान निर्मल नहीं है। इसमें चल मल अगाढ़ दोष लगता है जो बहुत सूक्ष्म है, अनुभवगम्य है। निश्चयनयसे आत्मामें गुणोंके भेद नहीं हैं। आत्मा अखण्ड अविनाशी निज स्वरूप स्वतंत्र अमूर्तिक पदार्थ है। आत्माका यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। क्योंकि इसके विना सम्यक्त-ज्ञान चारित्र नहीं हो सकता।

आत्मामें सम्पूर्ण संयम तप या त्यागादि धर्म हैं। जिसने आत्माको नहीं जाना उसका शास्त्रका ज्ञान व्यर्थ है। आत्मज्ञानी ही यथार्थ श्रावक व मुनि है। आत्मज्ञानसे आत्मानुभवकी प्राप्ति होती है जिससे सच्ची सुख शांति प्राप्त होती है और यथार्थ तत्वका लाभ होता है। इसपर चलनेसे आत्माकी शुद्धि होती है और कर्मकी निर्जरा होती है। आत्मानुभव साक्षात् सम्यक्त है, यही भावनिर्जरा है। यही सार है। यही ज्ञानियोंका आश्रय है। परम शरणभूत है। सिद्धांतका यही निचोड़ है। जो आत्माका अनुभव करते हैं वे सीधे हैं। सीधे मोक्षमार्ग पर गमन करते हैं। यही उत्कृष्ट ध्यान है।

२३०–क्षयोपशम चारित्रविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। १८ प्रकार मिश्रभावमें क्षयोपशम चारित्र भी है। यह चारित्र प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवोंको होता है। यहांपर अनंतानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान कषायोंका उदय नहीं होता है। केवल संज्वलनका उदय है। अन्तर्मूहूर्त्त छटे और सातवें गुणस्थानका काल है इसलिये साधु इन दोनों गुणस्थानोंमें वारंवार आते जाते रहते हैं। जबतक श्रेणी चढ़नेके सन्मुख न हो तबतक यही क्रम रहता है। सातवें गुणस्थानतक धर्मध्यानकी पूर्णता होती है, जहांपर ध्यान अवस्था ही रहती है। साधु व्यवहारनयसे पांच महाव्रत पांच समिति तीन गुप्ति इस तरह १३ प्रकार चारित्रका पालन करता है। मोक्षमार्गपर आरूढ़ होता हुआ, सुख शांतिका उपभोग करता है, आत्माकी उन्नति करता है। धर्मध्यानमें मुख्यता निर्विकल्प भावकी है। इसी भावको वास्तवमें धर्मध्यान कहते हैं।

धर्मध्यान चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है। धर्मध्यानसे शुक्लध्यानमें गमन होता है। इसतरह व्यवहारनयसे विचारना चाहिये। निश्चयनयसे आत्मामें भावोंके भेद नहीं हैं। वह एक अखण्ड स्वतंत्र ज्ञाताद्दृष्टा अनुपम पदार्थ है। उसका स्वरूप ठीक ठीक जाननेसे आत्मबोध होता है। यही आत्मध्यान सम्यग्दृष्टीका परम ध्येय होता है।

आत्मज्ञानी ही सर्व तरहसे माननीय और पूज्य है। क्योंकि वह मोक्षमार्गपर दृढ़तासे जमा रहता है। और निरन्तर भेदविज्ञानपूर्वक

आत्मानुभवके रसको पान करता रहता है। और परम तृप्त रहता है। जिन्होंने आत्मानुभव नहीं पाया उनको निर्मल सुख-शांतिका लाभ नहीं होता है। जहां धर्मध्यान है वहांपर कर्मोंकी निर्जरा वीतरागताके प्रभावसे रहती है और सरागभावसे पुण्यकर्मका बंध होता है।

धर्मध्यानी आत्मानुभवके प्रतापसे अपने आत्माकी निर्मलता करता है। और अनेक प्रकारके धर्म सम्बन्धी भावोंको दृढ़तासे एक-समान साम्यभावमें लाता है। यह बात स्वयं-सिद्ध है कि जैसा ध्यावे वैसा होजावे। शुद्ध आत्माके ध्यानसे परमात्मा होजाता है। ध्यान एकाग्र भावको कहते हैं। अथवा आत्मज्ञानमें स्थिर होना धर्मध्यान है। धर्मध्यानमें उत्तम क्षमा आदि दश धर्म गर्भित हैं। और भी सद्गुण धर्मध्यानसे प्रकाशित रहते हैं। यह बात स्वयं सिद्ध है कि अपने ही आत्मानुभवसे अपना लाभ होगा। आत्मानुभव एक ऐसी मीठी औषधि है कि जो भवरोगकी व्यथाको दूर करती है। और आत्माको पुष्ट करती है। धर्मध्यानमें इसी प्रकार कष्टका अनुभव नहीं होता। यही एक उत्तम तप है, जो भावनिर्जरा रूप है और सर्व रागादिक भावोंको मेटनेवाला है। और उपादेय मोक्षतत्वका मूल कारण है। परम विवेकरूप है।

२३१–संयमासंयम विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। संयमासंयम १८ भेद मिश्र भेदोंमेंसे अन्तिम भेद हैं। यह भाव पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावकोंके होता है। प्रत्याख्यानावरणी कषायके उदयसे श्रावकजन पूर्ण संयमको नहीं पाल सकते। एकदेश संयमको

पालते हैं। इसलिये उनके भाव असंयम-मिश्रित संयमरूप होते हैं। यद्यपि वे पूर्ण संयम पालना चाहते हैं, परन्तु जबतक आरम्भ परिग्रहका सम्बन्ध है तबतक आरम्भी हिंसासे निवृत्त नहीं होसकते। कषायके उदयसे पूर्ण संयमके भाव नहीं होते हैं। यह भाव दर्शन प्रतिमामें स्थूलरूप होता है। जैसे २ प्रतिमायें बढ़ती जाती हैं तैसे २ यह भाव संयमकी तरफ बढ़ता जाता है, और असंयमसे हटता रहता है। ११वीं प्रतिमा उद्दिष्ट त्याग है, उसके बाद साधुका आचरण पूर्ण संयमरूप होजाता है। श्रावक जैसे २ बाह्य चारित्ररूप बढ़ाता जाता है वैसे २ अन्तरङ्गमें त्यागभाव बढ़ता जाता है, और आत्मसंवेदनकी उन्नति होती जाती है। क्योंकि मुख्य संयम अन्तरङ्गमें आत्मलीनता है।

इस तरह व्यवहारनयसे विचार करके निश्चयनयसे विचार करता है तो आत्मामें स्वभावसे यह संयमासंयम भाव नहीं है। आत्मा सदाकाल अपने स्वरूपमें स्थिर रहनेकी अपेक्षा संयमरूप है। आत्मा एक स्वतंत्र ज्ञाताद्दष्टा, अमूर्तिक, अविनाशी शुद्ध द्रव्य है। यह सर्व सांसारिक विकारोंसे शून्य है। यह स्फटिकमणिके समान ही निर्मल पदार्थ है।

जिसमें सर्व जाननेयोग्य विश्वके पदार्थ अपनी भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीन काल सम्बन्धी पर्यायोंके साथ सदा झलकते रहते हैं, तौभी यह आत्मा किसी भी पर पदार्थमें राग, द्वेष, मोह नहीं करता है, अपने शुद्धोपयोगसे सदा निर्विकल्प रहता है। जो कोई इसके आत्मतत्वको जानते हैं वही आत्मज्ञानी मोक्षमार्गी हैं। उनके अन्तरङ्गमें सुखशांतिका विलास रहता है, वे भलेप्रकार अपने आत्मद्रव्यका

आनंद लेते रहते हैं, कर्मोंके उदयमें समभाव रखते हैं, समताभावको अपना आभूषण बनाते हैं और शांतिमय पथपर चलते हुए संसार-सागरको पार करते जाते हैं, वे प्रफुल्लित कमलके समान विकसित रहते है। उन्हींके अंदर गुणस्थानकी अपेक्षा उन्नति होती जाती है। वे कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। यही मुख्य तप है, शुद्ध भाव है। यह उनके भीतर चमकता रहता है। वे स्वानुभवमें मगन रहते हुए आत्मीक शांतिमई अमृतरसका पान करते हैं और खुश होते जाते हैं। परतंत्रताको काटते जाते हैं और स्वतंत्रताकी तरफ बढ़ते जाते हैं।

२३२-औदयिक गतिभाव विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है कि किस प्रकार औदयिक भावोंमें ४ गति सम्बन्धी औदयिक भाव होते हैं। पंचम गति मोक्ष है, जो कर्मोंके नाशसे होती है। चार गति गति नामा कर्मके उदयसे होती हैं। जिस गतिमें जीव जाता है, उस गतिमें उस गति सम्बन्धी भाव उस जीवके होते हैं। नरकमें क्रोधकी तीव्रता, तिर्यञ्च गतिमें मायाचारकी तीव्रता, मनुष्यगतिमें मानकी तीव्रता, देवगतिमें लोभकी तीव्रता रहती है। यद्यपि कषायोंका उदय चारों गतिमें है, तथापि गतिके अनुकूल भाव होते हैं। नरकगतिमें आर्तरौद्र ध्यानके भाव अधिक बने रहते हैं। परस्पर दुःख देनेके भाव बड़े विकट होते हैं। इससे वे सदा आकुलित रहते हैं, दुःखोंके पानेका असह्य कष्ट भोगते हैं। नारकियोंके कभी क्षणमात्रके लिये भी शान्ति नहीं मिलती। शारीरिक और मानसिक वेदनाओंसे सदा

पीड़ित रहते हैं। रौद्रध्यानके परिणामोंसे नरकगति प्राप्त होती है। वहां दीर्घकालतक रहना पड़ता है। तिर्यञ्च गतिमें एकेन्द्रिय जीवोंके अज्ञान सम्बन्धी और निर्बलता सम्बन्धी महान कष्ट रहता है। उनके कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या सम्बन्धी भाव होते हैं। दो इन्द्री, तेइन्द्री, चोइन्द्री, असैनी पंचेन्द्री जीव मन रहित इन्द्रिय आधीन दुःखोंसे रातदिन संतप्त रहते हैं। वहां महान कष्ट, पराधीनतावश भोगते हैं। सैनी पञ्चेन्द्री तिर्यञ्चोंके मन होता है। जिससे कि मनसे तर्क वितर्क कर सकते हैं। उनके भी भाव अतिशय कुटिल रहते हैं। बहुतसे क्रूर परिणामी जीव दुष्ट होते हैं। वे निरन्तर हिंसामें रत रहते हैं। इनके कृष्ण, नील, कापोतके सिवाय पीत, पद्म, शुक्ल यह शुभ लेश्याएं भी हो सकती हैं। जिससे वे सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर सकते हैं। और श्रावकके व्रतोंको भी पाल सकते हैं। मनुष्यगतिमें मनके द्वारा विचारशक्ति अधिक होती है, जिससे वे हर प्रकारकी लौकिक और पारलौकिक उन्नति कर सकते हैं। और योग्य कार्यमें ध्यानादिक करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यह गति इस अपेक्षासे सब गतियोंसे श्रेष्ठ है।

देवगतिमें पुण्यके फलसे देवगति सम्बन्धी भोग करते हैं। उनके पहिले चार गुणस्थान सम्बन्धी भाव हो सकते हैं। वे जिनेन्द्रकी भक्ति अपने विमानोंके मंदिरोंमें करते रहते हैं। उनके पर्याप्त अवस्थामें पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याएं होती हैं। मध्यलोकमें तीर्थङ्करोंके कल्याणकोंमें वह और अन्य अवसरोंमें भक्ति करने आते रहते हैं। इस प्रकार गति सम्बन्धीमें औदयिक भाव होते हैं।

निश्चयनयसे विचार किया जावे तो आत्मा चारों गति संबंधी प्रपञ्चसे रहित है। यह आत्मा शुद्ध, अमूर्तीक, ज्ञाता, दृष्टा, पदार्थ है इसमें किसी प्रकारका विकार नहीं है। यह अपने स्वरूपमें सदा तन्मय रहता है। आत्माका स्वभाव ही परम निराकुलता सहित वीतराग है। यह अपने स्वरूपमें ऐसा गुप्त रहता है कि किसी प्रकारके विभाव इसमें नहीं होते हैं। कर्मोंका बंध नहीं होता। आत्मज्ञानी मोक्षमार्ग पर चलनेवाले होते हैं, वे हमेशा परतंत्रताकारक कर्मोंकी बेड़ी काटते रहते हैं। उनके भीतर शुद्धोपयोग रमण करता है। इससे वह स्वतंत्रताकी ओर बढ़ते हैं। उनका यह भाव निर्जरा रूप है।

२३३-कषायविचय-धर्मध्यान निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। औदयिक भावोंमें चार कषाय भी हैं। जो आत्माके भावोंको कलुषित करे उसे कषाय कहते हैं। मुख्य चार भेद हैं-क्रोध, मान, माया, लोभ। इन्हींकी कलुपतासे पाप पुण्य कर्मोंका बंध होता है। मंद कषायसे शुभ भाव होते हैं। तीव्र कषायसे अशुभ भाव होते हैं। शुभ भावसे अघातिया कर्मोंको पुण्य प्रकृतियोंका बंध होता है। अशुभ भावोंसे पाप प्रकृतियोंका बन्ध होता है। सातावेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र पुण्य प्रकृतियां हैं। असातावेदनी, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र पाप प्रकृतियां हैं। चार घातिया कर्मोंका बंध कषायके उदयमें बराबर होता रहता है, शुभ भावोंके होनेपर घातिया कर्मोंमें और अघातिया पाप प्रकृतियोंमें स्थिति अनुभाग कम पड़ता जाता है।

अशुभ भावोंसे घातिया कर्मोंमें और अघातिया पाप प्रकृतियोंमें स्थिति अनुभाग अधिक पड़ते हैं। इन कषायोंके १६ भेद हैं—अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ जो सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रको घातते हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ जो एकदेश चारित्रको घातते हैं। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और नौ प्रकारकी नोकषाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपूंसक वेद, यथाख्यात चारित्रको घातते हैं। कषायोंके अंश दो प्रकारके होते हैं, स्थिति अध्यवसाय जो कर्मोंकी स्थिति बांधते हैं। अनुभाग अध्यवसाय जो कर्मोंमें तीव्र या मन्द रस डालते हैं। कषायोंका बंध नौवें अनुवृत्तिकरण गुणस्थान तक रहता है और उनका उदय दसवें सूक्ष्म लोभ गुणस्थानतक रहता है। उसी गुणस्थानतक छह कर्मोंका बंध होता है।

मोहनी और आयु कर्मका बन्ध नहीं होता। आयुका बन्ध सातवें गुणस्थानतक होता है। मोहनीकर्मका बन्ध नौवें गुणस्थानतक होता है। कषाय ही संसार–भ्रमणका मुख्य कारण है। इस तरह व्यवहारनयसे कषायोंका विचार करके निश्चयनयसे विचार करनेसे आत्मामें कषायोंका उदय नहीं है। आत्मा सदा ही कषाय रहित वीतराग विज्ञानमय है। आत्मा एक अमूर्तीक अविनाशी स्वतंत्र पदार्थ है। इसमें किसी प्रकारके विकार नहीं हैं। यह असंख्यात प्रदेशी एक अनुपम चैतन्य शक्तिका सागर अतींद्रिय सुखसे पूर्ण है। हरएक आत्माकी सत्ता भिन्न२ है तथापि स्वभावसे सब समान हैं। आत्मज्ञानका लाभ जिनको होता है वही समझ सकते हैं। वह सम्यग्दृष्टी

मोक्षमार्गी है और आत्मानुभवको प्राप्त करके सुखशांतिका अनुभव करते हैं। कर्मकी परतंत्रता मेटनेका यही उपादान कारण है। आत्मा आप ही अपने लिये जहाजरूप है, स्वतन्त्र होनेमें यही कारण है।

२३४–लिंग औदयिकभाव–विचय धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है कि किसप्रकार औदयिक भावमें तीन लिंग भी हैं। भाव वेद तीन प्रकार हैं–स्त्री पुरुष नपुंसक। इन्हींको भावलिंग कहते हैं। स्त्रीवेदके उदयसे पुरुषकी कामना होती है। पुंवेदके कारण स्त्रीकी कामना होती है। नपुंसक वेदके कारण स्त्री–पुरुष दोनोंकी कामना होती है। देवगतिमें स्त्री पुरुषके भेद दो प्रकार हैं, और जैसा भाववेदका उदय होता है वैसा ही द्रव्यलिंगका होता है। नरकगतिमें और सम्मूर्च्छन तिर्यंचोंमें नपुंसक वेदका उदय होता है। भोगभूमिमें स्त्री पुरुष दो भाव वेद होते हैं। और द्रव्यलिंगी भी वैसा ही होता है। कर्मभूमिके गर्भज मनुष्य और तिर्यंचोंके तीनों ही भाव वेद होते हैं, और द्रव्यलिंग स्त्री पुरुष नपुंसक तीनों होनेपर भी भावलिंग हरएकके तीनों हो सकते हैं। वेदका उदय ९ वें अनुवृत्ति-करण गुणस्थान तक रहता है। परन्तु भावमें कामविकारकी सम्भावना छठे प्रमत्त गुणस्थान तक रहती है। वेदके उदयसे होनेवाले भावको निरोध करना ज्ञानी जीवका कर्तव्य है। अणुव्रती श्रावक स्वदारसन्तोषी होते हैं। महाव्रती पूर्ण ब्रह्मचर्यको पालते हैं। भाव बाह्य निमित्तोंके आधीन होते हैं।

इसलिये ज्ञानी जीव निमित्तोंका ध्यान रखते हुए वर्तन करते

हैं। आत्माका स्वभाव भाववेदसे रहित है, पूर्ण ब्रह्मभावको रखनेवाला है। निश्चयसे आत्मा परम शुद्ध ज्ञातादृष्टा अविनाशी एक स्वतंत्र पदार्थ है। यह परम वीतराग ज्ञातादृष्टा है। इसमें ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म और रागादिक भावकर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अपने असंख्यात प्रदेशोंको परम शुद्ध रखता है। इसमें शुद्ध दर्पणके समान परम निर्मलता है। इसके ज्ञानमें सब ज्ञेय पदार्थ झलकते हैं, तौभी कोई विकार नहीं होता है।

वह अपने शुद्ध भावमें निःशंकित और निष्कम्प अचल रहता है। इसमें पर पदार्थका प्रवेश नहीं होता। यह सबसे जुदा अपने स्वरूपका भोगनेवाला है और सुख-शांतिका सागर है। आत्मज्ञानके सिवाय कोई स्वतंत्रताका मार्ग नहीं है। मोक्षमार्गी आत्मज्ञानके द्वारा आत्मानुभवकी प्राप्ति करते हैं और अपने आत्माको शुद्ध करते जाते हैं। यही सार तत्व है, ज्ञानियोंके द्वारा सदा ही वन्दनीय है, और मननीय है। यही परम रत्न है। इससे आत्माकी शोभा है। आत्मज्ञानके लाभ होने पर नर्कमें रहना भी अच्छा है, किन्तु स्वर्गमें रहना आत्मज्ञानके विना अच्छा नहीं। आत्मीक रस एक अद्भुत अमृत है। इससे परमतृप्ति होती है। और हरएक अवस्थामें परम धैर्यका लाभ होता है। यही जीवनका रसायन है। इसके रसीले सदा ही इसके रसका पान करते हैं। मोक्षमार्गके लिये उत्सुक वीरोंका यह तीव्र शस्त्र है और शान्त चित्तवालोंका यही एक आभूषण है।

२३५-मिथ्यादर्शन विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। मिथ्यादर्शन औदयिक भाव है, जिसके उदयसे सम्यग्दर्शन नहीं होता है। मिथ्यादर्शन आत्म विश्वासके अभावको कहते हैं। मिथ्यादर्शन एक प्रकार है। तौ भी कारणकी अपेक्षा ५ भेद हैं-एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान, विनय। वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं। उनमेंसे एक ही धर्मको मानना अन्यको न मानना एकांत मिथ्यात्व है। वस्तु द्रव्य अपेक्षा नित्य है, पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। वस्तु गुण समुदायकी अपेक्षा एकरूप है। परन्तु अनेक गुणकी अपेक्षा अनेक रूप है। वस्तु अपने स्वरूपकी अपेक्षा अस्ति रूप है, परस्वरूपकी अपेक्षा नास्ति रूप है। ऐसा अनेकांत वस्तु स्वरूप होनेपर भी न मानकर एकरूप ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

विपरीत मिथ्यात्व वह है जो अधर्मको धर्म मानले, हिंसादि पंच पापोंको शुभ फलदायक मान ले। संशय मिथ्यात्व वह है कि कई कोटिक उठाकर किसीका भी निर्णय न करना। अज्ञान मिथ्यात्व वह है कि किसी तत्वका निश्चय करनेके लिये आलसी रहना, मूढ़तासे देखादेखी धर्मको मानना। विनय मिथ्यात्व वह है-जो किसी तत्वका निश्चय न करके सभी प्रचलित धर्मोंमें आदर करना, आत्माका सच्चा हित न विचारना।

इस प्रकार मिथ्यादर्शनके कारण यह जीव तत्वका निश्चय नहीं कर पाता और विषय कषाय जिनसे पुष्ट हो, उन्हीं धर्म-क्रियाओंको लगता है या संसारमें पूर्ण आसक्ति रखता है। अपना आत्महित

नहीं कर पाता, और देहमें आत्मबुद्धि करता है। अपने स्वार्थके लिये परके साथ अहित करता है और संसारके कार्योंमें रंजायमान रहता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्मकी प्रशंसा भक्ति करता है।

व्यवहारनयसे इसप्रकार विचार करके मिथ्यात्वके समान कोई वैरी नहीं है। निश्चयनयसे विचारता है तो आत्मामें मिथ्यात्वका कोई संस्कार नहीं है। आत्मा सदा ही स्वभावमें तन्मय रहता हुआ अपने गुणोंमें परम शुद्धता रखता हुआ परवस्तुके संसर्गसे सदा ही भिन्न रहता है। और वीतराग विज्ञान स्वभावमें तल्लीन रहता है। कोई प्रकार कर्म नोकर्मका संसर्ग नहीं रखता है। अपने ज्ञान स्वभावमें सदा ही तिष्ठता हुआ सर्व जानने योग्य ज्ञेयको एक समयमें जानता है और निर्विकार रहता है। परस्वरूप परिणमन नहीं करता है। परम सुखसागरमें मगन रहता है। आत्माका तत्व परम गम्भीर है और जो आत्म तत्वको अनुभव करता है वही सम्यग्ज्ञानी है। वह अपनी आत्म उन्नति करता रहता है। कर्मसे शुद्धताकी ओर बढ़ता रहे तो अपने जीवनको स्वतन्त्र और सुखी बनाता है।

आत्मानुभव ही स्वतन्त्र होनेका उपाय है। यही मोक्षमार्ग है, रत्नत्रय स्वरूप है, सर्व आकुलतासे रहित है, यही ज्ञानियोंका आभूषण है।

२३६–अज्ञानभावविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। किसप्रकार औदयिक भावोंमें अज्ञान भाव भी है। ज्ञानावरणीय कर्मोंके उदयसे यह अज्ञान भाव जहांतक केवलज्ञान न हो वहांतक रहता है। मिथ्यात्व

गुणस्थानसे लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक पाया जाता है। इस कारण अनंत ज्ञेय पदार्थोंका त्रिकालवर्ती ज्ञान नहीं हो पाता है। अज्ञानभावके कारण एकेन्द्री आदि जीव अपनी इन्द्रियोंसे बहुत थोड़ा जानते हैं। जितना ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है उतना ज्ञान प्रगट होता है। अज्ञानके कारण मिथ्यादृष्टी जीव तत्वज्ञानको नहीं पा सक्ते हैं और इसलिये आत्मकल्याण नहीं कर सक्ते। अज्ञानभाव अन्धकारमय है। जिसके अन्धेरेमें पदार्थोंका सच्चा स्वरूप नहीं जान पड़ता है। अज्ञानभावके कारण लौकिक और पारलौकिक कार्य बहुधा असफल होते हैं।

जैसे अज्ञानी मनुष्य किसी यंत्रके चलानेकी विधि न जानकर यंत्रको चला नहीं सकता, वैसे ही अज्ञानी जीव धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थको साधन नहीं कर सकता है और कार्योंको बिगाड़ डालता है। धर्म पुरुषार्थके लिये ज्ञानका पाना बहुत आवश्यक है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, यह सात तत्व और पुण्य पापको लेकर नौ पदार्थ हैं, इनका ज्ञान होना जरूरी है, जिससे यह आत्मा अपने स्वरूपको जान सके, क्योंकि बंधनको काटनेका उपाय कर सके। इसलिये तत्वज्ञानके देनेवाले शास्त्रोंका अच्छी प्रकार पठनपाठन करना चाहिये। ज्ञानके साधनसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। श्रुतज्ञान केवलज्ञानका कारण है। द्वादशांग वाणीका सार आत्मध्यान है। आत्मध्यानके द्वारा आत्माका अनुभव होता है। आत्मानुभवमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों गर्भित हैं।

आत्माका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। आत्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान

है । आत्माके स्वरूपमें लीनता सम्यक्चारित्र है । ज्ञानके साधनके लिये जैन शास्त्रोंका स्वाध्याय पांच प्रकार करना चाहिये । शास्त्रोंको पढ़ना और सुनना। प्रश्न करके शंकाओंको निवारण करना । वारम्वार शास्त्रोंके अर्थका विचार करना । शुद्धताके साथ शास्त्रोंको कण्ठस्थ करना और जाने हुये धर्मका उपदेश देना । अज्ञानके नाशके समान जीवका कोई हित नहीं है । अज्ञान बड़ा भारी अन्धकार है । ज्ञान सूर्यके प्रकाश होनेपर यह दूर होता है । ज्ञानके समान कोई दान नहीं है । जगतके प्राणियोंको सम्यग्ज्ञानका दान करके अज्ञानको मेटना चाहिये ।

अज्ञानकी रात्रिमें जगत सो रहा है । अपने सच्चे हितको भूले हुये है । अज्ञानकी शय्यापर सोनेवालोंको जगाना चाहिये । अज्ञानके समान कोई वैरी नहीं है । ज्ञानके समान कोई मित्र नहीं है । अज्ञानका उदय राहुके विमानके समान है । अज्ञानका परदा हटनेसे ज्ञान भानुका प्रकाश होता है । निश्चयनयसे विचार किया जावे तो अज्ञानका नामतक आत्मामें नहीं है ।

आत्मा ज्ञाता, दृष्टा, अमूर्तिक, अविनाशी, परम वीतराग स्वतंत्र पदार्थ है । आत्माका अनुभव अमृत रसायन है । जो उसको पान करते हैं अमर हो जाते हैं । सब ही महात्मा लोग इस अमृतका पान करते हैं । इसीसे सुख शांतिका स्वाद आता है । आत्मानुभव ही स्वतंत्रताके पानेका उपाय है । यही भावनिर्जरा है, यही सार तत्व है, ज्ञानियोंको मंगलदायक है ।

२३७–असंयत भाव विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार करता है । औद-यिक भावमें असंयत भाव भी गर्भित है । जहांतक अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है वहांतक असंयत भाव बना रहता है. संयम लेनेके भावका न होना असंयत भाव है । असंयमी प्राणी, हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म, परिग्रह इन पांच प्रकारके पापोंसे विरक्त नहीं होता है । पांचों इन्द्रियोंको वशमें नहीं रखता है । पृथ्वी आदिक छः प्रकारके प्राणियोंकी दया नहीं पालता है । वह असंयत भाव मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर अव्रत सम्यक्त चौथे गुणस्थानतक रहता है । एकेंद्रि-यादिक प्राणी असैनी पंचेन्द्रिय पर्यन्त सब असंयमी होते हैं । असंयत भाव पांचवें देशव्रत गुणस्थानमें एकदेश छूट जाता है । छठे प्रमत्त-विरत गुणस्थानमें बिलकुल नहीं रहता । असंयमी प्राणी विवेकपूर्वक वर्तन नहीं करता है । स्वार्थके लिये हिंसादि पापोंको स्वच्छन्दतासे करता है । नरक, तिर्यंच, देव, मनुष्य, चारों गतियोंमें भ्रमण करता है । जब कि संयमी प्राणी देवगतिके सिवाय और गतिमें नहीं गमन करता है, अथवा मुक्त होजाता है । असंयत भाव निर्दयताका प्रचार करनेवाला है और संसारके क्लेशोंका मूल है । संयमभाव परम मर्यादामें प्राणीको रखनेवाला है । असंयम भावसे अपनी हानि यह होती है कि कषायोंकी वृद्धि होजाती है और दूसरे प्राणियोंको हानि पहुंचती है । असंयम भाव संसार–भ्रमणका कारण है । असंयमसे मन, वचन, काय चंचल होते हैं । असंयम भाव जीवनको पतित करनेवाला है । संयम भाव जीवनको उच्च बनानेवाला है । असंयम भाव आकुलताका

कारण है, वह आरम्भ व बहुत परिग्रहका हेतु है। असंयम भावसे तृष्णाका समुद्र बढ़ जाता है, विनयका ह्रास होजाता है।

असंयमसे मायाकारकी वृद्धि होजाती है। असंयम भाव संतोषको नहीं आने देता है। असंयमभाव कर्मबंधका कारण है, रागद्वेषको बढ़ानेवाला है। असंयमभाव द्यूतरमण आदि सप्तव्यसनोंका कारण है। असंयमभाव जगतमें अनीतिको विस्तारनेवाला है। संयमभाव नीति और धर्मको पुष्ट करता है। असंयमभाव दुर्गतिका कारण है। असंयमभाव प्राणीके उत्तम पुरुषार्थके साधनमें सफल नहीं होने देता। निश्चयनयसे आत्माका कोई असंयमभाव नहीं है।

आत्मा स्वभावसे परम संयमी ज्ञाताद्रष्टा अनन्त शक्तिका धारी है। आत्मा स्वयं एक दृढ़ किला है, जिसमें परवस्तुका प्रवेश नहीं होसक्ता। आत्मा सुख-शांतिका भंडार है। परम अनुपम पदार्थ है। आत्मज्ञान ही परम धर्म है। इसीके द्वारा आत्मानुभव होता है जिससे पापको दग्ध करनेवाली ध्यानकी अग्नि प्रज्वलित होती है, यही भाव निर्जरा है, जो आत्मीक स्वतंत्रताका कारण है।

२३८–असिद्धत्व विचय, धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। संसारमें जब तक जीव पाप पुण्य कर्मोंसे बंधा हुआ भ्रमण किया करता है, तब तक इसके असिद्धत्व भाव पाया जाता है। पूर्ण शुद्ध अवस्थाको जब, आत्मा प्राप्त करलेता है, तब वह आत्मा सिद्ध कहलाता है। अर्थात् असिद्धत्व भावका नाश होजाता है। सिद्धत्व भावमें आत्मा

पूर्ण स्वतन्त्र और सुखी रहता है । किसी प्रकारकी चिन्तायें विकल नहीं करती हैं । अनन्तकाल तक सिद्धत्व भावका उदय सदा काल बना रहता है । निकट भव्य जीव कर्मोंके नाश कर लेनेपर असिद्धत्व भावका उच्छेद कर डालते हैं । असिद्धत्व भावका उदय जब तक रहता है तब तक यह जीव पूर्ण निराकुल सुखको प्राप्त नहीं करता । और कर्मोंके बंधनके अनुसार देव मनुष्य तिर्यंच नरक गतियोंमें नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेकर संसारी सुख दुःख भोगा करता है । यह असिद्धत्व भाव अनादिकालसे संसारकी परिपाटी चला करती है ।

इसलिये ज्ञानी जीवको उचित है कि असिद्धत्वभावके नाश करनेका प्रयत्न करे । क्योंकि जब तक इसका उदय है तबतक स्वतंत्रताका लाभ नहीं हो सकता । सिद्धत्वभावमें अनन्त कालतक परिपूर्णता रहती है । सिद्ध भगवान अपने स्वरूपमें तन्मय होते हुए आनन्द अमृतका सदा पान करते रहते हैं । और परम निर्भय रहते हुए सर्व संसारी दुःखोंसे छूटे रहते हैं । सिद्धत्वभाव प्राप्त करनेका उपाय अपने ही शुद्ध आत्माका अनुभव है । भव्यजीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके भेदविज्ञानपूर्वक जब आत्माका अनुभव करते हैं तब स्वानुभव या आत्मध्यान प्राप्त कर लेते हैं । इसी स्वानुभवके अभ्याससे कर्मोंके आवरणका नाश होता है । और वह भव्यजीव गुणस्थानोंकी श्रेणीपर चढ़ता हुआ तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थानमें अर्हन्त परमात्मा हो जाता है । फिर चौदहवें गुणस्थानको स्पर्श करके सर्व प्रकार शरीरोंसे रहित सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

आत्माका अनुभव ही सिद्धत्वका साधक है । इसका अभ्यास

चिरकाल तक करना चाहिये। बड़े बड़े योगी ऋषीश्वर इसी स्वानु-भवके मार्गसे सिद्धपदको पहुंचे हैं और आगामी पहुंचेंगे। सिद्धोंका आकार मूर्तिक नहीं है तो भी अन्तिम शरीरसे कुछ कम आत्माके प्रदेशोंका आकार रहता है। एक सिद्ध जहां विराजमान हैं, अनन्त सिद्ध वहां अवकाश पा सकते हैं तो भी परस्पर नहीं मिलते। सिद्धोंमें आठ गुण प्रसिद्ध हैं—सम्यग्दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तवीर्य, अगुरुलघु, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मभाव। सिद्ध भगवान इन्द्रियोंसे और मनसे अगोचर हैं। जो स्वात्मानुभव करता है, उसको सिद्ध स्वरूपकी झलक आजाती है। असिद्धत्वके नाशका उपाय अपने स्वरूपका आचरण है। इसको प्राप्त करनेका उपाय अपने स्वरूपका ज्ञान है। ज्ञानसे ही ध्यान होता है। ध्यान ही स्वतन्त्रता पानेका मार्ग है।

२३९—लेश्याविचय—धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। २१ प्रकार औदयिक भावोंमें छह लेश्यायें भी हैं। यह लेश्यायें संसारी जीवोंके शुभ अशुभ उपयोगोंके दृष्टान्त हैं। इसीसे इनको भावलेश्या कहते हैं। शरीरके रंगोंको द्रव्यलेश्या कहते हैं। यहां भावलेश्या मुख्य है। इन्हींसे कर्मोंका आस्रव होता है। लेश्यायें छह हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनमेंसे पहिली तीन लेश्यायें अशुभ हैं, शेष तीन शुभ हैं। कृष्णलेश्या अशुभतम है। नीललेश्या अशुभतर है। कापोतलेश्या अशुभ है, पीतलेश्या शुभ है, पद्मलेश्या शुभतर है, शुक्ललेश्या शुभतम है।

कायसे काम करना और उसका अनुभव करना कर्मचेतना है, जो कि संसारी जीवोंमें पाई जाती है, मुख्यतासे त्रस जीवोंमें पाई जाती है। सुख दुःखका अनुभव करना कर्मफल चेतना है। यह भी संसारी प्राणियोंमें पाई जाती है। मुख्यतासे एकेन्द्री जीवोंमें होती है। ज्ञान गुणसे प्रयोजन संपूर्ण जानने योग्य पदार्थोंका ज्ञान है। संसारी जीवोंमें ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके अनुसार ज्ञान कम व अधिक पाया जाता है। इसलिये ज्ञानके आठ भेद हो गये हैं। मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। दर्शनगुणसे जीव संपूर्ण पदार्थोंको सामान्य ग्रहण करता है। संसारी जीवोंमें दर्शनगुण कम या अधिक पाया जाता है। इसलिये दर्शनके चार भेद होगये हैं—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल। आत्मामें अनन्त वीर्य है, जिससे किसी प्रकारकी स्वाभाविक निर्बलता नहीं है। संसारी जीवोंमें अन्तराय कर्मके क्षयोपशम होनेके अनुसार वीर्य कम व अधिक पाया जाता है। आनन्द गुण भी आत्मामें स्वभावसे पाया जाता है। इससे स्वभावमें स्थिरता होनेसे सुखका अनुभव होता है। संसारी जीवोंमें सुख गुणका प्रकाश मोहनी कर्मके उदयसे इन्द्रिय सुख व दुख रूप कम व अधिक पाया जाता है। परन्तु सम्यग्दृष्टी जीवोंमें सम्यक्तके प्रभावसे सच्चे सुखका अनुभव होता है।

जीवत्व भाव जीवका निजधर्म है। यही वस्तु स्वभाव है। संसारी जीवोंमें जीवत्व भावमें आवरण है। जबतक कर्मोंका आवरण नहीं हटे तबतक शुद्ध जीवत्व प्रगट नहीं होता। इसके लिये जीवत्व भावको लक्ष्यमें लेकर उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

जीवत्वको लक्षमें लेकर उसीका ध्यान मनन करना चाहिये। तब आत्मज्ञानके प्रतापसे आत्माका अनुभव प्रगट होगा। अनुभव ही ध्यानकी अग्नि है, जो कर्म ईंधन जलाती है। आत्मानुभवमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों गर्भित हैं। ध्येयके ध्यानेसे ध्यानकी सिद्धि होती है। जो कोई आत्मतत्वको कर्म नोकर्म आदिकसे भिन्न जानता है और उसीका मनन करता है, उसके भीतर आत्मजाग्रतिसे सुख शांतिका स्वाद आता है।

यही धर्म है, क्योंकि यही जीवको अपने जीवत्वमें पहुंचा देता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी महात्मा इसी तत्वको मनन करते हैं। और अपना सच्चा हित संपादन करते हैं। व्यवहार चारित्र निमित्त कारण है। निश्चय चारित्र साक्षात् उपादन कारण है। आत्माका अनुभव ही निश्चय चारित्र है। तीर्थंकरादि महापुरुष भी इसी तत्वका ध्यान करते हैं। जहां आत्मानुभव है, वहां संपूर्ण धर्मके अंग हैं, वहीं यथार्थमें वीतरागता प्रगट होती है, रागद्वेषादि कषाय भावका क्षय होता है।

चौथे गुणस्थान अविरत सम्यग्दर्शनमें आत्मानुभव दोजके चंद्रमाके समान होता है। यही बढ़ते २ तेरहवें गुणस्थानमें पूर्णमासीके चन्द्रमा समान होजाता है। यही परतन्त्रताका नाशक और स्वतंत्रताका उपाय है। गृहस्थ या साधु हरएकको उचित है कि जीवत्व गुणको प्रगट करनेके लिये हरएक धार्मिक आचरणमें इस तत्वपर दृष्टि रक्खे।

२४१–भव्यत्वभावविचय–धर्मध्यान निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। तीन प्रकारके पारिणामिक भावोंमें भव्यत्व भाव भी है। निश्चयसे जीवमें एक

जीवत्व भाव ही है। व्यवहारनयसे जिन जीवोंके भीतर सम्यक्त्व भाव तथा मोक्ष प्राप्तिकी योग्यता है उनके लिये भव्यत्व कहा गया है। भव्यत्व भावके होते हुये योग्य निमित्तोंके मिलनेपर सम्यक्तकी प्राप्ति होजाती है। निकट भव्य जीव आगमके अभ्याससे तथा परके उपदेशसे या स्वभावसे आत्मतत्वका यथार्थ बोध हो जाता है। तब संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य भाव हो जाते हैं। और निज स्वरूपकी प्राप्तिकी रुचि प्राप्त होजाती है। तब वह भव्य जीव मोक्ष-मार्गके लिये उद्योग करता है, स्वात्मानुभवके लिये प्रयत्नशील हो जाता है और अपनी शक्ति तथा समयानुसार भेदविज्ञान द्वारा आत्म चिन्तवन करता है और सम्यक्तके आठ लक्षणोंको प्रकाशित करता है। संवेग भावसे आत्म धर्ममें प्रेमभाव रखता है। और इसीलिये जो सच्चे आत्मज्ञानी हैं उनसे प्रेमभाव रखता है। निर्वेद भावमें सर्व पर पदार्थोंसे वैराग्य भाव रखता है। निन्दा और गर्हाभावमें अपने दोषोंका विचार मनसे वचनसे करता है। और उनके दूर करनेकी भावना करता है। उपशम भावमें अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन पांच परमेष्ठियोंकी आराधना करता है। वात्सल्य भावमें धर्मात्माओंसे अत्यंत धर्मप्रेम रखता है और अनुकम्पा भावमें प्राणी-मात्रकी दया करके उनके दुःखोंके निवारणका उद्यम करता है।

निश्चयसे वह अपने आत्मासे परम प्रेमभाव रखता है। अपने आत्माको सर्व प्रकारके कलुषित भावसे बचाता है। भव्यजीव सच्ची श्रद्धाके बलसे आपत्तियोंके आनेपर भी अपने सिद्धांतसे च्युत नहीं होता है। भव्यत्व भावका प्रकाश अविरत सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानमें

प्रारम्भ होता है और सिद्ध होनेतक अपना प्रकाश बढ़ाता जाता है। भव्यत्व भाव जहां प्रगट होता है वहां भव-जालसे छूटनेकी कुंजी हाथमें आ जाती है। निश्चयनयसे भव्यत्व भावका कोई कथन या विकल्प नहीं होसकता। आत्मा अपने शुद्ध जीवत्व भावमें विराजमान रहता है और अपने अभेद स्वभावसे अपनेको ऐसा दृढ़ रखता है कि कोई परका प्रवेश न हो सके। निश्चयसे यह आस्रव बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्षादि तत्वोंसे परे हैं। यह अपने स्वरूपके स्वादमें मगन रहता है। और स्वतंत्रतासे अपनेमें शोभायमान होता है। निश्चयके जो ज्ञाता हैं वे ही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी और महात्मा हैं। वे ही निश्चय तत्वको जानकर तत्वका अनुभव करते हैं और परम संतोषित रहते हैं।

-२४२-अभव्यत्व विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचार करता है। व्यवहारनयसे तीन प्रकार पारिणामिक भावोंमें अभव्यत्व भावको भी लिया गया है। सर्वज्ञके ज्ञानमें झलका है कि इस लोकमें कितने ही जीव ऐसे हैं जिनमें सम्यग्दर्शनकी योग्यता नहीं है। ऐसे जीवोंमें अभव्यत्व भाव पाया जाता है। अभव्य जीव यद्यपि यहांतक उन्नति करता है कि प्रायोग लब्धिको प्राप्त करले तथा नव ग्रैवेयिक तक चला जाय, परन्तु मिथ्यात्व कर्मका उपशम नहीं कर सकता, न अनंतानुबन्धी कषायके उदयको मिटा सकता है। इसलिये उसको सत्यरूपमें आत्मतत्वका बोध नहीं होता। ऐसा सूक्ष्म मिथ्यात्व भाव है कि उसके अन्तरङ्गसे नहीं जाता। वह बाह्यमें साधु व श्रावकके व्यवहार चारि-

त्रको ठीक ठीक पालता है, भव्यजीव जैसा आचरण करता है, परन्तु परिणामोंमें आत्मानुभवको नहीं प्राप्त कर सकता। अभव्यत्व भावके कारण उसकी दृष्टि सूक्ष्म आत्म-तत्वपर नहीं जाती। अभव्य जीव मन्द कषायके पुण्य कर्मको बांध लेता है। और उसके फलसे यथासम्भव सांसारिक साताकारी सम्बन्धोंको पाता है, परन्तु संसारसे पार होनेका अवसर नहीं पाता है। निश्चयनयसे अभव्यत्व भाव जीवमें नहीं है। जीव जीवत्व भावको रखनेवाला है। जीवका स्वभाव ज्ञाता दृष्टा परम वीतराग शुद्ध है।

इसमें कोई कर्म या नोकर्मका सम्बंध नहीं है। यह अपनी सत्ता भिन्न रखता है। इस जीवमें कोई संकल्प विकल्प नहीं होता। यह जीव अनादिकालसे अपने स्वभावमें स्थित है। इसके भीतर मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान तथा गति इन्द्रिय आदि १४ मार्गणायें नहीं हैं। न इसमें एकेन्द्रि द्विइन्द्रिय आदि १४ जीवसमास हैं, न इनमें क्रोधादि चार कषाय, न हास्यादि नोकषाय हैं। न इनमें कर्मोंके बंधस्थान हैं, न उदयस्थान हैं। न स्थितिबन्ध अध्यवसाय स्थान हैं। तथा न कोई अनुभाग स्थान हैं। न योग स्थान हैं न कोई संयम लब्धि स्थान हैं। न कोई कर्म निर्जरा स्थान हैं। न कोई वर्ग हैं न वर्गणा हैं न स्पर्द्धक हैं। न रस है, न गन्ध है न वर्ण है न स्पर्श है। न इनमें कोई अन्य द्रव्यका संयोग है। न गुणोंके भेद हैं। न भावोंके भेद हैं। न इसमें चारित्रके भेद हैं। न ज्ञानके भेद हैं। न दर्शनके भेद हैं।

यह परम स्वतंत्र पदार्थ है। जो कोई इस आत्मतत्वको अच्छी

तरह समझता है वह सर्व चिन्ताओंको मेटकर एकांतमें तिष्ठकर परम श्रद्धापूर्वक आत्माका मनन करता है। भेदविज्ञानसे सर्व अनात्मीक भावोंको दूर करता है और अपने शुद्ध स्वभावमें तन्मय होता है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी एकताको प्राप्त करके आत्मानुभवको पाता है और परम सुख शांतिका लाभ करता है। सन्तोषित होकर मोक्षमार्गको तय करता हुआ एकदिन स्वतंत्र और मुक्त होजाता है। आत्मानुभव ही भाव निर्जरा है, जो कर्मोंको क्षय करती है।

२४३–ईर्यासमिति विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। मुनिगण तेरह प्रकार व्यवहार चारित्रमें पांच समितिको भी पालते हैं। अहिंसा महाव्रतकी रक्षाके लिये ईर्यासमितिका साधन करते हैं। दिवसमें प्रकाश होते हुये प्रासुक भूमिमें चार हाथ जमीन आगे देखकर चलते हैं। जिससे जीवोंको कोई बाधा न पहुंचे। हरएक जीव संसारमें जीना चाहता है तब उनके प्राणोंकी रक्षा करना महाव्रती साधुओंका परम कर्तव्य है। अहिंसा मुख्य धर्म है। और धर्म इसीमें गर्भित है। अहिंसाके लिये प्रमाद छोड़कर प्रयत्नशील होना जरूरी है। मनमें हिंसात्मक विचार नहीं करना चाहिये। हिंसाकारी वचन नहीं बोलना चाहिये। कायसे हिंसारूप क्रिया नहीं करना चाहिये। जगतमें ६ कायके प्राणी हैं पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक। त्रसकायमें दोइन्द्री, तिइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्री प्राणी गर्भित हैं। इन सबकी रक्षा करना प्रत्येक मानवका

धर्म है । साधुओंका तो परम धर्म है । इसीलिये साधु विशेष करके मार्गमें चलते हुए ईर्यासमितिको पालन करते हैं। निश्चयनयसे अपने आत्माका आत्मामें कषाय रहित होकर वर्तन करना ईर्यासमिति है। आत्माका स्वभाव निश्चयसे परम शुद्ध है। ज्ञातादृष्टा अमूर्तीक अविनाशी है। यह आत्मा अपनी सत्ताको सदा स्थिर रखता है। आत्माके स्वभावमें कर्मोंका सम्बन्ध और नो कर्मका सम्बन्ध नहीं है। इसका स्वरूप ऐसा दृढ़ है कि इसमें कोई पर वस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता है। यह आत्मा परमानंद और परम शांतिका सागर है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव इसी शांतिसागरमें डुबकी लगाते हैं और अपने कर्म-मैलको धोते हैं। आत्माके सत्य स्वरूपका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और इसीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और उसीमें लीन होजाना सम्यक्चारित्र है। इन तीनोंकी एकता जहां होती है वहां आत्मानुभव प्रगट होता है। आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। इसीपर चलकर तीर्थंकर आदि महापुरुष भवसागरके पार हो जाते हैं। सर्व सिद्धांतका सार आत्मानुभव है। भेदविज्ञानके द्वारा विचार करनेपर यह आत्मा सम्पूर्ण पर पदार्थोंसे भिन्न अपने स्वरूपमें निश्चल झलकता है। एकांतमें तिष्ठकर मनको निश्चल कर ज्ञान वैराग्यके साथ आत्माको आत्म रूप ध्याना चाहिये। तब वारवार अभ्यास करनेसे आत्मानुभव प्रगट होगा। जैसे दूधके बिलोनेसे मक्खन निकल आता है। रागद्वेष मोहसे कर्मबन्ध होता है तब वीतराग भावसे कर्मोंका क्षय होता है। स्वतन्त्रताकी प्राप्तिका उपाय एक आत्मानुभव है जो जिस तरह बने प्राप्त करना चाहिये और सुखी होना चाहिये ।

२४४–भाषासमिति विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। पांच समिति-योंमें दूसरी भाषासमिति है। मुनिगण अपनी वाणी अमृतके समान परम मिष्ट इष्ट उच्चारण करते हैं जिससे श्रवण करनेवाले परम सुखी और तृप्त होते हैं। और धर्म रसायनको पाकर और उसको पीकर सन्तोषित होते हैं। उनकी वाणीसे समभाव प्राप्त होता है। और अनादिकालेकी अविद्याका नाश होता है। मिथ्यात्वभाव दूर होता है मोक्षमार्गका प्रकाश होता है। जिनवाणीका विस्तारसे ज्ञान होता है और धर्मप्रभावना होती है। पशुपक्षी भी जिनवाणीको सुनकर शांत होजाते हैं। अनेक मिथ्यात्वी जीव सम्यक्तको ग्रहण करते हैं उनकी अमृतवाणीमें कठोरता नहीं होती। भाषाको बहुत संभालकर बोलते हैं, जिससे किसीका मन पीड़ित नहीं होता। उनकी वाणीसे आत्म-तत्वका प्रकाश होता है। जिससे जीव अपने स्वरूपको पहचान कर आत्मलीन होते हैं। वाणीसे जगतके जीवोंका परम उपकार होता है। उनकी वाणीमें सार तत्वज्ञान भरा रहता है। भाषासमिति भाषाकी समीचीन प्रवृत्तिको कहते हैं, जिससे किसी प्रकारकी दुविधा नहीं रहती, और उससे महान बोध होता है, साधु और श्रावक धर्मका प्रकाश होता है, वाणी चंद्रमाके समान उज्वल होती है, अज्ञानमें सोते प्राणी जाग जाते हैं और अपने हितको पहिचानकर स्वहितके लिये उद्यमी होते हैं। अहिंसाका भाव दिलमें बैठाते हैं। जगतके प्राणी तृष्णाकी दाहमें जलते हैं, उनकी दाहको मुनिगण साधु शीतल वाणीसे शमन करते हैं।

भाषा समिति सत्य महाव्रतकी रक्षा करती है और परिणामोंको सरल रखती है, परमकल्याणकारी है। इस समितिका पालन एकदेश श्रावकोंको भी करना चाहिये। इस समितिसे वाणीकी शोभा होती है। निश्चयनयसे इस समितिका कोई कार्य नहीं है। आत्मा निश्चयनयसे सर्व प्रपंच रहित ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी परम शुद्ध है। इस आत्मामें आठ कर्म, शरीरादि नोकर्म व अन्य किसी द्रव्यका सम्बन्ध नहीं है। इसके आत्मप्रदेश परम शुद्ध हैं। निर्विकार परम वीतराग आत्माका तत्व है। इसमें संकल्प विकल्प नहीं। इस आत्मतत्वको जो समझते हैं, वे ही आत्मज्ञानी हैं। उन्हींके अन्तरङ्गमें आत्मानुभव प्रगट होता है जो साक्षात् मोक्षका मार्ग है। आत्मानुभवसे ही जीवका परम हित होता है। आत्मानुभवके बिना शास्त्र पाठ कार्य कर रहे हैं। आत्मा अनुभव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको प्रकाश करनेवाला है आत्मानुभवसे वीतरागता प्रगट होती है, जिससे कर्मकी निर्जरा होती है। आत्मानुभव ही सार तत्व है। यही सच्चा सुख प्रदान करता है। यही मंगल आत्मानुभव है। इसे ही सम्यग्दृष्टी श्रावक और मुनि इसीके द्वारा अपनी आत्म उन्नति करते हैं। यही आत्माका परम उपकारी है। सिद्ध भगवान भी इसी आत्मा अनुभवमें परम आनन्द भोगते हैं। आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग स्वरूप है। इसीके प्रतापसे जीवका परम हित होता है। और रागद्वेष मोहका अभाव होता है। और सुख-शांतिका लाभ होता है। आत्मानुभव ही सच्चा तीर्थ गुरुदेव है। व्यवहार चारित्रका पालन इसीके निमित्त किया जाता है। यही स्वतन्त्रताका द्वार है।

२४५—एषणासमिति विचय—धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। पांच समितिमें एषणासमिति तीसरी है। मुनिगण ४६ दोषरहित ३२ अन्तराय टालकर आहार करते हैं। दातार नवधाभक्तिसे आहार दान करते हैं। मुनिको पड़गाहते हैं। पाद प्रक्षालन करते हैं। उच्चासनपर विराजमान करते हैं। नमस्कार करते हैं पूजन करते हैं। मन वचन कायको शुद्ध रखते हैं। आहारकी शुद्धि रखते हैं। इसतरह बहुत भक्तिपूर्वक आहार देते हैं।

मुनिगण सरस निरसका विचार न करके समभावसे आहार लेते हैं। अन्तरङ्ग शुद्धिका कारण बहिरङ्ग निमित्त है। इस कारण मुनिगण शुद्ध आहार लेकर शरीरको स्थित रखते हैं। दातार भी द्रव्य-शुद्धियोग्य विधिसे दान देकर महान पुण्य बंध करते हैं। यदि शुद्ध आहार नहीं मिलता तो आहार नहीं करते हैं। और मुनिगण वृत्ति-परिसंख्यान तपमें आहारको जाते हुये कोई नियम धारण कर लेते हैं, उसकी पूर्ति न होनेपर आहार नहीं करते हैं। निश्चयसे आत्माको आत्मीक आनंदका लाभ करना एषणा समिति है। आत्मा व्यवहार एषणासमितिके विकल्पसे बाहर है। आत्माका स्वभाव परम शुद्ध अविनाशी ज्ञायकमात्र है। यह आत्मा अपनी सत्ता स्वतंत्र रखता है। पर पदार्थोंका इसमें सम्बंध नहीं है। न आठों कर्मोंका न शरीरादि नो कर्मोंका न रागादि भाव कर्मोंका सम्बंध है। पुद्गल धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश व काल इनसे निराला है। संसारी और सिद्धका भेद आत्मामें नहीं है।

यह आत्मा एकेन्द्रियादि १४ जीव समास, मिथ्यात्वादि १४

गुणस्थान, गत्यादि १४ मार्गणाके विकल्पसे परे है। यह आत्मा परम निर्मल है। इसके ज्ञानमें सब जाननेयोग्य पदार्थ साक्षात् झलकते हैं, तो भी कोई विकार नहीं होता है। आत्माके तत्वको जो जानते हैं वही सम्यग्दृष्टी श्रावक तथा मुनि है। आत्मतत्वके ध्यानेसे आत्मानुभव प्रगट होता है।

भेदविज्ञानके द्वारा तत्वका गम्भीर विचार उत्पन्न होता है। जिसके मनन करनेसे आत्मानुभव प्रगट होता है। यह अनुभव ही सार वस्तु है। इसको पाकर संत पुरुष वीतरागभावसे आनंदका लाभ करते हैं। ज्ञानियोंका मूल मंत्र आत्मानुभव है। इसके प्रभावसे कर्मोंका आस्रव रुकता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है। मोक्ष-मार्गका यही खास तत्व है। आत्माके रसीकोंका वही आत्मरस है। अनादिकालकी तृष्णाके मिटानेको यही शीतल जलधारा है। आत्मा-आनंदके जो भूखे हैं उनके लिये यह परम अमृत भोजन है, संसार-रोगके शमनके लिये अपूर्व औषधि है, वीतरागतारूपी पवनके लेनेके लिये एक अपूर्व उपवन है, समता नारीसे मिलानेके लिये परम मित्र है, गुणरूपी रत्नोंका भण्डार है, भव आतापके शमनके लिये अपूर्व चन्द्र है।

आत्माको पुष्ट करनेके लिये दृढ़ रसायन है। परम मंगल स्वरूप है। आत्मा अनुभवके करनेवाले ही आत्माका विकाश करते हैं। यही एक कमल है जिसमें परमानंदकी सुगन्ध आती है। यही भाव निर्जरा है। इससे द्रव्य कर्मकी स्थिति घटती है और उनकी शीघ्र निर्जरा होजाती है।

२४६–आदाननिक्षेपण समिति विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका विचार कर रहा है । पांच समितियोंमें आदाननिक्षेपण समिति चौथी है । अहिंसाके पालनके हेतु इस व्यवहारकी आवश्यकता है कि किसी वस्तुके उठाने धरनेमें इस बातका पूरा ख्याल रखा जाय कि किसी प्राणीको पीड़ा न हो । अहिंसा ही धर्मका मुख्य झण्डा है । मन, वचन, कायसे भाव और द्रव्य हिंसाको टालनेका पूरा उद्यम करना चाहिये, क्योंकि कोई प्राणी क्लेश उठाना नहीं चाहता, इसलिये हमको अभयदान देकर उनकी रक्षा करनी चाहिये। जगतमें दया और प्रेम बहुत आवश्यक माननीय मानवी कर्तव्य है । महाव्रती साधुओंका तो मुख्य धर्म है कि पूर्ण अहिंसाको धारण करें; आरंभजनित हिंसा भी न करें । निश्चयसे अपने आत्मीक शुद्ध भावको ग्रहण करना, और राग द्वेषादिक विकल्पोंको त्यागना आदाननिक्षेपण समिति है। व्यवहारनयसे समितियां कही गई हैं । निश्चयनयसे आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं । आत्मा पूर्ण निराकुल ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अमूर्तीक पदार्थ है । इसका संयोग किसी भी परपदार्थसे नहीं है । इसमें कोई वर्णादि और रागादि भाव नहीं हैं । यह आठ कर्म व शरीरादि नोकर्मसे भिन्न है । आत्मा स्फटिक मणिके समान निर्मल है । इसमें सब द्रव्योंके गुण पर्याय एक ही साथ विना क्रमके स्पष्टतया भासते हैं, तो भी मनोज्ञ पदार्थ राग भाव और अमनोज्ञ पदार्थ द्वेष भाव नहीं पैदा करते । आत्माके तत्वको जो यथार्थ समझते हैं, वे ही सम्यग्ज्ञानी हैं । रत्नत्रयका एकीभाव उनको प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें स्वतंत्रता प्राप्त करनेकी यही विधि है ।

भूतकालमें बड़े महात्माओंने इसी आत्मतत्वको टोकर बालक यह आत्मानुभव प्राप्त किया था जिसके विना द्वादशांगका पाठ भी कार्यकारी नहीं है। इसीके द्वारा गुणस्थानोंमें उन्नति होती है, और कर्मोंका संवर और उनकी निर्जरा होती है। आत्मानुभवमें वीतरागतापूर्ण साम्यभाव झलक जाता है। जिससे साधकको साध्यकी सिद्धि करनेमें बड़ी सुगमता होती है। जैसे लवण विना व्यंजनोंका स्वाद नहीं आता, वैसे आत्मानुभव विना अन्य धर्मसाधनोंका स्वाद नहीं आता। यह ही भवसागरके पार होनेका जहाज है। इसमें कोई छिद्र नहीं है जिससे कर्मास्रव होसके। यह अमृत रसायन है, इसको पीनेवाले अमर होजाते हैं। भवबंधनोंको काटनेकी यह तेज छुरी है। स्वहितचिंतकोंको भेदविज्ञानपूर्वक आत्मानुभव प्राप्त करना चाहिये और सुखशांतिका लाभ करना चाहिये। यही भाव निर्जरा है, यही सार तप है। इसमें उत्तम क्षमा आदि दश धर्म गर्भित हैं। धर्मका मुख्य अंग यही है।

२४७–उत्सर्गसमितिविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है–पांचवीं समिति उत्सर्ग है। इसको पालते हुए साधु मलमूत्रादिको जन्तुरहित स्थानमें निक्षेपण करते हैं, जिससे प्राणियोंको पीड़ा न हो। अहिंसा धर्मका यह एक अंग है। अहिंसाका पालन हरएक मानवके लिये आवश्यक है। साधु महाव्रती होते हैं, इससे स्थावर और त्रस दोनों प्रकारके जन्तुओंकी रक्षा करना उनका परम कर्तव्य है। जगतमें हरएक प्राणी अपने जीवनकी रक्षा चाहता है। इसलिये हरएकका

कर्तव्य हरएककी रक्षा करना है। यद्यपि अहिंसामें वीतरागभाव गर्भित है, तथापि सरागभावसे प्राणियोंकी रक्षा करना दयाधर्म है, उसको भी अहिंसा कहते हैं। अहिंसा दो प्रकारकी है—भाव अहिंसा, द्रव्य अहिंसा। रागद्वेष मोहादि भावोंसे अपनी आत्माके शुद्ध भावोंकी रक्षा करना भाव अहिंसा है। इन्द्रिय आदि बाह्य प्राणोंकी रक्षा करना द्रव्य अहिंसा है। अन्तरङ्ग अहिंसा, बाह्य अहिंसाका कारण है। जहां भावहिंसा होती है, वहां द्रव्य हिंसा संभव है।

सब प्राणियोंमें उत्तम मनुष्य है, इस मनुष्यको अन्तरङ्गमें विश्व-प्रेम रखना चाहिये, और अपने पास जो मन वचन काय धन आदि सम्पत्ति हो उसको परके उपकारमें व्यय करना चाहिये। जो संपत्तिका संग्रह करते हैं, और तृष्णासे व्याकुल रहते हैं, वह अपने हिंसात्मक भावसे अपनी आत्माका बहुत बुरा करते हैं। पांचों समितियां प्राणी रक्षाके व्यवहारकी अपेक्षासे कही गई हैं। अपने आत्मासे रागादि परकीय भावोंका त्याग निश्चयसे उत्सर्ग समिति है। अपनी आत्माको शुद्ध रखनेका प्रयत्न करना अन्तरङ्ग समिति है। निश्चयनयसे आत्मामें उत्सर्ग समितिका कोई उपयोग नहीं है। क्योंकि निश्चयसे आत्मा विकल्प रहित और भेदभाव रहित है। यह आत्मा अखण्ड अविनाशी परम शांति और सुखका अथाह सागर है, जिसमें मुनिगण अवगाहन करते हैं तो भी उसका पार नहीं पाते हैं। आत्मा तत्व एक अद्भुत पदार्थ है। जिसके अनुभवमें यह आ जाता है, उसकी भव-बाधाएं शमन हो जाती हैं। आत्मतत्व एक मनोहर उपवन है, जिसमें अनंत-गुणरूपी वृक्ष शोभायमान हैं।

मुमुक्षु जीव ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंको भिन्न २ मनन करता है। फिर अखण्ड रूपसे अभेदमें लय होजाता है, तब स्वात्मानुभव प्रकाश करता है। इसके सूर्यके समान प्रकाशसे अन्तरङ्ग मोहकी सर्दी मिट जाती है, और धार्मिक बलका प्रभाव प्रगट होता जाता है। आत्मतत्त्वकी उपमा चंद्रमासे भी दे सकते हैं, क्योंकि एक समय मात्र अनुभवसे परमानंदमई अमृतका स्वाद आता है। आत्मानुभव परम निर्मल स्फटिकमणिके सदृश है, जिसमें आप ही द्रष्टा है, आप ही दृश्य है। अपनी ही परिणतिका दर्शन है। इसमें मोक्षमार्ग गर्भित है, क्योंकि यही भाव अनुभव होनेके योग्य है। आत्मानुभव एक ऐसा गुप्त किला है जिसके अन्दर परदेशियोंका गमनागमन नहीं है। आत्मा अपने स्वदेशमें तिष्ठा हुआ निर्भय रहता है, किसी प्रकारकी मानसिक इच्छाएं नहीं सताती हैं। आत्मा निर्मल सुख सिद्धान्तका सागर है, जिसकी अनन्तताका कोई पता नहीं जो अपना हित करना चाहे, उसको जैनसिद्धान्तके द्वारा आत्मतत्वको समझना चाहिये। जिसने आत्माको जान लिया उसने सब ही जान लिया। आत्मज्ञान ही भाव निर्जरा है। यही सार तप है। परका त्याग होना ही उत्सर्ग समिति है।

२४८—मनोगुप्तिविचयधर्मध्यान—निर्जराभाव।

ज्ञानी जीव कर्मोंके नाशका उपाय विचार कर रहा है। साधुओंके १३ प्रकार चारित्रमें तीन गुप्ति भी हैं। उनमेंसे प्रथम मनोगुप्ति है। मन संकल्प विकल्प किया करता है। उसको रोकना और अपने

आत्माके स्वभावमें लीन करना मनोगुप्ति है। यदि आत्म-स्वभावमें मन स्थिर न हो तो तत्त्वोंके विचारमें मनको लगा देना भी मनोगुप्ति है। क्योंकि अशुभ योगसे बचाना और शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोगमें रहना आवश्यक है। आदर्श मनोगुप्ति शुद्धोपयोगमें रहना है। मन दो प्रकारका होता है--भाव मन, और द्रव्य मन। भाव मन विचार करने रूप है। द्रव्य मन हृदय स्थानमें अष्ट पांखड़ीके कमलाकार है, जो सूक्ष्म मनोवर्गणाओंसे बनता है। तर्क वितर्क करके किसी वस्तुका निर्णय करना भावमनका काम है। मन सहित जीव ही मिथ्यादर्शनको हटाकर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति कर सकता है। जब आत्मामें मन स्थिर होजाता है, तो उपयोग स्वसंवेदनमय होजाता है। और संकल्प विकल्प मिट जाता है। मनोगुप्तिके धारी मुनि मोक्षमार्गमें उन्नति करते हुए कर्मोंकी निर्जरा करते हैं।

मनोगुप्तिके द्वारा सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और अन्तमें केवलज्ञान प्रकट होजाता है। मनोगुप्ति बड़ी उपकार करनेवाली है। इसीसे कर्मोंका संवर होता है। व्यवहारनयसे तीन गुप्तियोंका विचार होता है। निश्चयनयसे मनोगुप्तिका कोई निर्देश नहीं है, क्योंकि निश्चयसे आत्मा मन, वचन, कायसे अगोचर है। आत्मा एक स्वतंत्र, अविनाशी, अमूर्तीक पदार्थ है, जिसमें कोई गुणोंके भेद नहीं हैं। आत्मा अखण्ड, अभेद और निर्विकल्प है। यद्यपि अनेक गुणोंका समुदाय है, तथापि सर्व गुण एक दूसरेमें व्यापक हैं। आत्मतत्व ही सार वस्तु है। इसको जो समझते हैं, वही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी हैं, क्योंकि निश्चयसे आत्मा ही

सम्यक्दर्शन है, आत्मा ही सम्यक्ज्ञान है, आत्मा ही सम्यक्चारित्र है । जिनवाणीका सार आत्मज्ञान है; उसके विना व्यवहार ज्ञान और व्यवहार चारित्र कार्यकारी नहीं है ।

आत्मज्ञानी ही भवसागरसे पार होनेमें यथायोग्य उद्यम कर सकता है । आत्मज्ञानी आत्मरसिक होता है, और आत्मानुभव द्वारा आत्मीक आनंदके रसका पान करता है । आत्मज्ञानके सिवाय और कोई जीवका खेवटिया नहीं है । अल्प शास्त्र ज्ञानी भी आत्मज्ञानसे केवलज्ञानी हो जाता है । आत्मज्ञानसे बढ़कर भवरोगके शमनकी कोई औषधि नहीं, सर्व-संशयोंका मेटनेवाला आत्मज्ञान है । इसीसे आत्मा मोक्षमहलमें प्रवेश करता है । जहां किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती है-सदाके लिये निराकुलताका लाभ होजाता है ।

आत्मज्ञानसे ही आत्मानुभव प्राप्त होता है । आत्मानुभव ही क्षीरसमुद्रके समान आनंदरूपी अमृतका सागर है । इसमें ज्ञानीजन निरन्तर निमज्जन करते हैं और शांत रसका पान करते हैं । जहां मनोगुप्ति है, वहां ही आत्मानुभव है, वहां ही भावनिर्जरा है, वही सार तत्व है, इसका अनुभव तत्वज्ञानीको होता है ।

२४९-वचनगुप्ति विचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव ।

ज्ञानी जीव कर्मोके नाशका उपाय विचार कर रहा है । तीन गुप्तियोंमें वचनगुप्ति भी शामिल है । वचनोंको कहना बंद करके मौन रहना और अपने आत्माके विचारमें तन्मय रहना वचनगुप्ति है । यदि ध्यान न होसके, तो वैराग्यमयी भावोंका पढ़ना और विषयकषायोंसे

जिह्वाको बचाना वचनगुप्ति है। वचनोंका प्रयोग स्वपर हितकारी होना चाहिये। वचनगुप्तिकी शक्ति अपूर्व है। इससे अपने अन्तरङ्गके विचार दूसरोंको मनमें बिठाये जा सकते हैं और एक आदमी अपने वचनोंसे करोड़ोंका उपकार कर सकता है। उनको सत्य मार्ग बतला सकता है। अज्ञान अन्धकार मिटा सकता है। अवगुणोंको मिटाकर गुणोंमें परिवर्तन करा सकता है। मानवोंका भूषण वचन है। वचनोंसे मोक्षमार्गका प्रकाश पा सकता है। वचन भाषा वर्गणाओंसे बनता है। जो वर्गणाएं सर्वत्र भरी हुई हैं। वचन भाषात्मक और अभाषात्मक दो प्रकारके होते हैं। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंका व्यवहार भाषात्मक है। कोई प्रकारकी खास भाषा न होकर अपने भावको प्रकट करनेवाले वचन अभाषात्मक हैं।

वचनगुप्तिके द्वारा विकथाओंसे बचा रहता है। शान्तरसका प्रवाह अपने अन्तरंगमें प्रसारित होता है। वचनगुप्तिमें मनोबलकी पुष्टि होती है; और जगतमें सुव्यवस्थाका प्रचार होता है, जिससे जगतके मानव अपने व्यवहारको ठीक करते हैं। वचन पुद्गल कृत रचना है, आत्माके स्वभावसे भिन्न है। निश्चयनयसे आत्मा वचनोंकी प्रवृत्तिसे जुदा है। अपने स्वरूपमें स्वतन्त्र है। गुण पर्यायवान होनेपर भी निश्चयसे अभेद है, और निर्विकल्प है। आत्मस्वभावके ज्ञाता ही ज्ञानी महात्मा कहलाते हैं। उनहीको भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है। भेदविज्ञानसे स्वात्मानुभव होता है, जिससे आनन्दामृतका स्वाद आता है, गुप्त शक्तियोंका प्रकाश होता है; और आत्मा उन्नतिके मैदानमें दौड़कर बढ़ता जाता है।

यहांतक कि पूर्ण परमात्मा होजाता है, कृतकृत्य होजाता है, समस्त संसारके झगड़ोंसे निवृत्त होजाता है। आत्मानुभव परम उपकारी है। इसीसे श्रुतज्ञानका विकास होता है। पांचों ज्ञानमें श्रुतज्ञान ही केवलज्ञानका कारण है। निश्चयसे आत्मा पूर्ण ज्ञानका सागर है, इसकी महिमा अपार है, संत पुरुषोंका रमणक्षेत्र है। दर्शन ज्ञान चारित्रमय है। जो आत्मामें रत होते हैं, उनका अनादि संसार कट जाता है। परतंत्रताका नाश होकर स्वतन्त्रताका प्रकाश होजाता है। यही भाव-निर्जरा है।

२५०—कायगुप्तिविचय-धर्मध्यान, निर्जरामात्र।

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। तीन गुप्तियोंमें कायगुप्ति भी साधुओंका चारित्र है। ध्यानके समय कायसे ममत्व छोड़कर अपनी आत्मामें तन्मय रहना कायगुप्ति है। कायको संभाल कर स्वाधीन रखना और आसनकी दृढ़ता रखनेसे क्षुद्र प्राणियोंकी रक्षा रहती है। और अहिंसाधर्मका पालन होता है। अहिंसा ही मुख्य धर्म है। जिससे किसी प्राणीको बाधा न पहुंचे। इस तरह प्रमाद छोड़कर कायगुप्ति पालना मुख्य धर्म है। यह व्यवहारनयसे चारित्रका भेद है। निश्चयनयसे चारित्र एक वीतराग भाव है जो कषायोंके क्षयसे उत्पन्न होता है। यह आत्माका स्वभाव है। आत्मामें निश्चयनयसे कोई भेद नहीं है। आत्मा अभेद अखण्ड अविनाशी स्वतंत्र पदार्थ है। इसके महात्म्यके ज्ञाता सम्यग्दृष्टी होते हैं। यही मोक्षमार्गपर चलते हुये उन्नति करते हैं। आत्मा आनंदसागर है।

इसमें भव्य जीव अवगाहन करके अपनी शुचिता करते हैं। आत्माके पास कोई आस्रवकार नहीं है, जिससे कर्म आसके, नोकर्मका संचय होसके। कर्म नोकर्मका निर्माण पुद्गल द्रव्यसे होता है। पुद्गलका संबंध संसार है। पुद्गलद्रव्यको छोड़कर आत्मामें विश्राम करना ज्ञानी पुरुषोंका धर्म है। आत्मा एक अपूर्व किला है, जिसमें पर वस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मज्ञानसे आत्मिक अनुभवकी प्राप्ति होती है, आत्मानुभवमें भेदविज्ञान होजाता है। आत्मानुभव परम सार गुण है, जो भवरोगोंको शमन करता है। इसकी शक्ति अपार है। इसीसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है और आत्मा स्वभावमें निश्चल हो जाता है, सर्व आपत्तियोंका मूल कट जाता है, आत्माकी शक्ति विकसित हो जाती है, हमेशाके लिये आत्मा सुखी होजाता है। स्वतंत्रता पानेका उपाय यही है। द्वादशांगवाणीका यही सार है। आत्मा विलासियोंका क्रीड़ावन है। परमात्मा प्रकाशका उपाय है। यह निर्विकल्प तत्व मन वचन कायके अगोचर है, समताभावका सागर है, परम वीतराग भावका प्रकाशक है, धर्मवृक्षका मूल है और सच्चे सुखकी खान है।

ता० २१–१–४२] [ब्र० सीतलप्रसाद।

नोट—पूज्य ब्रह्मचारीजीका लखनऊमें लिखा गया यह अन्तिम लेख है। इसके बाद आप नहीं लिखवा सके थे और ता० १०–२–४४ को प्रातः काल लखनऊमें ही आपका स्वर्गवास हुआ था।